सिद्धान्तकौमुदी-विमलालोकः

वैयाकरण सिद्धान्तकौमुदी

प्रयोग-सूची

तृतीयखण्डम्

श्री जगदीशचन्द्रशास्त्री, 'शिरोमणि' एम्. ए.

सूत्र, वार्त्तिक, परिभाषा, जागदीशीभाषाविवृतिसहिता

वै० सिद्धान्तकौमुदी-प्रयोगसूची

पङ्क्तिचन्द्रिका, प्रश्नपत्रावली च

तृतीयखण्डम्

(शैषिकादि-जुहोत्याद्यन्तोभागः)

रचयिता व सम्पादकः—

श्रीजगदीशचन्द्रशास्त्री, 'शिरोमणि' एम्. ए.

व्याकरणाचार्य, साहित्याचार्य, साहित्यरत्न,

प्रधानाचार्य, श्री टीकमाणी सं. कालेज,

एवं

साहित्यविभागाध्यक्ष, श्री नित्यानन्दवेदमहाविद्यालय,

(डी. ए. वी. डिग्रीकालेज,) वाराणसी

प्रकाशक

मोतीलाल बनारसीदास

पटना वाराणसी दिल्ली

प्रथमावृत्तिः
सं० २०१८ वि०

मूल्यम् ... सा

श्री गुरुःशरणम्

आमुखम्

प्रस्तुत-पुस्तक, वै० सिद्धान्तकौमुदी के शैषिकादिजुहोत्यादिपर्य्यन्त भाग का प्रयोगानुसारिव्याख्यानस्वरूप है। वाराणसेय सं० विश्वविद्यालयकी पाठ्य-नियमावली के आधारपर इसे तृतीयखण्ड माना गया है। इसके पूर्व द्वितीय-खण्ड,–(कारकादिचातुरर्थिकपर्य्यन्त) जो लेखक द्वारा आप को सेवा में अर्पित हो चुका है—को संस्कृतजगत् ने इतना अधिक अपनाया है कि, उसके अग्रिम संस्करणकी शीघ्र व्यवस्था करनी होगी।

वै० सिद्धान्त-कौमुदी का पठन-पाठन विभिन्नविश्वविद्यालयों की मध्यमा, शास्त्री, एम. ए. आदि परीक्षाओं में अनिवार्यरूप से होता है। संस्कृतभाषा में साधिकार दक्षताप्राप्ति के लिए इसका अध्ययन उतना ही आवश्यक है जितना कि, 'जीवन के लिये जल'।

आज के युग में जब कि, संस्कृतिकी ओर सर्वसाधारण की प्रवृत्ति जागृत हो गई है, संस्कृतविद्याचक्रव्यूह के प्रथमद्वार व्याकरण का ज्ञान सरलतम रीति से प्राप्त करना आवश्यक हो गया है।

संस्कृतव्याकरण के सर्वाधिकसफलपाठक एवं विश्वविश्रुत महावैयाकरण पूज्यगुरुवर स्वर्गीय श्री देवनारायण त्रिपाठी के यशस्वी शिष्य, पूज्यपितृदेव स्व. श्रीरामदत्तजी मिश्र व्याकरणाचार्य ने जो सुगम रीति वै० सिद्धान्त-कौमुदी के पठन पाठन की आविष्कृत की थी, उसी के आधारपर प्रस्तुतपुस्तक लिखी गई है। यह मेरी छात्रावस्था से ही कामना थी कि, सिद्धान्तकौमुदी की कठिनता को लेकर जो भीति व्याप्त है उसे दूर किया जाय, और ग्रन्थ का प्रामाणिक व्याख्यान प्रस्तुत किया जाय।

मैं इन छोटी-छोटी पुस्तिकाओं के द्वारा, मेरे पूज्य-पितृदेव ने अपने ज्येष्ठ एवं कनिष्ठ सतीर्थ्य म० मा० श्री बलदेवदत्तजी, म० मा० श्री श्रीदत्तजी के साथ शिष्यप्रशिष्यों तक प्रसारित कर व्याकरणविषयक, जिज्ञासु-हृत्कमल-विकासी

जिस ज्ञानभानु से जगत् को उपकृत किया है, उसका पूर्णप्रकाश तो नहीं ही दे सकता। और यह सर्वथा असम्भव भी है कि, जिन दत्तान्त आचार्यों के विषय में विद्वानों की यहाँ तक आस्था हो कि :—

'वादप्रथाप्रथनलब्धमहोज्वलाभा,
सिद्धान्तबोधनपराऽखिलशास्त्रसिद्धा।
शिष्यप्रशिष्यसुसमाहितशब्दविद्या,
दत्तत्रयी जगति भाति मुनित्रयीव॥'

उनकी वैदुष्यसरिताकी समस्तधाराएँ आपको इन लघुकाय-पुस्तक प्रणालिकाओं में दृष्टिगोचर हो सके तो भी, आप इन पुस्तिकाओं से परीक्षा में श्रेष्ठसफलता और विषय का प्रौढज्ञान एक साथ प्राप्त कर सकते हैं।

इस तृतीयभाग में लगभग २२०० प्रयोग, और अर्धशत-पङ्क्ति-स्थलों का सरल राष्ट्रभाषा में व्याख्यान दिया गया है। इस ग्रन्थ के निकट रहने से व्याकरण का छात्र गुरु से द्वीपान्तरदूर होने पर भी, सिद्धान्त-कौमुदी का अभिज्ञ हो सकता है। जिन वन्धुओं का अध्ययनकाल समाप्त हो चुका है, उनके लिए विद्यासंजीवनी का कार्य करनेवाली प्रस्तुतपुस्तक के निर्माण की प्रेरणा मुझे श्री टीकमाणी संस्कृत कालेज वाराणसी के संचालकों, और विश्व-व्याख्यात-पुस्तकव्यवसायी विद्वज्जन-मिहिर-पूर्वाचल श्री मोतीलाल वनारसीदास वाराणसी के व्यवस्थापकों से प्राप्त हुई, अतः मैं अपने साथ समस्त संस्कृत समाज को इनका चिर आभारी मानता हूँ।

ग्रन्थाकारविस्तृति के भय से प्रत्येकस्थल पर अतीव संक्षेप किया गया है, जिससे आपाततः विषय समझने में कठिनाई हो सकती है, फिर भी मनन-पूर्वक पुस्तकावलोकन-कर्त्ताओं को पद-पद पर सन्तोष की ही आशा है।

इस पुस्तक के साथ फक्किकालेखनकला के ज्ञान के लिए 'पङ्क्ति चन्द्रिका' का कुछ भाग और परीक्षोत्तीर्णता के लिए आवश्यक प्रश्नशैलीज्ञान के लिए वाराणसेय-संस्कृत-विश्वविद्यालय की परीक्षाओं में पूछे गए प्रश्न-पत्रों का संग्रह 'प्रश्नपत्रावली' नाम से दिया गया है। इन सब प्रयासों से

संस्कृत प्रेमियों की कुछ भी सेवा हो सकी तो, मैं अपने परिश्रम को पूर्ण सफल मानूँगा।

त्रुटियों के लिए उद्बोधन की अभ्यर्थना करता हुआ श्रीपूज्यपितृचरण-लघुस्मारकस्वरूप-प्रस्तुतपुस्तक स्नेह और श्रद्धा के साथ वैयाकरणपाठकों को समर्पित करता हूँ।

प्रयोगयुगविख्याता योगोद्बोधकारिणी।
योग्यतापादकर्त्रीयं भूयात्प्रयोगसूचिका॥
कौमुदीविमलालोक श्छात्रकुमुदमोदकः।
मुदे भवतु सर्वस्य प्रीयतां कुमुदेक्षणः॥

जगदीश भवन
ब्रह्मनाल, वाराणसी
महाशिवरात्रि
२०१८ वि०

विद्वच्चरणचञ्चरीक-
जगदीशचन्द्रशास्त्री 'शिरोमणि'

सहायक-ग्रन्थ-सूची

(लेखकनाम सहित)

१ लघुशब्देन्दुशेखर	म. म. नागेशभट्ट
२ वै. भूषणसार	म. म. कौण्डभट्ट
३ शब्दकौस्तुभ	म. म. भट्टोजिदीक्षित
४ सिद्धान्तेन्दु	म. मा. रामदत्त मिश्र

प्रकरण-सूची

श्रीजगदम्बा शरणम्

सिद्धान्त-कौमुदी-विमलालोकः

स-साधनिका

सूत्र, वार्त्तिक, परिभाषा, जागदीशीभाषाविवृत्ति सहिता

वै० सिद्धान्तकौमुदी-प्रयोगसूची

पङ्क्तिचन्द्रिका, प्रश्नपत्रावली च

तृतीयखण्डम्

चरणानतलोकासौ लोकेशाङ्कनिवासिनी ।
निजाङ्कधृतविघ्नेशा विघ्नव्यूहं व्यपोहतु ॥१॥

अथ शैषिकप्रकरणम्

चाक्षुषं रूपम् ,—(चक्षुषा गृह्यते) श्रावणः शब्दः,–(श्रवणेन गृह्यते) औपनिषदः—पुरुषः (उपनिषदा गृह्यते) दार्षदाः सक्तवः,–(दृषदि पिष्टाः) औलूखलो यावकः,–(उलूखले क्षुण्णः,) आश्वो रथः (अश्वैरुह्यते) चातुरं-शकटम्,—(चतुर्भिरुह्यते) चातुर्दशं रक्षः,—(चतुर्दश्यां दृश्यते) 'शेषे' सूत्र से निर्दिष्टार्थों में अण् होता है । तद्धितान्त होने से प्रातिपदिक संज्ञा और प्रातिपदिक होने से सुपो धातु० द्वारा अवान्तर विभक्तिलुग्वन्तात्तद्धितोत्पत्तिः—सिद्धान्तानुसार। का लुक् और समुदाय से विभक्त्युत्पत्ति, एवं तन्निमित्त तदाश्रित कार्य (लिङ्ग

वचनानुसार) होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'अण्' णित् है, अतः 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदि अच् को सर्वत्र वृद्धि होती है। 'शेषे' सूत्र 'तस्यापत्यम्' से 'अदूरभवश्च' तक के अर्थनिर्देशक सूत्रों द्वारा निर्दिष्ट अर्थों में स्वयं प्रत्ययविधायक है, और तस्यविकारः (४।३।१२४) तक के प्रत्ययविधायक शास्त्रों में सम्बन्धित (अधिकार क्रमसे) होकर उन्हें अपत्यादि चातुरर्थ्यन्त अर्थों से भिन्न अर्थों में ही प्रत्ययविधान के लिए नियन्त्रित भी करता है। अतएव मूलमें अंकित किया है:—'शेष' इति लक्षणञ्चाधिकारश्च'। यहाँ कुछ विद्वानों ने यह आशङ्का की कि, 'शेषे' सूत्रको लक्षण (विधि) मानने की कोई आवश्यकता नहीं। चाक्षुषं और दार्षदः आदि प्रयोगों की सिद्धि क्रमशः 'तस्येदम्' और 'संस्कृतं भक्षा' सूत्रों से हो जायगी। इसी तरह उक्त सूत्र को अधिकार सूत्र मानने की भी आवश्यकता नहीं। कारण, अधिकार के २ ही प्रयोजन हो सकते हैं,—१ तो घादि ख्युख्युलन्त प्रत्ययों की अपत्यादि चतुरर्थ पर्यन्त अर्थों में अप्रवृत्ति, और २ रे 'जातः' 'भवः' आदि समस्त अर्थों का संग्रह। जिसके फलस्वरूप घादि प्रत्यय 'जातः' 'भवः' आदि समस्त शैषिक अर्थों में साधु स्वीकार किए जाते हैं। अन्यथा सन्निहित 'जातः' अर्थ में ही घादि होते, असन्निहित 'भवः' आदि अर्थों में नहीं। ये दोनों प्रयोजन क्रमशः आर्द्रक शाला शब्द का उत्करादि में पाठ से ज्ञापित प्राचीन अर्थों में घादि की अप्रवृत्ति रूप व्यवस्था से, और जाताधिकार से पूर्व घादि प्रत्ययों के विधान से बोधित समस्त सन्निहितासन्निहित अर्थों में घादि प्रत्ययों की प्रवृत्तिरूप व्यवस्था से, अन्यथासिद्ध हैं।

उक्त आशंका का सैद्धान्तिक उत्तर यह है कि—'शैषिकान्मतुवर्थीयाच्छैषिको मतुवर्थिकः। सरूपः प्रत्ययो नेष्टः सन्नन्तान्न सनिष्यते'। (श्लोक वार्त्तिकवाभाष्य) से बोधित नियम को ज्ञापित एवं व्यवस्थित करने के लिए, तथा उक्त ज्ञापक (आर्द्रकशाला शब्द का उत्करादि में पाठ) के विशेषापेक्ष (आर्द्रकादि को यदि छ हो तो चातुरर्थिक अर्थों में ही) होने से अपत्याद्यर्थों में घादि प्रत्ययों की अप्रवृत्ति के लिए भी अधिकार रूप से 'शेषे' सूत्र की आवश्यकता है। इसी तरह 'चाक्षुषम्' आदि प्रयोगों में विशेषार्थ (चक्षु से गृहीत

होने वाला) प्रतीति के लिए लक्षण रूप से (विधि) भी उक्त सूत्र की नितान्त आवश्यकता है।

राष्ट्रियः,—(राष्ट्रे जातः) अवारपारीणः, (अवारपारेभवः) 'राष्ट्रावारपाराद्घखौ' से क्रमशः 'घ' और 'ख' होते हैं। 'घ्' को इय्। 'ख्' को 'ईन्'।

अवारीणः, पारीणः, पारावारीणः,—(अवारे, पारे, पारावारे वा जातः) 'अवारपाराद्विगृहीतादपि विपरीताच्चेति वक्तव्यम्' (वा.) की सहायता से पूर्वसूत्र द्वारा 'ख' होता है। यहाँ से ट्युटयुल् प्रत्यय तक के सूत्र प्रकृति निर्देश मात्र करेंगे। अर्थ और विभक्ति का निर्देश 'तत्र जातः' आदि से आगे किया जायगा।

ग्राम्यः, ग्रामीणः —(ग्रामे जातः) 'ग्रामाद्यखञौ' से क्रमशः 'य' और 'खञ्' प्रत्यय होते हैं। यस्येति च। 'ख्' को ईन्। णत्व।

कात्त्रेयकः—(कुत्सितास्त्रयः कत्त्रयस्तत्र जातः) नागरेयकः (नगरे जातः) 'कत्त्र्यादिभ्यो ढकञ्' से 'ढकञ् होता है। 'ढ्' को एय्। आदिवृद्धिः। प्रथम प्रयोग में इसी सूत्र के निपातन से 'कु' को कदादेश भी होता है।

कौलेयकः—श्वा, (कुले जातः) कौक्षेयकः—असिः,–(कुक्षौ भवः) ग्रैवेयकः, —अलंकारः (ग्रीवायां साधुः) 'कुलकुक्षिग्रीवाभ्यः श्वास्यलङ्कारेषु' से ढकञ् होता है। 'ढ्' को एय्। आदिवृद्धि। अन्यत्र औत्सर्गिक अण् होने से कौलः, कौक्षः, और 'ग्रैवः' प्रयोग ही साधु स्वीकार किये जाते हैं।

नादेयम् , माहेयम् , वाराणसेयम् ,—(नद्यां जातम् आदि) 'नद्यादिभ्यो ढक्' से ढक् होता है। 'यस्येति च' से ई लोप। 'ढ्' को एय्। 'किति च' से आदिवृद्धि।

दाक्षिणात्यः,(दक्षिणा भवः) पाश्चात्यः,(पश्चाद्भवः) पौरस्त्यः, (पुरो भवः) 'दक्षिणापश्चात्पुरसस्त्यक्' से तीनों अव्ययों से 'त्यक्' प्रत्यय होता है। 'किति च' से आदिवृद्धि।

कापिशायनं—मधु, (कापिश्यां जातादि) 'कापिश्याः ष्फक्' से 'ष्फक्' होता है। 'फ्' को आयन्। षित् होने से कापिशायनी (द्राक्षा) में ङीष् होता है।'

राङ्कवो—गौः—(रङ्कवे तन्नाम्नि जनपदे भवः) 'रङ्कोरमनुष्येऽण् च

से 'अण्' होता है। चकारात् पक्ष में ष्फक् भी होता है। राङ्क्वायणः। मनुष्य अर्थ में 'राङ्क्वकः' कच्छादिपाठसामर्थ्यात् वुञ्। यहाँ मुख्य उदाहरण में एक दूसरे को बाधकर निम्नांकित सूत्रों की क्रमशः प्राप्ति थी—'प्राग्दीव्यतोऽण् अवृद्धादपि०' (वुञ्) ओर्देशे (ठञ्) 'कोपधादण्' कच्छादित्वात् (अण्)।

दिव्यम्, (दिवि जातम्) प्राच्यम्, (प्राग्भवम्) अपाच्यम्, उदीच्यम् प्रतीच्यम्,: (अपाग्-दक्षिणस्यां दिशि-भवम् आदि) 'द्युप्रागपागुदक्प्रतीचो यत्' से यत् होता है।

कान्थिकः,—(कन्थायां जातः) 'कन्थायाष्ठक्' से ठक् होता है। 'ठस्येकः'। 'यस्येति च' से आलोप। 'किति च' से आदिवृद्धि।

कान्थकम्:—(कन्थायां जातम्) 'वर्णौ वुक्' से (वर्णुनामक नद के समीपवर्त्ती देश विषय–अर्थ वाची कन्था शब्द से) वुक् होता है। 'वु' को अक्। आदिवृद्धि।

अमात्यः,—(अमा–अन्तिके-भवः) इहत्य, क्वत्यः, ततस्त्यः, तत्रत्यः, (इह भवः) अमेहक्वतसित्रेभ्य एव (वा.) से परिगणित अव्ययों से 'अव्ययात्त्यप्' सूत्र द्वारा जातादि अर्थों में 'त्यप' होता है। परिगणन के कारण औपरिष्टः—(उपरिष्टाद् भवः) में त्यप् नहीं होता है। अण् होता है। अव्ययानां भमात्रे टिलोपः से टिलोप होता है। यह टिलोप अनित्य है। (वहिषष्टिलोपः—से वहिष् अव्यय के टिभाग का लोप विधान से) अत एव, आरातीयः, (आराद्भवः) में टिलोप नहीं होता है।

नित्यः,—(निर्भवः) त्यब्नेर्ध्रुव इति वक्तव्यम् (वा.) से ध्रुव अर्थ में 'त्यप्' प्रत्यय होता है।

निष्ट्यः—(निर्गतो वर्णाश्रमेभ्यः) 'निसो गते' (वा.) से त्यप् होता है। 'ह्रस्वात्तादौ तद्धिते' से 'निस्' के स् को ष् होता है। ष्टुनाष्टुः से ष्टुत्व।

आरण्याः—सुमनसः–(अरण्ये भवाः) 'अरण्याण्णः' से 'ण' होता है। आदिवृद्धि। अलोप।

दूरेत्यः, (दूरेभवः) 'दूरादेत्यः' से 'एत्य' प्रत्यय होता है। अलोप। विभक्ति कार्य।

औत्तराहः— उत्तरे जातः) 'उत्तरादाहञ्' (वा.) से 'आहञ्' प्रत्यय होता है। आदिवृद्धि।

ऐषमस्त्यम्, ह्यस्त्यम्, श्वस्त्यम्, (एषमो जातमादि) 'एषमोह्यः श्वसोऽन्यतरस्याम्' से 'त्यप्' प्रत्यय विकल्पेन होता है। पक्ष में सायं चिरं० से 'ट्यु' और ट्युल् होने से ऐषमस्तनम्, ह्यस्तनम्, और श्वस्तनम् भी साधु स्वीकार किए जाते हैं। तृतीय प्रयोग का पाक्षिक रूप शौवस्तिकम् ('श्वसस्तुट् च' से ठञ् और तुट्। 'द्वारादीनां' च से ऐजागम) भी होता है।

काकतीरम्, पाल्वलतीरम्—(काकतीरे जातादि) शैवरूप्यम्, (शिव रूप्ये जातादि) 'तीररूप्योत्तरपदादञ्ञौ' से तीरोत्तरपदक से अञ् और रूप्योत्तरपदक से 'ञ' प्रत्यय होता है। आदिवृद्धि। अलोप। अन्त शब्द का सूत्र में प्रयोग न करके उत्तरपद शब्द का प्रयोग इस लिए किया गया है कि, बहुच् प्रत्यय पूर्वक बहुरूप्य से ञ न होकर अण् होता है। स्वर में भेद है।

पौर्वशालः— पूर्वस्यां शालायां भवः) तद्धितार्थ० से समास होने पर 'दिक्पूर्वपदादसंज्ञायां ञः' से 'ञ' होता है। अलोप। पुंवद्भाव। आदिवृद्धि। संज्ञावाचक पूर्वेषुकामशमी शब्द से औत्सर्गिक 'अण्' ही होता है पूर्वैषुकामशमः। 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' से उत्तर पदके आदि अच् को वृद्धि होती है।

पौर्वमद्रः, आपरमद्र,—(पूर्वमद्रेषु भवः आदि) 'मद्रेभ्योऽञ्' से अञ् होता है। 'दिशोऽमद्राणाम्' सूत्र में अमद्र शब्द द्वारा मद्र का परित्याग होने से, उत्तर पद को वृद्धि न होकर यथानियम पूर्वपद के आदि अच् को ही वृद्धि होती है। मद्रदेश के एक भाग के लिए मद्र शब्द प्रयुक्त होने से 'तद्धितार्थ' से पूर्व, और मद्र का समास होता है।

शैवपुरम्,—(शिवपुरे जातादि) 'उदीच्यग्रामाच्च बह्वचोऽन्तोदात्तात्' से 'अञ्' होता है। अलोप। आदिवृद्धि। विभक्ति कार्य।

माहिकिप्रस्थः—(माहिकिप्रस्थे जातादि) पालदः, (पलद्यां जातादि) नैलीनकः—(निलीनके भवः) 'प्रस्थोत्तरपदपलद्यादिकोपधादण्' से अण् होता है। आदिवृद्धि। पलदी के ईकार का 'यस्येति च' से लोप। यह अण् उदीच्य ग्राम० से प्राप्त अञ् का अपवाद है।

काण्वाः,—(काण्व्यस्य छात्राः) 'कण्वादिभ्यो गोत्रे' से 'अण्' होता है। आपत्यस्य० से यलोप।

दाक्षा :— दाक्षेश्छात्राः) 'इञश्च' से गोत्रार्थक इञन्त से अण् होता है। इलोप। गोत्रे किम्, सौतङ्गमीयम् (सौतङ्गमेरियम्) चातुरर्थिक इञन्त होने से अण् न होकर 'छ' प्रत्यय होता है। यहाँ गोत्र शास्त्रीय लिया गया है, लौकिक नहीं (व्याख्यान से) अतः पाणिनि (पणनं पणः, सोस्यास्तीति पणी, तस्य गोत्रापत्यं पाणिनः, तस्य युवापत्यं पाणिनि) शब्द से, पाणिनेश्छात्राः विग्रह में) छ' ही होता है। पाणिनीयम्। अण् नहीं।

प्राष्ठीयाः, काशीयाः, (प्राष्ठेश्छात्राः) 'इञश्च' से प्राप्त अण् का 'नद्वयचः प्राच्यभरतेषु' से निषेध होने से 'छ' प्रत्यय होता है। 'छ्' को ईय्। भरतों की प्राच्यों में गणना होने पर भी, पृथगुपादान से अन्यत्र 'इञः प्राचाम्' आदि स्थलों में प्राच्य शब्द से भरतों का ग्रहण नहीं होता है।

शालीयः, मालीयः, तदीयः, (शालायां भव आदि) 'वृद्धाच्छः' से 'छ' प्रत्यय होता है। 'छ्' को ईय्। आलोप। शाला और माला की 'वृद्धिर्यस्याचामादिस्तद्वृद्धम्' से वृद्ध संज्ञा होती है, तथा 'तद्' शब्द की 'त्यदादीनि च' से वृद्ध संज्ञा होती है!

एणीपचनीयः, गोनर्दीयः, भोजकटीयः, (एणीपचनाख्यदेशे जातादिः) 'एङ् प्राचां देशे' से एणीपचन आदि की वृद्ध संज्ञा होती है, और 'वृद्धाच्छः से छ। यह वृद्ध संज्ञा विकल्प से होती है, अतः पक्ष में 'शेषे' से अण् होकर ऐणीपचनः, गौनर्दः, और भौजकटः प्रयोग भी साधु स्वीकार किए जाते हैं। आद्यच् के 'एङ्' होने से सूत्र प्रवृत्त होता है, अतः—अहिच्छत्र और कान्यकुब्ज (अनेङन्त देशवाचक) शब्दों से जातादि अर्थ में औत्सर्गिक अण् ही (वृद्ध न होने से) होता है।

देवदत्तीय, दैवदत्तः, (देवदत्तो भक्तिरस्य) 'वानामधेयस्य वृद्धसंज्ञा वक्तव्या (वा०) से देवदत्त की विकल्पेन वृद्ध संज्ञा होती है। वृद्धसंज्ञा पक्ष में 'वृद्धाच्छः' से 'छ' होता है, अन्यत्र औत्सर्गिक अण्।

भावत्कः, भवदीयः, (भवतोऽयम्) 'भवतष्ठक् छसौ' से क्रमशः ठक् और छस् होता है। इसुसुक्तान्तात्० से ठ को क होता है। आदिवृद्धि। द्वितीय प्रयोग में 'सिति च' से पद संज्ञा होने से जश्त्व होता है। 'छ' को इय्। वृद्ध (आकारादि) भवत् (सर्वनाम-त्यदादि) से उक्त प्रत्यय विहित होते हैं, अतः शतृप्रत्ययान्त (अत्यदादि) भवत् से औत्सर्गिक 'अण्' ही होता है। भावतः।

काशिकी, काशिका, (काश्या इयम् भवा, वा) वैदिकी, वैदिका:— (वेदस्येयम्) 'काश्यादिभ्यष्ठञ् ञिठौ' से 'ठञ्' और 'ञिठ्' प्रत्यय होते हैं। 'ञिठ्' में इकार उच्चारणार्थ है। 'ठ' को इक्। 'ठञ्' पक्ष में 'टिड्ढाणञ्'० से ङीप् होता है। 'ञिठ् पक्ष में टाप्। आदिवृद्धि उभयत्र समान है।

आपत्कालिकी, आपत्कालिका :—(आपत्काले जातादि) आपदादि पूर्वपदात्कालान्तात्, से 'ठञ्' और ञिठ प्रत्यय होते हैं। प्रक्रिया पूर्ववत्।

कास्तीरिकी, कास्तीरिका,:—(कास्तीरे वाहीकग्रामे-जातादि) 'वाहीक ग्रामेभ्यश्च' से ठञ् और ञिठ प्रत्यय 'छ' को बाधकर होते हैं। शेष कार्य पूर्ववत्।

सौदर्शनिकी, सौदर्शनिका, सौदर्शनीया,:—(सौदर्शने--तन्नामक ग्रामे-जातादि) 'विभाषोशीनरेषु' से 'ठञ्' और 'ञिठ' विकल्प से होते हैं। पक्ष में औत्सर्गिक 'छ' (वृद्धाच्छः) होता है।

निषादकर्षूकः, —(निषादकर्षूर्नामा देशस्तत्र भवः) 'ओर्देशेठञ्' से ठञ् होता है। इसुसुक्० से 'ठ' को क। 'केऽणः' से ह्रस्व। देशवाचकातिरिक्त पटु (गुणवाचक) आदि शब्दों से औत्सर्गिक अण् होता है। पाटवाः (पटोश्छात्राः) पूर्वसूत्र (काश्यादि०) में 'ञिठ' सन्नियोगशिष्ट ठञ् है अतः 'ञिठ' की व्यावृत्ति के लिए प्रकृतसूत्र में स्वतन्त्र 'ठञ्' ग्रहण किया गया है।

दाक्षिकर्षुकः, —(दाक्षिकर्षूर्नामा देशस्तत्र जातादि) 'वृद्धाच्छः'को परत्वात्—बाधकर 'ओर्देशेठञ्' से 'ठञ्' होता है। इसुसुक्० से क। केऽणः से ह्रस्व।

आढकजम्बुकः, शाकजम्बुकः,—(आढकजम्बुर्नामा देशस्तत्र जातादिः) 'वृद्धात्प्राचाम्' से 'ठञ्' होता है। इसुसुक्० से क।

माल्लवास्तवः,—(मल्लवास्तुर्नाम देशस्तत्रभवः) 'ओर्देशे' से ठञ् प्राप्त थाही, पुनः कृत 'वृद्धात्प्राचाम्' सूत्र 'प्राग्देशवाची से ठञ् होतो वृद्ध से ही हो' नियमार्थ है। अतः उक्त प्रयोग में अवृद्ध होने से ठञ् न होकर 'शेषे' से अण् होता है। ओर्गुणः। अवादेश।

ऐरावतकः,—(ऐरावतं-धन्व-तत्र जातः) सांकाश्यकः, काम्पिल्यकः,—(साङ्काश्ये जातः) 'धन्वयोपधाद्वुञ्' से वुञ् होता है। 'युवोरनाकौ' से 'वु' को अक होता है। आदिवृद्धि।

मालाप्रस्थकः, नान्दीपुरकः, पैलुवहकः,—(मालाप्रस्थे जातादिः) 'प्रस्थपुरवहान्ताच्च' से वुञ् होता है। 'वु को अक। सूत्र में पुर (अन्त) ग्रहण प्राग्देशवाचियों से 'रोपधेतोः प्राचाम्' से सिद्ध होने के कारण अप्रागर्थ है।

पाटलिपुत्रकः,—(पाटलिपुत्रे जातः) काकन्दकः,—(काकन्द्यां जातः) 'रोपधेतोः प्राचाम्' से वुञ्' होता है। 'वु' को अक। 'यस्येति च' से 'अ' 'ई' लोप। विभक्तिकार्य।

आदर्शकः, त्रैगर्त्तकः,—(आदर्शे, त्रिगर्तेषु च भवः) 'जनपदतदवध्योश्च' से वुञ् होता है। वहाँ तदवधि (सचासाववधिश्च) से जनपद रूप अवधि लिया गया है। यद्यपि जनपदत्वेनैव उसमें (त्रिगर्त्तादिमें) सिद्ध है, तथापि वुञ् (अवृद्धादपि० से) हो अन्य 'छ' (गर्तोत्तरपदात् से) नहो इसलिए तदवधि ग्रहण है। वस्तुतः 'तदवधि' का उदाहरण 'श्यामायनकः' है।

आङ्गकः,—(अङ्गेषु जातः) आजमीढक, दार्वकः, कालञ्जरकः,—'अवृद्धादपि बहुवचनविषयात्' से क्रमशः अवृद्ध जनपद, अवृद्ध जनपदावधि, वृद्धजनपद, और वृद्धजनपदावधिवाचक उक्त शब्दों से 'वुञ्' होता है।

विषयग्रहणं किम् वार्तनः,—(वर्तनीच २ वर्तन्यस्तासु भवः) पूर्व सूत्र में विषय (बहुवचनविषयात्) ग्रहण के फल स्वरूप एकशेष द्वारा बहुवचनान्त उक्त शब्दों से वुञ् नहीं होता है। शैषिक अण् ही होता है।

दारुकच्छकः, काण्डाग्नकः, सैन्धुवक्त्रकः, बाहुवर्त्तकः—(कच्छाग्नि-वक्त्रवर्तोत्तरपदात्) से वुञ होता है। 'वु'को अक।

धौमकः, तैर्थकः,–(धूमदेशे जातः) 'धूमादिभ्यश्च' से 'वुञ्' होता है। आदिवृद्धि।

नागरिकः—चौरः शिल्पी वा, (नगरे भवः) 'नगरात्कुत्सन प्रावीण्ययो.' से 'वुञ्' होता है। 'वु' को अक। आदिवृद्धि। यह वुञ् निन्दा, और प्रवीणता (चतुरता) अर्थ बोधित होने पर ही होता है। अन्यथा अण्, नागरा ब्राह्मणाः, आदि प्रयोगों में होता है।

आरण्यकः,–(अरण्ये भवः) 'अरण्यान्मनुष्ये' से अरण्याणः' को बाधकर 'वुञ्' होता है। यह 'वुञ्' 'पथ्यध्यायन्यायविहारमनुष्यहस्तिष्विति-वाच्यम्'(वा.) द्वारा निर्धारित व्यवस्थानुसार वार्त्तिक पठित अर्थों में ही होता है।

आरण्यकाः, आरण्या, वा गोमयाः,—(अरण्ये भवाः) 'वा गोमयेषु' (वा.) से विकल्पेन 'वुञ्' होता है। पक्ष में 'ण' होता है।

कौरवकः, कौरवः, यौगन्धरकः, यौगन्धरः, (कुरुषु भवः) 'विभाषा कुरुयुगन्धराभ्याम्' से वैकल्पिक 'वुञ्' होता है। पक्षमें 'कच्छादिभ्यश्च' से अण् होता है।

मद्रक, वृजिकः,—(मद्रेषु जातः) 'मद्रवृज्योः कन्' से जनपद० से प्राप्त 'वुञ्' को बाधकर कन् होता है।

माहिषिकः,–(महिषिकाख्ये जनपदे भवः) 'कोपधादण्' से अण् होता है। आदिवृद्धि।

काच्छः, सैन्धवः,–(कच्छाख्यदेशे जातः) 'कच्छादिभ्यश्च' से प्रथम प्रयोग में जनपद० वुञ् को तथा द्वितीय में ओर्देशे से प्राप्त 'ठञ्' को बाध-कर अण् होता है। आदिवृद्धि। ओर्गुणः। अवादेश।

काच्छको मनुष्यः,—(कच्छे जातादिः) काच्छकं हसितम्,—'मनुष्यतत्स्थयोर्वुञ्' से कच्छादि० अण् को बाधकर वुञ् होता है। यह वुञ् कच्छ-देशवासी मनुष्य और मनुष्य में स्थित हसितादि अर्थों में होता है। अन्यत्र काच्छो गौः। 'कच्छादिभ्यश्च' से अण् होता है।

साल्वको ब्राह्मणः, (साल्वे भवः) 'अपदातौ साल्वात्' से 'वुञ्' होता है। मनुष्यतत्स्थयोः० से सिद्ध होनेपर पुनः वुञ् विधान साल्व शब्द से

अपदाति अर्थ में ही होता है, नियमार्थ है। अतः 'साल्व:पदातिर्व्रजति में गौ
'अण्' ही हुआ।

साल्वको गौः, साल्विका यवागूः, (साल्वे जातः) 'गोयवाग्वोश्च' से
कच्छादि० अण् को बाध कर वुञ् होता है। गो और यवागू से भिन्न अर्थ में
'अण्' 'साल्वम्' होता है।

वृकगर्तीयम् (वृकगर्ताख्यदेशेजातादि) 'गर्तोत्तरपदाच्छः' से अण् को
बाधकर 'छ' होता है। 'छ' को ईय्। उत्तरपद ग्रहण के कारण बहुच् प्रत्यय
पूर्व 'बहुगर्त शब्द से (गर्त्त में उत्तरपदत्व न आने के कारण) अण्
'बाहुगर्तः' होता है।

गहीयः,—(गहाख्यदेशे भवः) 'गहादिभ्यश्छः' से 'छ' होता है।
'छ्' को ईय्।

मुखतीयम्, पार्श्वतीयम्,—(मुखे, पार्श्वे च जातादि) 'मुखपार्श्वत-
सोर्लोपश्च' (ग० सू०) से गहादित्वात् विहित 'छ' के सन्नियोग में 'तस्' के
स् का (अलोन्त्यस्य के सहयोग से) लोप होता है। 'त' घटक अकार का लोप
'यस्येति च' से होता है। यहाँ मुखे जातम् आदि विग्रह में सर्वप्रथम आद्यादि-
त्वात् 'तसि' प्रत्यय होता है, अनन्तर 'छ' प्रत्यय तथा अन्य कार्य होते हैं। उक्त
गणसूत्र द्वारा विहित सलोप 'अव्ययानां भमात्रे टिलोपः' नियम की अनित्यता
का ज्ञापक है।

जनकीयम्, परकीयम्,—(जनस्य, परस्य च इदम्) गहादित्वात्
विहित 'छ' के सन्नियोग में 'कुगजनस्य परस्य च' (ग० सू०) से कुगागम
होता है। 'छ्' को ईय्।

देवकीयम्—देवस्येदं, देवे जातादि वा 'देवस्य च' ग० सू० से 'छ'
सन्नियोग में कुक् का आगम होता है।

वैणुकीयम्, वैत्रकीयम्, औत्तरपदकीयम्,—वेणुकस्येदमादि 'वेणु-
कादिभ्यश्छण्' से छण् होता है। 'छ्' को ईय्। णित्वात् आदिवृद्धि।

स्वकीयम्,—(स्वकस्येदमादि) स्वार्थिक कन्नन्त स्वक शब्द से गहादि
के आकृति गण होने से 'छ' होता है। केवल 'स्व' शब्द से अण् होकर

में ीवम्' प्रयोग होता है। 'प्राक् क्रीताच्छः' से 'छ' होकर 'स्वीयम्' (स्वस्मै हितम्) ो होता है। कटनगरीयम्, कटघोषीयम्, कटपल्वलीयम्, (कटनगरे जातादि) से ाचां कटादेः' से 'छ' होता है। यह, अण् का अपवाद है

राजकीयम्;—(राज्ञ इदम्) 'वृद्धाच्छः' से विहित छ के सन्नियोग में ाज्ञः क च' से 'राजन्' के 'न्' के स्थान में कादेश होता है।

ब्राह्मणकीयः, शाल्मलिकीयः, आयोमुखीयः,—(ब्राह्मणकाख्यजन-दे जातादिः) 'वृद्धादकेकान्तखोपधात्' से क्रमशः अक, इक, और खोपधक क्त शब्दों से 'छ' होता है। आद्य२ प्रयोगों में 'कोपधादण्' से अण् प्राप्तथा, था अन्तिम में 'वाहीकग्रामेभ्यश्च' से ठञ् और ञिठ प्राप्त थे।

दाक्षिकन्थीयम्, दाक्षिपलदीयम्, दाक्षिनगरीयम्, दाक्षिग्रामीयम्, ाक्षिह्रदीयम्,:—(दाक्षिकन्थाख्यदेशे जातादि) 'कन्थापलदनगरग्रामह्रदोत्तर-दात्' से आद्य २ और अन्तिम २ प्रयोगों में ठञ् और ञिठ को बाधकर तथा ध्यके प्रयोग में 'रोपधेतोः प्राचाम्' से प्राप्त वुञ् को बाधकर 'छ' होता है। छ' को ईय्।

पर्वतीयः,—(पर्वते जातः) 'पर्वताच्च' से 'छ' होता है।

पर्वतीयानि, पार्वतानि वा फलानि,—(पर्वते जातानि) 'विभाषाऽ-नुष्ये' से विकल्पेन छ होता है। पक्षमें अण् होता है। मनुष्य अर्थ में छ ही ता है। पर्वतीयो मनुष्यः।

कृकणीयम्, पर्णीयम्,—(कृकण, पर्णाख्य भारद्वाजदेशे जातादि) 'कृकण-र्णाद् भारद्वाजे' से 'छ' होता है। भारद्वाज से भिन्न अर्थ में औत्सर्गिक अण् कर कार्कणम्, पार्णम् होता है।

युष्मदीयः,–(युवयोर्युष्माकं वा–अयम्) अस्मदीयः–(आवयोरस्माकंवाऽयम्) ुष्मदस्मदोरन्यतरस्यां खञ्च' से 'खञ्' और चकारात् 'छ' होता है। उक्त योगों में 'छ' होता है। खञ् के उदाहरण आगे हैं। पक्षमें अण् भी होता है।

यौष्माकीणः, आस्माकीनः,—यौष्माकः, आस्माकः, उक्त विग्रह में पूर्व त्र से खञ् होता है। 'ख्' को ईन्। 'तस्मिन्नणि च युष्माकास्माकौ' से खञ्

और 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण सामर्थ्य से आगत 'अण्' परे युष्मद् के स्थान क्रमशः 'युष्माक' और अस्माक आदेश होते हैं। जित्वात्-आदिवृद्धि। ण

तावकीनः, तावकः,—(तव-अयम्) मामकीनः, मामकः,-(मम अयम्) युष्ममस्मदोः० से खञ् तथा औत्सर्गिक अण् होने पर 'तवकममकावेक वचने' से एकार्थवाची युष्मद् और अस्मद् के स्थानपर क्रमशः 'तवक' 'ममक' आदेश होते हैं। 'ख्' को ईन्। आदिवृद्धि।

त्वदीयः,-(तव-अयम्) मदीयः,- मम-अयम्) युष्मदस्मदोः० से चकारेभ 'छ' होने पर 'प्रत्ययोत्तरपदयोश्च' से युष्मद् और अस्मद् के मपर्यन्त युष्म् अ भागके स्थान पर क्रमशः 'त्व' 'म' आदेश होते हैं। 'छ' को ईय्।

अर्ध्यः,—(अर्धेजातादिः) अर्धाद्यत्' से यत् होता है। 'यस्येति च' से अलोप।

परार्ध्यम्ः,—अवरार्ध्यम्, अधमार्ध्यम्, उत्तमार्ध्यम्,-(परार्धे जातं 'परावराधमोत्तमपूर्वाच्च' से 'यत्' होता है। पूर्वग्रहण सामर्थ्य से 'दिक्पूर्वपदा' को पूर्वप्रतिषेध से बाधकर परार्ध्यादि में यत् ही होता है। परस्मिन्नर्धे विग्रहमें तद्धितार्थ० से समास होने पर यत् प्रत्यय होता है।

पौर्वार्धिकम्, पूर्वार्ध्यम्,:-(पूर्वार्धे जातादि) 'दिक्पूर्वपदाट्ठञ्च' से ठञ् तथा चकारात् यत् होता है ठ को इक। आदिवृद्धि। पूर्वग्रह अर्धका समास तद्धितार्थ० से होता है।

पौर्वार्धाः, पौर्वार्धिका ,- पूर्वस्मिन्नर्धे (ग्रामस्य) भवाः) 'ग्रामजनप देशादञ्ठञौ से 'अञ्' और ठञ् होते हैं। तद्धितार्थ० से समास।

मध्यमः—(मध्ये भवः) 'मध्यान्मः' से 'म' प्रत्यय होता है।

मध्यो-वैयाकरणः,–मध्यं दारु,–(मध्येभवः–उत्कर्षापकर्षहीनः, हीनंवा) 'असाम्प्रतिके' से 'अ' प्रत्यय होता है। यस्येति च।

द्वैप्यम् , द्वैप्या,—(द्वीपेजात,) 'द्वीपादनुसमुद्रं यञ्' से समुद्र सम द्वीपार्थ वाचक द्वीप से 'यञ्' होता है। अलोप आदिवृद्धि। स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्। 'यञश्च' में अपत्याधिकारस्थ यञ् का ग्रहण (व्याख्यानसे, होने से 'जा' नहीं होता है।

मासिकम्;—**सांवत्सरिकम्**, **सांप्रतिकः** **पौनःपुनिकः**— मासे (जातादि) 'कालाट्ठञ्' से 'ठञ्' होता है। ठस्येकः। किति च। कालवाचकों से अणादिको बाधकर ठञ् विधायक उक्त शास्त्रके रहते हुए अणन्त 'शार्वरः' 'औषस':, खान्त तत्कालीनादि, कालिदास भारवि आदिके प्रयोग लक्षण सम्मत नहीं कहे जा सकते।

शारदिकं श्राद्धम्:—(शरदि जातादि) 'सन्धिवेला'॰ से प्राप्त अण् को बाधकर 'श्राद्धे शरदः' से 'ठञ्' होता है। 'ठ' को इक। आदिवृद्धि। विभक्ति कार्य।

शारदिकः, **शारदो वा**—**रोग आतपोवाः** –(शरदि जातादिः) 'विभाषा रोगातपयोः' से वैकल्पिक 'ठञ्' होता है। पक्ष में 'सन्धिवेला॰' से 'अण्' होता है। रोग और आतप से भिन्न की बोधकता में केवल अण् ही होता है। शारदं दधि।

नैशिकम्, **नैशम्**, **प्रादोषिकम्**, **प्रादोषम्**:—(निशि, प्रदोषे वा जातादि) 'निशाप्रदोषाभ्यांच' से वैकल्पिक ठञ् होता है। पक्ष में 'अण्'।

शौवस्तिकम्:—(श्वो जातादि) 'श्वसस्तुट्च' से 'ठञ्' एवं उसको 'तुट्' का आगम होता है। 'द्वारादीनां च' से आदिवृद्धिको बाधकर ऐजागम (औ) वकार से पूर्व होता है। 'ठ' को इक। कितिच से आदिवृद्धि। विभक्ति कार्य। यह 'ठञ्' विकल्प से होता है, अतः पक्ष में 'ऐषमोह्यः'॰ से त्यप् तथा सायं चिरं से 'ट्यु' और 'ट्युल्' भी होते हैं। शस्त्यम्, शस्तनम्।

सान्धिवेलम्, **ग्रैष्मम्**, **तैषम्**:—(सन्धिवेलायां, ग्रीष्मे, तिष्याख्य-नक्षत्रे वा भवादि) सन्धिवेलाद्यृतुनक्षत्रेभ्योऽण्'—से सन्धिवेलाद्यन्तर्गत पौर्णमासी आदि शब्दों से प्राप्त 'वृद्धाच्छः' को तथा अन्य शब्दों से 'कालाट्ठञ्' से प्राप्त ठञ् को बाधकर—'अण्' होता है। यस्येति च। आदिवृद्धि।

सांवत्सरं फलं पर्व वाः—(सम्वत्सरे जातादि) 'संवत्सरात्फलपर्वणोः'—(ग. सू.) से उक्त अर्थ बोधकता में 'अण्' होता है। अन्यत्र ठञ्।

प्रावृषेण्यः—(प्रावृषि भवः) 'प्रावृष एण्यः' से एण्य प्रत्यय होता है। 'जातः' अर्थ में 'ठप्' होकर 'प्रावृषिकः' होता है।

वार्षिकं वासः—(वर्षासु साधु) 'कालात्साधुपुष्यत्पच्यमानेषु' के निय-

मानुसार 'वर्षाभ्यष्ठक्' से 'ठक्' होता है। (ऋत्वण् को बाधकर) (ठ को इक
आदिवृद्धि ।

हैमनम्, हैमन्तम्, (हेमन्ते भवम्) 'सर्वत्राण् च तलोपश्च' से हेम
शब्द से अण् तथा 'त्' का लोप भी होता है। 'यस्येतिच' से 'अ' लोप। आ
वृद्धि। पक्ष में ऋत्वण्। ऋत्वण् पक्ष में 'त्' लोप नहीं होता है। 'त्' लोप
विधान प्रतिपदोक्त सर्वत्राण्० से विहित अण् के सन्नियोग में ही होता है।

सायन्तनम्, चिरन्तनम्, प्राह्णेतनम्, प्रगेतनम्, दोषातनम्, दिवा
तनम्— सायं-समये, चिरकाले, प्राह्णे, प्रगे, दोषा, दिवा, वा जातादि) 'सायं
प्राह्णे प्रगेऽव्ययेभ्यष्ट्यु ट्युलौ तुट् च' से 'ट्यु' और—'ट्युल्' प्रत्यय तथा उन
'तुट्' का आगम होता है। यह तुडागम 'अनद्यतने लङ्' आदि निर्देश से
को 'अन' होने के बाद होता है। अन्यथा तुट् होने पर 'अङ्गसंज्ञानिमित्त
यु' अर्थ (युवोरनाकौका) की संगति न होने से (मृत्यु शब्दवत्) अनादे
ही असम्भव हो जाता। दोनों प्रत्ययों में रूप, समानाकार होता है। केवल
स्वर का अन्तर रहता है। भाष्य मत से सायं, चिरं को अव्ययों में गणना
से उनका पाठ निरर्थक है। सूत्रमत से घञन्त 'साय' शब्द को तथा चिर
को प्रत्यय के योग में निपातनात् मान्तत्व होता है। इसी तरह प्राह्ण,
'प्रग' शब्दों को एदन्तत्व निपातनात् होता है। यह एदन्तत्व निपातन विशेष
'प्राह्णः सोढोऽस्य विग्रह में निष्पन्न 'प्राह्णेतनः' आदि शब्दों के लि
परमावश्यक है। सप्तम्यन्त से जाताद्यर्थ में निष्पन्न प्राह्णेतनं शब्द
'घकालतनेषु०' से सप्तमी का अलुक् होकर भी प्रयोग सिद्ध हो सकता है।

चिरत्नम्, परुत्नम्, परारित्नम् (परारि—पूर्वतरे वत्सरे जातादि
'चिरपरुत्परारिभ्यस्त्नो वक्तव्यः' (वा.) से 'त्न' प्रत्यय होता है।

अग्रिमम्, आदिमम्, पश्चिमम्—(अग्रे जातादि) 'अग्रादिपश्चाड्डिमच्'
(वा.) से 'डिमच्' प्रत्यय होता है। डित्वसामर्थ्याट्टिलोप। चित्त्वाच्चित
अन्तोदात्त।

अन्तिमम्:—(अन्ते जातादि) 'अन्താच्च' (वा.) से 'डिमच्' प्रत्यय
होता है।

पूर्वाह्णेतनम्, अपराह्णेतनम्:—(पूर्वाह्णे, अपराह्णे वा साधु) 'विभाषा-पूर्वाह्णापराह्णाभ्याम्' से विकल्पेन 'ट्यु' और ट्युल् तथा उनको तुट् का आगम होता है। 'घकालतनेषु' से सप्तमी का अलुक् होता है। पक्ष में ठञ् होता है। पौर्वाह्णिकम् आपराह्णिकम्। 'पूर्वाह्णः सोढोऽस्य' विग्रह में पूर्वाह्णतनम् (अपराह्ण-तनम्) होता है।

स्रौघ्नः (स्रुघ्ने जातः) 'तत्र जातः' से, सप्तम्यन्त समर्थ स्रुघ्नादि—शब्दों से अण्—आदि प्रत्यय 'जातः' अर्थ में होते हैं। णित्वात् आदिवृद्धि। यह अर्थ निर्देशक सूत्र है। पिछले औत्सः' राष्ट्रियः आदि प्रयोग भी 'जातः' अर्थ में साधु स्वीकार किए जाते हैं। 'प्रावृषष्ठप्'—जो 'प्रावृष एण्यः' का अपवाद है—का विषय (अर्थ) निर्धारणार्थ 'तत्र जातः' सूत्र की परम आवश्यकता है।

प्रावृषिकः,—(प्रावृषि जातः) 'प्रावृषष्ठप्' से 'ठप्' प्रत्यय होता है। 'ठ' को इक। किति च से आदिवृद्धि। यह सूत्र 'एण्य' विधायक सूत्र का अपवाद है।

शारदकाः,—(शरदि जाताः) 'संज्ञायां शरदो वुञ्' से 'वुञ्' होता है। 'वु' को अक। आदिवृद्धि 'शारदकः' दर्भविशेष या मुद्गविशेष की संज्ञा है।

पूर्ववार्षिकः, अपरहैमनः,—(वर्षाणां पूर्वः, हेमन्तस्यापरः विग्रह में पूर्वापराधरोत्तरम्० से एकदेशी समास करने पर, पूर्ववर्षायां, अपरहेमन्ते भवः) 'ऋतोर्वृद्धिमद्विधाववयवानाम्' (वा०) के सहयोग (तदन्तविधि) से क्रमशः 'वर्षाभ्यष्ठक्' और सर्वत्राण् तलोपश्च' से 'ठक्' एवं अण्-तलोप-होते हैं।

उत्तरपदस्य के अधिकार में स्थित 'अवयवादृतोः' से उत्तरपद (वर्षा, व-हेमन्त) के आदि अच् को वृद्धि होती है। उक्त सूत्र से उत्तरपदाद्यच् को वृद्धि, तथा ऋतोवृद्धि० वार्तिक से तदन्तविधि वहीं होती है, जहाँ सामाना-धिकरण्य न होकर अवयवावयविभावरूप पूर्वोत्तरपद में (ऋतुवाचक में ही) सम्बन्ध हो। अतः 'पूर्वासु भवः विग्रह में नतो 'वर्षाभ्यष्ठक्' से ठक् हो होता है और न 'अवयवादृतोः' से उत्तरपदाद्यच् को वृद्धि ही होती है। केवल

'कालाट्ठञ्' से ठञ् तथा 'तद्धितेष्वचाम्' से आदि अच् को वृद्धि होकर 'पौर्व वार्षिकः' होता है।

सुपाञ्चालकः, सर्वपाञ्चालकः, अर्धपाञ्चालकः,—(सुपाञ्चालेषु भवः आदि) जनपदतदवध्योः के अधिकारस्थ अवृद्धादपि० से वुञ् होनेपर 'सुसर्वार्धाज्जनपदस्य' से उत्तरपद के आदि अच् को वृद्धि होती है। 'सुसर्वार्ध दिक्शब्देभ्यो जनपदस्य वा' से तदन्त विधि होती है।

पूर्वपाञ्चालकः,—(पूर्वेषु पञ्चालेषु भवः) तद्धितार्थ० से समास, तथा 'जनपद तदवध्योः' के अधिकारस्थ अवृद्धादपि से 'वुञ' होता है, एवं 'दिशोऽ मद्राणाम्' से 'पञ्चाल' के आदि अच् को वृद्धि होती है। 'वु' को अक।

दिशःकिम्, पौर्वपञ्चालः—(पूर्वपञ्चालानामयम्)—'अण्' होनेप णित्वात् आदि अच् को वृद्धि होती है। अमद्राणां किम्, पौर्वमद्रः 'मद्रेभ्योऽञ् से अञ् होनेपर ञित्वात् आदि अच् को वृद्धि होती है।

पूर्वैषुकामशमः,—(पूर्वेषुकामशम्यांभवः) पूर्वपाटलिपुत्रकः-(पूर्वपाटलि पुत्रे भवः) शैषिक 'अण्' होनेपर 'प्राचां ग्रामनगराणाम्' से ग्रामवाचक इषु कामशमी, और नगरवाचक पाटलिपुत्र के आदि अच् को दिग्वाचक पूर्व शब्द से परे होने से वृद्धि होती है।

पूर्वाह्णकः, अपराह्णकः, आर्द्रकः, मूलकः, प्रदोषकः, अवस्करकः,—(पूर्वाह्णे जातादि) 'पूर्वाह्णापराह्णार्द्रामूलप्रदोषावस्कराद्वुन्' से 'वुन्' प्रत्यय होता है। 'वु को अक। वृद्धिनिमित्ताभाव के कारण वृद्धि नहीं होती है।

पन्थकः,—(पथि जातः) 'पथः पन्थ च' से 'वुन्' एवं उसके सन्नियो में 'पथिन्' के स्थान में 'पन्थ' आदेश होता है।

अमावास्यकः, आमावास्यः —(अमावास्यायां जातः) 'अमावास्याया वा' से विकल्पेन 'वुन्' होता है। पक्ष में सन्धिवेला० से अण् होता है। ह्रस्व 'अमावस्य' शब्द भी साधु माना गया है. अतः उससे भी (प्रकृतिग्रहणे निर्दि ग्रहणम्' नियम से) वुन् एवं अण् होता है।

अमावस्यकः,—आमावस्यः।

अमावास्यः,—(अमावास्यायां जातः) 'अच' से 'अ' प्रत्यय होता है। ह्रस्वोपध से भी 'अ' प्रत्यय होता है। अमावस्यः।

सिन्धुकः, अपकरकः,—(सिन्धौ जात आदिः) 'सिन्ध्वपकराभ्यांकन्' से कन् प्रत्यय होता है। प्रथम प्रयोग में 'कच्छाद्यण्' को तथा मनुष्य वुञ् को बाधकर एवं द्वितीय प्रयोग में औत्सर्गिक अण् को बाधकर कन् होता है।

सैन्धवः, आपकरः—(अपकरे जातः) 'अणञौच' से क्रमशः (यथा-संख्यार्थ–योगविभाग) 'अण्' एवं 'अञ्' होता है। आदिवृद्धि। स्वर में भेद। श्रविष्ठः, फल्गुनः -(श्रविष्ठासु जातः) सन्धिवेला॰ से नक्षत्रत्वात् विहित शैषिक अण् का 'श्रविष्ठाफल्गुन्यनुराधास्वातितिष्यपुनर्वसुहस्तविशाखाषाढा-बहुलाल्लुक्' से लुक् होता है। 'लुक् तद्धित-लुकि' से उपसर्जन (अप्रधान) स्त्रीप्रत्यय (टावादि) का लुक् होता है। चित्रा, रेवती रोहिणी,–(चित्रायां जाता–आदि) 'चित्रारेवतीरोहिणीभ्यः–स्त्रियामुपसंख्यानम्' (वा.) से 'सन्धि-वेला॰' द्वारा विहित अण् का लुक् होता है। 'लुक् तद्धितलुकि' से स्त्रीप्रत्यय का लुक् होनेपर पिप्पल्यादि के आकृतिगण होने से (रेवती और रोहिणी शब्द में) पुनः 'ङीष् होता है।

फल्गुनी अषाढा—(फल्गुन्यां जाता) श्राविष्ठीयः, आषाढीयः—(श्रविष्ठायां जातः) 'श्रविष्ठाषाढाभ्यां छण् वक्तव्यः' (वा.) से (अस्त्रीलिंग में भी) 'छण्' होता है। 'छ' को 'ईय्'। णित्वात् वृद्धि।

प्रोष्ठपादो माणवकः—(प्रोष्ठपदासु जातः) जातार्थ 'अण्' ('सन्धि-वेला॰)' से आने पर 'जेप्रोष्ठपदानाम्' से उत्तरपद (पद) के आदि अच् को वृद्धि होती है। यह कार्य जातार्थक प्रत्यय परे ही होता है। 'भवः' अर्थ में 'अण्' करने पर 'प्रौष्ठपद.' ही होगा। सूत्र में बहुवचन निर्देश से पर्याय-वाचक 'भाद्रपद' आदि शब्दों के उत्तरपदाद्यच् को वृद्धि होती है। भाद्रपादः।

गोस्थानः, गोशालः, खरशालः—(गोस्थाने जातः) जातार्थक 'अण्' का 'स्थानान्तगोशालखरशालाच्च' से 'लुक्' होता है। अन्तिम शब्दों में 'विभाषा सेना' से नपुंसक होने के कारण ह्रस्व की स्थिति है (सूत्र में) वत्सशालः, वात्सशालः—(वत्सशाले, वत्सशालायां वा जातः) 'वत्सशाला-

२

भिजिदश्वयुक्शतभिषजो वा' से जातार्थक 'अण्' का लुक् होता है विकल्प से, पक्ष में 'अण्' श्रुत रहने से आदि अच् को वृद्धि होती है।

शातभिषः, शातभिषजः, शतभिषक्—(शतभिषजि जातः) औत्सर्गिक 'अण्' को बाधकर 'कालाट्ठञ्' से ठञ् प्राप्त होता है, जिसे बाधकर 'सन्धिवेला०' से 'अण्' होता है। इस 'अण्' को 'जातार्थे प्रतिप्रसूतोऽण्वाडिद्वक्तव्य' (वा.) से 'डित्' विधान होता है। डित् होने से टिलोप होता है। अतः प्रथम प्रयोग (अज् मात्र का लोप होने से) तथा द्वितीय, डिद्विधान के वैकल्पिक होने से, एवं तृतीय वत्सशाला० द्वारा अण् का लुक् होने से सिद्ध होता है।

रोहिणः, रौहिणः—(रोहिण्यां जातः) सन्धिवेला० से आगत अण् का 'नक्षत्रेभ्योबहुलम्' से विकल्पेन लुक् होता है। 'लुक् तद्धितलुकि' से स्त्री प्रत्यय का लुक् होता है। पक्ष में 'अण्' श्रुत होता है। आदिवृद्धि। ई लोप।

स्रौघ्नः—(स्रुघ्ने कृतो लब्धः क्रीतः कुशलो वा) 'कृतलब्धक्रीतकुशला.' से 'अण्' प्रत्यय होता है। आदिवृद्धि। अलोप।

स्रौघ्नः—(स्रुघ्ने प्रायेण बाहुल्येन भवतीति) 'प्रायभवः' सूत्र (अर्थ निर्देशक) से उक्तार्थ में अण् (आदि) का विधान होता है। सभी कार्य पूर्ववत।

औपजानुकः, औपकर्णिकः, औपनीविकः—(उपजानु प्रायेण भवति) 'उपजानूपकर्णोपनीवेष्ठक्' से 'ठक्' प्रत्यय होता है। प्रथम प्रयोग में इसुसुक्० से ठ को 'क,' और २ तीय तृतीय में इक (ठस्येकः) होता है। किति च।

स्रौघ्नः—(स्रुघ्ने सम्भवति) 'संभूते' (अर्थनिर्देशक सूत्र) से अण् (आदि) का विधान होता है। अन्यकार्य पूर्ववत्।

कौशेयं वस्त्रम्—(कोशे सम्भवति) 'कोशाड्ढञ्' से उक्तार्थ में (सत्कार्य वादानुसार) 'ढञ्' होता है। 'ढ्' को एय्। आदिवृद्धि। वास्तव में 'तस्य विकारः' के प्रकरण में 'एण्या ढञ्' के बाद 'कोशाच्च' होना चाहिये, जिससे 'कोशस्य विकारः' अर्थ संगत हो सके।

हैमन्तः-प्राकारः—(हेमन्ते साधुः) वासन्त्यः कुन्दलताः—(वसन्ते से

पुष्यन्ति) शारदाः शालयः—(शरदि पच्यन्ते) 'कालात्साधुपुष्प्यत्पच्यमानेषु' से क्रमनिर्दिष्ट अर्थों में 'अण्' (आदि) प्रत्यय होते हैं। आदिवृद्धि।

हैमन्ताः-यवाः—(हेमन्ते उप्यन्ते) 'उप्ते च' से 'अण्' होता है।

आश्वयुजका माषाः—(आश्वयुज्याम्-अश्विनी नक्षत्रयुक्तायां पौर्णमास्या-मुप्ताः) 'आश्वयुज्या वुञ्' से 'वुञ्' होता है। 'वु' को अक। आदिवृद्धि।

ग्रैष्मकम्, ग्रैष्मम्, वासन्तकम्, वासन्तम्—(ग्रीष्मे, वसन्ते वा-उप्तम्) 'ग्रीष्मवसन्तादन्यतरस्याम्' से विकल्पेन 'वुञ्' होता है। पक्ष में 'सन्धिवेला'० से 'अण्' होता है।

मासिकम्—(मासे देयमृणम्) 'देयमृणे' से ठञ् होता है। 'ठ' को इक।

कलापकम्—(यस्मिन् काले मयूरा कलापिनो भवन्ति स उपचारात् कलापी तत्र-देयमृणम्) अश्वत्थकः—(अश्वत्थस्य फलमश्वत्थस्तद्युक्तः कालोऽप्यश्वत्थः, यस्मिन् कालेऽश्वत्थाः फलन्ति तत्र देयमृणम्) यववुसकम्—(यस्मिन् यववुसमुत्पद्यते तत्र देयम्) 'कलाप्यश्वत्थयववुसाद्वुन्' से उक्त अर्थों में वुन् होता है। 'वु' को अक वृद्धिनिमित्त के अभाव से वृद्धि नहीं होती है।

ग्रैष्मकम्, (ग्रीष्मेदेयमृणम्) आवरसमकम्—'ग्रीष्मावरसमाद् वुञ्' से वुञ् होता है। 'वु' को अक। ञित्वात् आदिवृद्धि।

सांवत्सरिकम्, साम्वत्सरकम्—(सम्वत्सरे देयमृणम्) आग्रहायणिकम्, आग्रहायणकम्—'सम्वत्सराग्रहायणीभ्यां ठञ्च' से ठञ्, तथा चकारात् 'वुञ्' होता है। ठञ् पक्ष में ठस्येकः। वुञ् पक्ष में 'युवोरनाकौ'। आदिवृद्धि।

नैशः, नैशिकः—(निशायां व्याहरति) 'व्याहरति मृगः' से 'अण्' (आदि) एवं ठञ् प्रत्यय होने की उक्त अर्थ में व्यवस्था प्राप्त होती है।

नैशः, नैशिकः—(निशा सहचरितमध्ययनं निशा, तत्सोढमस्य)—'तदस्य सोढम्' से 'अण्' ठञ् आदि प्रत्ययों की उक्त अर्थ में होने की व्यवस्था प्राप्त होती है।

स्रौघ्नः, राष्ट्रियः—'तत्र भवः' से 'अण्' आदि प्रत्ययों की सप्तम्यन्त समर्थ से 'भवः' अर्थ में होने की व्यवस्था प्राप्त होती है।

दिश्यम्, वर्ग्यम्—(दिशि, वर्गे वा भवम्) 'दिगादिभ्यो यत्' से यत् प्रत्यय होता है।

दन्त्यम्, कर्ण्यम्—(दन्ते, कर्णे वा भवम्) 'शरीरावयवाच्च' से यत् होता है।

सौम्हनागरः, पौर्वनागरः—(सुह्मनगरे, पूर्वनगरे वा भवः) 'तत्र-भवः' अर्थनिर्देशक सूत्रसे शैषिक 'अण्' होनेपर 'प्राचां नगरान्ते' से उभयपद आद्यच् को वृद्धि होती है। प्राचां किम् माद्रनगरः।

कौरुजङ्गलम्, कौरुजाङ्गलम्—(कुरुजङ्गलेभवम् ' वैश्वधेनवम्, वैश्व-धैनवम्-(विश्वधेनौ भवं) सौवर्णवलजम्, सौवर्णवालजम्—(सुवर्णवलजे भवम्) शैषिक 'अण्' होनेपर 'जङ्गलधेनुवलजान्तस्य विभाषितमुत्तरम्' से पूर्वपद के आद्यच् को नित्य, उत्तरपदाद्यच् को विकल्पेन वृद्धि होती है।

दार्तेयम्, कौक्षेयम्, कालशेयम्, वास्तेयम्, आस्तेयम्, आहेयम्—(दृतौ, कुक्षौ, कलशौ-घटे-वस्तौ-भवमादिः) 'दृतिकुक्षिकलशिवस्त्यस्त्यहेर्ढञ्' से 'ढञ्' होता है। 'ढ्' को 'एय्' ग्रैवेयम्, ग्रैवम्—(ग्रीवायां भवम्) 'ग्रीवाभ्योऽण् च' से 'अण्' एवं 'ढञ्' प्रत्यय होता है। 'ढ्' को एय्।

गाम्भीर्यम्—(गम्भीरे भवम्) 'गम्भीराञ्ञ्यः' से ञ्यः प्रत्यय होता है। ञित्वादादिवृद्धि।

पारिमुख्यम्—(परिमुखं भवम्) 'अव्ययीभावाच्च' से 'ञ्य' प्रत्यय होता है। यह 'ञ्य' प्रत्यय 'परिमुखादिभ्य एवेष्यते' (वा.) से निर्धारित होने के कारण परिगणित अव्ययीभावसंज्ञक शब्दों से ही होता है। अतः 'औपकुलः' में अण् (औत्सर्गिक) ही होता है।

अन्तर्वेश्मिकम्,—(वेश्मनि-इति-अन्तर्वेश्मम् तत्रभवम्) आन्तर्गणिकम्-(गणे-इति—अन्तर्गणम्—तत्रभवम्)—'अन्तः पूर्वपदाट्ठञ्' से (अव्ययीभाव-संज्ञक से ही) 'ठञ्' प्रत्यय होता है।

आध्यात्मिकम्ः,—(आत्मनि-इति अध्यात्मम् तत्रभवम्-) 'अध्यात्मादे-ष्ठञिष्यते' से 'ठञ्' होता है।

आधिदैविकम्,:—(देवे-इति-अधिदेवम्-तत्रभवम्) आधिभौतिकम्-

ऐहलौकिकम्, पारलौकिकम्,:—'अध्यात्मादेष्ठञिष्यते' से (अध्यात्मादि आकृतिगण) 'ठञ्' होता है। 'अनुशतिकादीनां च' से उभयपदवृद्धि होती है।

दाविकाकूलाः शालयः,—(देविकाकूलेभवाः) शांशपश्चमसः–(शिशपायाःविकारः) दात्यौहम्,–(दित्यौह इदम्) दार्घसत्रम् :—(दीर्घसत्रेभवम्) श्रायसम् (श्रेयसि भवम्) प्रथम में औत्सर्गिक (शैषिक) अण्, तृतीयमें 'पलाशादिभ्योवा' ४।३ १४१ से अञ्, तथा अन्तिम ३ प्रयोगों में शैषिक अण् होनेपर ञित्, णित् निमित्तक आदिवृद्धि को बाधकर 'देविकाशिशपादित्यवाड्दीर्घसत्रश्रेयसामात्' से आदि अच् को आकारादेश होता है।

पारिग्रामिक, आनुग्रामिकः,—(परिग्राममनुग्रामं वा भवः) 'ग्रामात्पर्यनुपूर्वात्' से ठञ् होता है। 'ठ' को इक।

जिह्वामूलीयम्, अङ्गुलीयम्,:—(जिह्वामूले-अङ्गुलौवा भवम्) 'जिह्वामूलाङ्गुलेश्छः' से छ होता है। 'छ्' को ईय्।

कवर्गीयम्:,—(कवर्गे भवम्) 'वर्गान्ताच्च' से छ होता है।

मद्वर्ग्यः, मद्वर्गीणः मद्वर्गीयः,—(मद्वर्गेभवः) 'अशब्दे यत्खावन्यतरस्याम्' से 'यत्' और 'ख' का विधान होता है, तथा पक्ष में 'वर्गान्ताच्च' से 'छ' होता है। अतः ३ रूप होते हैं। अशब्दे किम्, कवर्गीयो वर्णः,। 'यत्' और 'ख' प्रत्यय वहीं होते हैं, जहाँ वर्गान्त शब्द से शब्द समूहा-(वर्ग) तिरिक्त समूह (वर्ग) का बोध होता हो, अतः उक्त प्रयोग में 'छ' ही हुआ। 'यत्' अथवा 'ख' नहीं हुए।

कर्णिका, ललाटिका,:—(कर्णे, ललाटे-भवा) 'कर्णललाटाभ्यां कन लंकारे' से 'शरीरावयवाच्च' से प्राप्त यत्' को बाधकर 'कन्' प्रत्यय होता है। स्त्रीत्वविवक्षा में टाप् होता है।

सौपो ग्रन्थः,–(सुपां व्याख्यानः) तैङः कार्तः—(तिङां कृताञ्च व्याख्यानः) 'सुपां व्याख्यान इति च व्याख्यातव्यनाम्नः' (षष्ठयन्त से व्याख्यानकरण अर्थ में सप्तम्यन्त से भव अर्थ में व्याख्यातव्य ग्रन्थ के प्रतिपादकशब्द से 'अण्'–आदि प्रत्यय होते हैं) से 'अण् प्रत्यय होता है। आदिवृद्धि।

सौपम् ;—(सुप्सु भवम्) उक्त सूत्र से 'अण्' प्रत्यय होता है।

षात्वणत्विकः,—(षत्वणत्वयोर्विधायकं शास्त्रं,लक्षणया-षत्वणत्वम्, तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा) 'बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ्' से उक्त अर्थ में ठञ् होता है। 'ठ को इक। आदिवृद्धि।

आग्निष्टोमिकः, वाजपेयिकः, पाकयज्ञिकः, नावयज्ञिकः,—(अग्निष्टोमस्यव्याख्यानस्तत्र भवोवा) 'क्रतु यज्ञेभ्यश्च' से 'ठञ्' होता है। क्रतु और यज्ञ दोनों सोमसाध्य याग हैं, अतः इनमें से किसी एक के ग्रहण से भी कार्य-निर्वाह हो सकने पर भी, दोनों का ग्रहण सूचित करता है कि, असोमक याग भी लिए जाते हैं। सूत्र में २ शब्द होनेपर भी बहुवचन देने से 'स्वं रुपं०' से प्राप्त 'क्रतु' और 'यज्ञ' शब्दों से प्रत्यय विधान हो' व्यवस्था प्रतिबाधित होती है। 'बह्वचोऽन्तोदात्ताट्ठञ्' अन्तोदात्त शब्दों से प्रत्यय करता है, अतः उक्त (क्रतुयज्ञेभ्यश्च) सूत्र अनन्तोदात्त शब्दों के लिए हैं।

वासिष्ठिकोऽध्यायः,—(वसिष्ठेन दृष्टो मन्त्रो वसिष्ठस्तस्य व्याख्यानस्तत्रभवो वा) 'अध्यायेष्वेवर्षेः' से 'ठञ्' होता है। अध्यायेषु किम्, वासिष्ठीऋक् भवार्थ में औत्सर्गिक 'अण्' होता है। टिड्ढाणञ्० से ङीप्' होता है।

पौरोडाशिकः—(पुरोडाश सहचरितो मन्त्रो लक्षणया-पुरोडाशः, स एव-पौरोडाशः (स्वार्थेऽण्) तस्य व्याख्यानस्तत्र भवो वा) 'पौरोडाशपुरोडाशात्ष्ठन्' से ष्ठन्' होता है। षित्वात् ङीष्। पौरोडाशिकी।

छन्दस्यः, छान्दसः,—(छन्दसोव्याख्यानस्तत्र भवो वा) 'छन्दसो यदणौ' से 'यत्' और 'अण्' प्रत्यय होते हैं।

ऐष्टिकः, पाशुकः, चातुर्होतृकः, ब्राह्मणिकः, आर्चिकः,—'द्व्यजृद्ब्राह्मणर्क्प्रथमाध्वरपुरश्चरणनामाख्याताट्ठक्' से भव, व्याख्यानार्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है।

आर्गयनः, औपनिषदः, वैयाकरणः,—(ऋगयनादेर्व्याख्यानस्तत्र भवोवा) 'अणृगयनादिभ्यः' से ठञादि को बाधकर 'अण्' होता है। आदिवृद्धि।

स्रौघ्नः, (स्रुघ्नादागतः) 'तत आगतः' (अर्थ निर्देशक सूत्र) से उक्त अर्थ में 'अण होता है। आदिवृद्धि। अलोप।

शौल्कशालिकः,—(शुल्कशालाया आगतः) 'ठगायस्थानेभ्यः' (एत्येनं स्वामी स्वामिनमयमेतीतिवाऽऽयः,–स्वामिग्राह्योभागः,–सयस्मिन्नुत्पद्यते, तदाय स्थानम्) से 'ठक्' प्रत्यय होता है। 'ठ' को इक। आदिवृद्धि।

शौण्डिकः,—(शुण्डिकादागतः) कार्कणः, तैर्थः,–(कृकणात् तीर्थात्–वाऽऽगतः) पूर्वसूत्र से प्राप्त ठक्, एवं 'कृकणपर्णाद् भारद्वाजे' से-प्राप्त 'छ को बाधकर 'शुण्डिकादिभ्योऽण' से 'अण् होता है। तीर्थ शब्द से धूमादित्वात् 'वुञ्' प्राप्तथा।

औपाध्यायकः, पैतामहकः,—(उपाध्यायात्, पितामहाद्वाऽऽगतः) 'विद्यायोनिसम्बन्धेभ्यो वुञ्' से वुञ् होता है। 'वु' को अक। आदिवृद्धि।

होतृकम्, भ्रातृकम्,–(होतुर्भ्रातुर्वाऽऽगतम्) 'विद्यायोनि०' से प्राप्त 'वुञ्' को बाधकर 'ऋतष्ठञ्' से 'ठञ् होता है। 'इसुसुक्०' से क होता है।

पित्र्यम्, पैतृकम्,— पितुरागतम्) 'पितुर्यच्च' से 'यत्' और चकारात् 'ठञ्' होता है। 'यत्' पक्ष में 'रीङ् ऋतः' से 'ऋ' के स्थान में रीङ् होता है। 'यस्येति च' से ईकार लोप होता है 'ठञ्' पक्ष में 'क' होता है।

वैदम्, गार्गम्, दाक्षम् औपगवकम्,:—(विदेभ्य आगतमादि) 'गोत्रादङ्कवत्' ('अपत्य प्रत्ययान्त से 'तत आगतः' अर्थ में अङ्कवत् (अङ्क अर्थ में इष्ट सभी) प्रत्यय होते हैं) से प्रथम ३ प्रयोगों में अण्, एवं अन्तिम में 'वुञ्' होता है। ये 'अण्' और 'वुञ्' प्रत्यय क्रमशः अञ्, यञ्, इञ्, और 'अण्' प्रत्ययान्त शब्दों से होते हैं।

आशौचम्, अशौचम्, आनैश्वर्यम्, अनैश्वर्यम्, आक्षैत्रज्ञम्, अक्षैत्रज्ञम्, आकौशलम्, अकौशलम्, आनैपुण्यम्, अनैपुण्यम्,: — (अशुचौ भवम्,- अशुचेरागतम्–वा) भव या आगत अर्थ में शैषिक 'अण्' आदि होनेपर उक्त शब्दों में 'नञः शुचीश्वरक्षेत्रज्ञकुशलनिपुणानाम्' से शुच्यादि पांचों के आदि अच् को नित्य और समस्त शब्द के, अर्थात् पूर्वपद के आदि अच् को विकल्पेन वृद्धि होती है।

समरुप्यम्:, विषमरुप्यम्, समीयम्, विषमीयम्, देवदत्तरुप्यम् दैवदत्तम्,:—(समादागतमादि) 'हेतुमनुष्येभ्योऽन्यतरस्यां रूप्यः' से

'रूप्य' प्रत्यय होता है। पक्ष में गहादित्वात् 'छ' (समीयमादि) होता है। एवं दैवदत्तम्' में 'अण्' होता है।

सममयम्, विषममयम्, देवदत्तमयम्,—(समाद्यागतम्) 'मयट्च' से 'मयट्' प्रत्यय होता है। टित्वात् ङीप्। सममयी।

हैमवती-गङ्गा,:—(हिमवतः प्रभवति) 'प्रभवति' से (अर्थनिर्देशक सूत्र) 'अण्' प्रत्यय होता है। 'टिड्ढाणञ्' से ङीप्।

वैदूर्यो मणिः,—(विदूरात् प्रभवति) 'विदूराञ् ञ्यः' से 'ञ्य' प्रत्यय होता है। ञित्वात् आदिवृद्धि।

स्रौघ्नः-पन्था, दूतो वा,:—(स्रुघ्नं गच्छति) 'तद् गच्छति पथिदूतयोः' (अ० नि० सू०) से 'अण्' प्रत्यय होता है।

स्रौघ्नं कान्यकुब्जद्वारम्,:—(स्रुघ्नमभिनिष्क्रामति) 'अभिनिष्क्रामति द्वारम्' (अ० नि० सू०) से 'अण्' होता है।

शारीरकीयः,-(कुत्सितं शरीरं, शरीरकं, तत्सम्बन्धी शरीरको जीवात्मा, तमधिकृत्यकृतो ग्रन्थः) 'अधिकृत्य कृते ग्रन्थे' (अ० नि० सू०) से प्रेरित 'वृद्धाच्छः' से 'छ' प्रत्यय होता है। 'शारीरकं भाष्यम्' प्रयोग (भाष्य के जीवात्मा को अधिकृत्य निर्मित होनेपर भी) अभेदोपचार के बल पर साधु स्वीकार किया जाता है। इस प्रकार अभेदोपचार से वासवदत्तामधिकृत्य कृता आख्यायिका के लिए 'वासवदत्ता' आदि प्रयोग साधु स्वीकार किए जाते हैं। एतदर्थ 'लुबाख्यायिकाभ्यो बहुलम्' वार्त्तिक स्वीकार करने की आवश्यकता नहीं।

शिशुक्रन्दीय,:—(शिशूनां क्रन्दनं शिशुक्रन्दः-तमधिकृत्य कृतो ग्रन्थः)

यसमभीयः,—(यमस्य सभा, यमसभम्, तदधिकृत्य कृतो ग्रन्थः) किरातार्जुनीयम्, - (किरातश्चार्जुनश्चेति किरातार्जुनम्, तदधिकृत्य कृतम्) इन्द्रजननीयम्,-(इन्द्रजननमाधिकृत्य कृतम्) विरुद्धभोजनीयम्, (विरुद्धभोजनमधिकृत्य कृतम्) 'शिशुक्रन्दयमसभद्वन्द्वेन्द्रजननादिभ्यश्छः' से 'छ' प्रत्यय होता है

स्रौघ्नः,—(स्रुघ्नो निवासोऽस्य) 'सोऽस्य निवासः' (अ० नि० सू०) से अण् (आदि) प्रत्यय होता है।

स्रौघ्नः,—(स्रुघ्नोऽभिजनोऽस्य) 'अभिजनश्च' (अ० नि० सू०) से 'अण्' (आदि) प्रत्यय होता है। जहाँ व्यक्ति स्वयं निवास करता है, उसे 'निवास' कहते हैं। तथा जहाँ उसके पूर्वपुरुष रहते आए हों, उसे 'अभिजन' कहते हैं।

हृद्गोलीयाः,—(हृद्गोलः पर्वतोऽभिजनो येषामायुधजीविनां ते) 'आयुधजीविभ्यश्छः पर्वते' से 'छ' प्रत्यय होता है।

आयुधेति किं—(ऋक्षोदः पर्वतोऽभिजनो येषांते) आर्क्षोदा द्विजाः,—औत्सर्गिक 'अण्' होता है। आदिवृद्धि।

शाण्डिक्यः,—(शण्डिकोऽभिजनोऽस्य) 'शण्डिकादिभ्यो ञ्यः' से 'ञ्य' प्रत्यय होता है। ञित्वात् आदिवृद्धि।

सैन्धवः,—(सिन्धुदेशोऽभिजनोऽस्य) ताक्षशिलः,—(तक्षशिला नगरी अभिजनोऽस्य) 'सिन्धुतक्षशिलादिभ्योऽणञौ' से प्रथम प्रयोग में 'अण्' और २तीय में 'अञ्' प्रत्यय होता है। आदिवृद्धि। स्वर में भेद।

तौदेयः,—(तूदी-अभिजनोऽस्य) शालातुरीयः—(शलातुरोऽभिजनोऽस्य)

वार्मतेयः,—(वर्मती—अभिजनोऽस्य) कौचवार्यः—(कूचवारोऽभिजनोस्य) 'तूदीशलातुरवर्मतीकूचवाराड्ढक्छण्ढञ्यकः' से क्रमशः 'ढक्' 'छण्' 'ढञ्' और 'यक्' प्रत्यय होते हैं। सर्वत्र आदिवृद्धि। यस्येति च। 'ढ्' को एय् 'छ्' को ईय्।

स्रौघ्नः,—(स्रुघ्नो भक्तिः—भज्यते सेव्यत इति भक्तिः—अस्य) 'भक्तिः' सूत्र से (अ० नि० सू०) 'अण्' (आदि) प्रत्यय होते हैं।

आपूपिकः, पायसिकः—(अपूपो भक्तिरस्य) 'अचित्ताददेशकालाट्ठक्' से 'ठक्' प्रत्यय होता है। यह ठक् प्राणीवाचक, देशवाचक, और काल-वाचक से नहीं होता है। उक्त प्रकार के शब्दों से औत्सर्गिक अण् होता है। दैवदत्तः, स्रौघ्नः, ग्रैष्मः।

माहाराजिकः,—(महाराजो भक्तिरस्य) 'महाराजाट्ठञ्' से 'ठञ्' होता है। 'ठ' को इक। आदिवृद्धि।

वासुदेवकः, अर्जुनकः,—(वासुदेवः—अर्जुनो वा भक्तिरस्य)

'वासुदेवार्जुनाभ्यां वुन्' से वुन्' होता है। 'वु' को अक। अलोप। नि
होने से वृद्धि नहीं होती है।

ग्लौचुकायनकः, नाकुलकः,—(ग्लुचुकायनिः,–नकुलो वा भक्तिरस्य)
'गोत्रक्षत्रियाख्येभ्यो बहुलं वुञ्' से वुञ् होता है।

बहुलग्रहण के कारण (क्वचिदप्रवृत्तिः) पाणिनीयः—(पाणिनो भक्ति-
रस्य) में वुञ् नहीं होता है।

आङ्गकः,—(अङ्गा जनपदो, क्षत्रिया वा भक्तिरस्य) 'जनपदिनां जनपद-
वत् सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने' ('जनपदतदवध्योश्च' के प्रकरण में
जो प्रत्यय जिन प्रकृतियों से निर्दिष्ट किए गए हैं, वे सब 'तदस्य भक्तिः' अर्थ में
भी होते हैं) से वुञ् (अवृद्धादपि० से) अण् को बाधकर होता है। 'वु' को
अक। आदिवृद्धि।

जनपदिनां किं पाञ्चालः,–(पञ्चाला ब्राह्मणाभक्तिरस्य) जनपदस्वामि-
वाचकता न होने से अतिदेश नहीं होता है। अभेदोपचार के बल पर
ब्राह्मणबोधकता पञ्चाल की है। औत्सर्गिक 'अण्' होता है।

जनपदेनेति किं पौरवीयः,—(पौरवो राजा भक्तिरस्य) सर्वातिदेश नहीं
होता है।

पाणिनीयम्,—(पाणिनीना प्रोक्तम् 'तेन प्रोक्तम्') (अ० नि० सू०) से
'छ' प्रत्यय उक्त अर्थ में होता है।

तैत्तिरीयाः,—(तित्तिरिणा प्रोक्तमधीयते) 'तित्तिरिवरतन्तुखण्डिकोखा-
च्छण्' से 'छण्' प्रत्यय होता है। 'छ' को ईय्। णित्वात् वृद्धि। यहाँ 'छण्'
प्रोक्त अर्थ में आता है, और तदन्त से 'तदधीते तद्वेद' से विहित 'अण्' का
'प्रोक्ताल्लुक्'से लुक् होता है। यह अध्येत्रर्थ प्रदर्शन का प्रयास 'छन्दोब्राह्मणानि
च तद्विषयाणि' (छन्द और ब्राह्मण प्रोक्तप्रत्ययान्त होने पर अध्येतृ वेदितृ
प्रत्यय के विना प्रयुक्त नहीं किए जाने चाहियें) के नियमरक्षणार्थं किया जाता
है। यही प्रकार आगे भी जानना चाहिये।

काश्यपिनः—(काश्यपेन प्रोक्तमधीयते) 'काश्यपकौशिकाभ्यामृषिभ्यां

। ...निः' से 'णिनि' होता है। अनुबन्धोंकी इत्संज्ञा होनेपर 'दण्डी' की तरह रूप ...ते हैं। प्रोक्त प्रत्यय से अध्येतृप्रत्यय का विधान और उसका लुक् पूर्ववत्।

...रस्य। हारिद्रविणः—(कलाप्यन्तेवासिना—हरिद्रुणा प्रोक्तमधीयते) आलम्बिनः- ...शम्पायनान्तेवासिना, आलम्बुना प्रोक्तमधीयते) 'कलापिवैशम्पायनान्तेवासि- ...भ्यश्च' से 'णिनि' होता है। कलापी भी वैशम्पायनका अन्तेवासी (शिष्य) है, ...: परम्परया 'हारिद्रविणः' में वैशम्पायनान्तेवासित्वेन 'णिनि' हो ही जाता, ...: कृत कलापिग्रहण बतलाता है कि, अन्तेवासी (शिष्य) का अन्तेवासी ...में गृहीत नहीं होता है।

...र्थे। भाल्लविनः—(भल्लुना प्रोक्तमधीयते) शाट्यायनिनः - (शाट्यायनेन ...क्तमधीयते) पैङ्गी,—(पिङ्गेन प्रोक्तः कल्पः) 'पुराणप्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' ...तृतीयान्त से प्रोक्त अर्थ में णिनि होता है, जो प्रोक्त (कथित) है, ... यदि चिरन्तन मुनि द्वारा प्रोक्त ब्राह्मण या कल्प हो तो) से 'णिनि' ...ता है।

पुराणेति किम् ,—याज्ञवल्कानि, (याज्ञवल्क्येन प्रोक्तानि ब्राह्मणानि) - ...श्मरथः,—(आश्मरथ्येन प्रोक्तः कल्पः) महाभारतके अनुसार याज्ञव- ...ादि अर्वाचीन ऋषि हैं, अतः 'णिनि' नहीं होता है। औत्सर्गिक 'अण्' ...े पर 'आपत्यस्य०' से यलोप होता है। भाष्यमतानुसार याज्ञवल्क्यादि भी, ...ीन मुनि माने जाते हैं, अतः प्राप्त 'णिनि' के अवरोधार्थ 'याज्ञवल्क्यादिभ्यः ...षेधस्तुल्यकालत्वात्' वचन निर्मित किया गया है।

शौनकिनः,—(शौनकेन प्रोक्तमधीयते) 'शौनकादिभ्यश्छन्दसि' से णिनि' ...ता है।

कठाः चरकाः,—(कठेन, चरकेण वा प्रोक्तमधीयते) प्रथम में वैशम्पा- ...न्तेवासित्वात् विहित 'णिनि' का, और द्वितीयमें सामान्य 'अण्' का ...ऽचरकाल्लुक्' से लुक् होता है।

कालापाः - (कलापिना प्रोक्तमधीयते) 'कलापिनोऽण्' से 'अण्' होता ...। 'सब्रह्मचारिपीठसर्पिकलापिकौथुमितैतिलिजाजलिलाङ्गलिशिलालिशिखण्डिसूक-

रसद्मसुपर्वणामुपसंख्यानम्' (वा.) से 'इनण्यनपत्ये' द्वारा प्राप्त प्रकृतिभा
बाधकर टिलोप होता है।

छागलेयिनः—(छगलिना प्रोक्तमधीयते) 'छगलिनोढिनुक्' से 'ढि
प्रत्यय होता है। 'ढ्' को एय्।

पाराशरिणो भिक्षवः,—(पाराशर्येण प्रोक्तं भिक्षुसूत्रमधीयते)

शैलालिनो नटाः—(शिलालिना प्रोक्तं नटसूत्रमधीयते) 'पा
शिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः' से 'णिनि' (मण्डूकप्लुति से अनुवृत्त) होता

कर्मन्दिनो-भिक्षवः—(कर्मन्देन प्रोक्तमधीयते) कृशाश्विनो नटा
(कृशाश्वेनप्रोक्तमधीयते) 'कर्मन्दकृशाश्वादिनिः' से 'इनि' प्रत्यय होता है

वृद्धिनिमित्त ञित्–णित् आदि न होने से वृद्धि नहीं होती है। यह
भिक्षुनटसूत्र विषयक ही है।

सौदामनी,—(सुदाम्ना-अद्रिणा एकदिक्) 'तेनैकदिक्' (अ. नि.
से 'अण् (आदि) प्रत्यय होते हैं। 'अन्' सूत्रसे प्रकृतिभाव (टिलोपा
होता है। 'टिड्ढाणञ्' से 'ङीप्' होता है। सौदामनी विद्युत्।

पीलुमूलतः,—(पीलुमूलेन-एकदिक्) 'तसिश्च' से उक्त अर्थ में 'त
प्रत्यय होता है। 'स्वरादि निपातमव्ययम्' से तसि प्रत्ययान्त की अव्यय
होती है।

उरस्यः, उरस्तः—(उरसा-एकदिक्) 'उरसो यच्च'से 'यत्' तथा
'तसि' प्रत्यय होता है।

पाणिनीयम्,—(पाणिनिना उपज्ञातम्) 'उपज्ञाते' (अ. नि.
से (अण् आदि) 'छ' प्रत्यय होता है। विना उपदेश के जो ज्ञात हो
उपज्ञात कहते हैं। अर्थात्, प्रथम-आविष्कृत।

वाररुचो-ग्रन्थः,—(वररुचिना कृतः) 'कृते ग्रन्थे' (अ. नि. सू
'अण्' (आदि) प्रत्यय होता है।

माक्षिकं, मधु –(मक्षिकाभिः कृतम्) 'संज्ञायाम्' (अग्रन्थार्थ सू
से 'अण्' होता है।

कौलालकम् , वारुडकम् ,—(कुलालेन, वरुडेन वा कृतम्) 'कुलालादि-
ोवुञ्' से वुञ् होता है। 'वु' को अक। आदिवृद्धि।

क्षौद्रम् भ्रामरम् , पादपम् , :—(क्षुद्राभिः कृतम् आदि) 'क्षुद्राभ्रमर
टरपादपादञ्' से 'अञ्' प्रत्यय होता है।

औपगवम् – (उपगोरिदम्) 'तस्येदम्' (अ. नि. सू., से 'अण्' (आदि)
त्यय होता है।

सांवहित्रम् ,:—(संवोढुरिदं स्वम्) 'वहेस्तुरणिट् च' (तृजन्त और
न्नन्त वह से 'अण्' (पूर्वसिद्ध) एवं 'तृ' को इडागम होता है।) से 'अण्,'
एवं संवह से परे 'तृ' को 'इट्' होता है। 'यस्येति च'। आदिवृद्धि। ढत्वादिके
असिद्ध होने से अलौकिक प्रक्रियावाक्य में ही 'ढ' विधान से पूर्व इट्
ोता है।

आग्नीध्रम् , :—(अग्निमिन्धे अग्नीत् , तस्य स्थानम्) 'अग्नीधः शरणे
रण्भंच' से 'रण्' प्रत्यय एवं भ संज्ञा होती है। भ संज्ञा होने से ध् को जश्त्व
नहीं होता है। तात्स्थ्यादाग्नीध्रः (सोऽपि)

सामिधेन्यो मन्त्रः —(त्वया अग्निः समिध्यते सा समित्, तस्या आधानः)
'समिधामाधाने षेण्यण्' (वा.) से 'षेण्यण्' प्रत्यय होता है।

सामिधेनीऋक्,:—स्त्रीत्वविवक्षा में षित्वात् ङीष् होता है 'हलस्तद्धि-
तस्य' से य लोप होता है।

रथ्यं-चक्रम् ,:–(रथस्येदम्) 'रथाद्यत्' से 'यत्' होता है। अलोप।

आश्वरथम् ,:—(अश्वरथस्येदम्) 'पत्रपूर्वादञ्' से 'अञ्' होता है।
आदिवृद्धि। 'पत्र' का अर्थ है, वाहन।

आश्वम् , (अश्वस्येदं वाहनम्) आध्वर्यवम् (अध्वर्योरिदम्) पारि-
षदम् ,—(परिषद इदम्) 'पत्राध्वर्युपरिषदश्च' से अञ् होता है। यहाँ
प्रथम प्रयोग में 'पत्राद्वाह्ये' (वा.) अर्थ निर्धारण करता है।

हालिकम , सैरिकम् , :—(हलस्य सीरस्य वा इदम्) 'हलसीराट्ठक्' से
'ठक्' होता है।

काकोलूकिका, (काकोलूकस्यवैरम्) कुत्सकुशिकिका,—(कुत्सकुशि-

कयोर्मैथुनिका) 'द्वन्द्वाद्वुन्वैरमैथुनिकयोः' से 'वुन्' प्रत्यय होता है। 'कु
स्त्रियाम्' के अनुसार स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग होता है।

दैवासुरम्, (देवासुरयोर्वैरम्) 'द्वन्द्वाद्वुन्०' से प्राप्त वुन्न् का 'वैरे
सुरादिभ्यः प्रतिषेधः (वा.) से निषेध होने से 'तस्येदम्' से अण्' होता है।

औपगवकम्, (उपगोरिदम्) 'गोत्रचरणाद्वुञ्' से वुञ् होता
'वु' को अक।

काठकम्—(कठस्येदम्) 'चरणाद्धर्माम्नाययोरितिवक्तव्यम्' (वा,
निर्धारित अर्थ में पूर्वसूत्र से 'वुञ्' होता है।

वैदः, वैदम्, (वैदस्य, संघोऽङ्कोघोषो लक्षणं वा) गार्गः,—(गार्
संघोऽङ्को घोषो वा) दाक्षः—(दाक्षेः संघोऽङ्को घोषो वा) 'संघाऽङ्कलक्षणे
ष्वञ्ञिञामण्' (घोषग्रहणमपिकर्त्तव्यम्) से क्रमशः अञन्त, यञन्द, और इञ्
से 'अण्' होता है। द्वितीय प्रयोगमें 'आपत्यस्य०' से 'य' लोप होता है।
परम्परा सम्बन्ध कोअङ्क और साक्षात् सम्बन्धको 'लक्षण' कहा जाता है।

शाकलः, शाकलकः, शाकलम्, शाकलकम्,ः—(शाकलेन प्रो
मधीयते, शाकलास्तेषां संघोऽङ्को घोषो लक्षणं वा) 'शाकलाद्वा' से वैकल्
'अण्' होता है। पक्ष में 'गोत्रचरणात्०' से वुञ् होता है।

छान्दोग्यम्,ः—औक्थिक्यम्, याज्ञिक्यम्, वाह्वृच्यम्, नाट्यम्
(छन्दोगानां धर्म आम्नायो वा) 'छन्दोगौक्थिकयाज्ञिक वह्वृचनटाञ्ञ्यः'
'ञ्य' प्रत्यय होता है।

दाक्षा—दण्डमाणवाः, शिष्या वा, (दाक्षेरिमे) 'गोत्रचरणात्०' से प्रा
वुञ् का 'नदण्डमाणवान्तेवासिषु' से निषेध होने के कारण 'इञश्च' से अ
होता है।

रैवतिकीयः, वैजवापीयः,—(रैवतिकस्य, अयम्) 'रैवतिकादिभ्यश्छः
से 'वुञ्' को वाधकर 'छ' होता है।

कौपीञ्जलः, हास्तीपदः, (कुपिञ्जलस्यापत्यम्—निपातनादण्—कौपिञ्जलः
तस्यायम्) (हस्तिपादस्यापत्यम् हास्तिपदः,-निपादनादण्, पद्भावश्च, तस्यायम्
'कौपिञ्जलहास्तिपदादण् वाच्यः' (वा.) से 'अण' होता है।

आथर्वणः—(आथर्वणिकस्यायम्) 'आथर्वणिकस्येकलोपश्च' से इक का लोप, तथा चकारात् 'अण्' होता है। यह कार्य धर्म या, आम्नाय अर्थ में होता है। 'गोत्रचरणात्०' से प्राप्त वुञ् का अपवाद है।

इति शैषिकप्रकरणम्।

अथ प्राग्दीव्यतीय-प्रकरणम्

आश्मः, भास्मनः मार्त्तिकः, :—(अश्मनो, भस्मनो, मृत्तिकाया वा विकारः) 'तस्य विकारः' (षष्ठयन्त से विकार अर्थ में अणादि प्रत्यय होते हैं) से 'अण्' होता है। प्रथम प्रयोग में 'अश्मनो विकारे टिलोपो वक्तव्यः' (वा) से 'टि' (अन् भाग) का लोप होता है। अन्तिम प्रयोग में 'यस्येति च' से आलोप होता है।

मायूरः, मौर्वम्, पैप्पलम् ,:—(मयूरस्य मूर्वायाः, पिप्पलस्य च, अवयवो-विकारो वा) 'अवयवे च प्राण्योषधिवृक्षेभ्यः' से अवयव, एवं विकार अर्थ में 'अण्' (आदि) प्रत्यय होता है।

वैल्वम् ,:—(विल्वस्यावयवोविकारो वा) 'विल्वादिभ्योऽण्' से 'अण्' होता है। अलोप। आदिवृद्धि।

तार्कवम् , तैत्तिडीकम् , (तर्कोः, तीत्तिडीकस्य वा विकारोऽवयवो वा) 'कोपधाच्च' से 'अण्' होता है। प्रथमप्रयोगमें 'ओर्गुणः' से गुण होता है। आदिवृद्धि।

त्रापुषम् , जातुषम्,—(त्रपुनो, जतुनो वा विकारः) 'त्रपुजतुनोः षुक्' से 'अण्' तथा उसके सन्नियोग में 'षुक्' का आगम होता है आदिवृद्धि।

दैवदारवन् , भाद्रदारवम् , :—(देवदारोर्भद्रदारोर्वा विकारः) 'ओरञ्' से 'अञ्' होता है।

दाधित्थम्, कापित्थम् ;—(दधित्थस्य, कपित्थस्य वा विकारः) 'अ दात्तादेश्च' से 'अञ् प्रत्यय होता है।

पालाशम्, कारीरम् ;—(पलाशस्य, कारीरस्य वा विकारः) 'पल शादिभ्यो वा' से 'अञ्' होया है। 'तद्धितेष्वचामादेः' से आदिवृद्धि।

शामीलं भस्म, शामीली स्रुक् ;—(शम्या विकारः) 'शम्याः ष्लञ् से 'ष्लञ्' होता है। षित्वात्—द्वितीय प्रयोग में 'ङीष्' होता है।

अश्ममयम्, आश्मनम्, :—(अश्मनो विकारोऽवयवो वा) 'मयड् वैतयोर्भाषायामभक्ष्याच्छादनयोः' से विकल्पेन 'मयट्' होता है। पक्ष में 'त विकारः' से 'अण्' होता है। यहाँ प्रथम प्रयोग में 'अन्तर्वर्त्तिनी विभक्ति निमित्त मानकर पद संज्ञा, तथा पद होने से न लोप होता है। २तीय में 'अ सूत्र से प्रकृतिभाव होने के कारण टिलोप नहीं होता है। 'अश्मनो विकारे वार्त्तिक में प्रसिद्धपाषाण वाचक अश्मन् शब्दका ग्रहण है, अतः 'टिलोप' न होता है। प्रकृत प्रयोग में 'अश्मन्' का अर्थ तन्नामक ऋषि है। जिसका नाम अश्मक। (स्वार्थ में विहित 'क प्रत्ययान्त अश्मन्) है। यह 'अश्म या 'अश्मन्' कल्माषाङ्घ्रि नामक राजाकी मदयन्ती नामक भार्या में वसिष्ठ उत्पादित पुत्र की संज्ञा है।

अभक्ष्येत्यादि किम्, मौद्गः,-सूपः, कार्पासमाच्छादनम् ;—(मुद्गस्यकर्पासस्य वा विकारः) 'मयट्' न होकर अण् ही होता है।

आम्रमयम्, शरमयम् ;—(आम्रस्य, शरस्य वाऽवयवो विकारो वा 'नित्यं वृद्ध शरादिभ्यः' 'मयड्वा०' से प्राप्त वैकल्पिक यमट् को बाधकर नि 'मयट्' होता है।

त्वङ्मयम्, वाङ्मयम्, :—(त्वचो, वाचोऽवयवो विकारो वा) 'एक चो नित्यम् (वा.) से नित्य 'मयट्' होता है। आरम्भ सामर्थ्य से नित्यत्व सिद्ध था पुनः 'नित्यं वृद्ध०' में कृत नित्य ग्रहण वृद्धशरादि अतिरिक्त शब्दों से भी 'मयट्' विधानार्थ है। इसी के फलस्वरूप 'एका नित्यम्' वचन है।

कथं तर्हि—आप्यम्–अम्मयम्, —(अपां विकारः) एकाच् होने से नित्य मयट् होना चाहिए, आशंका का उत्तर यह है कि—'अपामिदम्' विग्रह में 'तस्येदम्' से 'अण्' करनेपर 'गुणवचन ब्राह्मणादि०' से 'ष्यञ्' होता है। अतः 'आप्यम्' प्रयोग की असाधुता की सम्भावना नहीं।

गोमयम्, (गोः पुरीषं) 'गोश्च पुरीषे' से 'मयट्' होता है।

पिष्टमयं-भस्म : —(पिष्टस्य विकारः) 'पिष्टाच्च' से 'मयट्' होता है। सामान्यविवक्षा (पिष्टस्येयम्) में 'तस्येदम्' से 'अण्' विधान के कारण 'पैष्टी-सुरा'—(टिड्ढाणञ् से ङीप्) आदि प्रयोग भी साधुस्वीकार किए गए हैं।

पिष्टकः,—(पिष्टस्य विकारविशेषः पूपः) 'संज्ञायां कन्' से 'कन्' प्रत्यय होता है।

व्रीहिमयः—पुरोडासः, –(व्रीहेर्विकारः) 'व्रीहेः पुरोडाशे' से 'मयट्' होता है। पुरोडाशातिरिक्त अर्थ में 'विल्वादिभ्योऽण्' से 'अण्' होकर 'व्रैहम्' प्रयोग होता है।

तिलमयम्, यवमयम्,—(तिलस्य, यवस्य वाऽवयवो विकारो वा) 'असंज्ञायां तिलयवाभ्याम्' से 'मयट्' होता है। संज्ञावाचकता स्थिति में तैलम्, यावकः। (तिलस्य यवस्य विकारः) विकारार्थक 'अण्' होता है। द्वितीय प्रयोग में 'यवादिभ्यः' से 'कन्' होता है।

तालं धनुः, ऐन्द्रायुधम्,ः —(तालस्य, इन्द्रायुधस्यावयवो विकारो वा) 'तालादिभ्योऽण्' से प्रथम प्रयोग में 'नित्यं वृद्ध०' से प्राप्त'मयट्' को, तथा द्वितीय में 'अनुदात्तादेश्च' से प्राप्त 'अञ्' को बाधकर 'अण्' होता है। प्रथम प्रयोग में 'तालाद्धनुषि' (वा०) से निर्धारित होने के कारण, धनुर्वाचकता स्थिति में ही 'अण्' होता है। अन्यत्र 'तालमयन्'। 'नित्यं वृद्ध०' से मयट्।

हाटकः, तापनीयः, सौवर्णः,—(हाटकस्य, तपनीयस्य, सुवर्णस्य विकारोऽवयवोवा।) 'जातरूपेभ्यः परिमाणे' से (बहुवचन निर्देश के कारण पर्यायवाचकों से भी) 'अण्' होता है। आदिवृद्धि।

परिमाणे किम्, हाटकमयी यष्टिः—(हाटकस्य विकारः) 'नित्यंवृद्ध०' से 'मयट्' होता है। टित्वात् ङीप्।

शौकम्, वाकम्, राजतम्,—(शुकस्य, वकस्य, रजतस्य विकारोऽवयवो वा) 'प्राणिरजतादिभ्योऽञ्' से 'अञ्' होता है।

शामीलम्, दाधित्थम्, कापित्थम्, :—(शम्या, दधित्थस्य, कपित्थस्य वा विकारः शामीलः, दाधित्थः, कापित्थः—एतेषां (क्रमशः) विकारः) 'ञितश्च तत्प्रत्ययात्' से ष्लञ्, (शम्याः ष्लञ्) और 'अञ्' (अनुदात्तादेश्च) प्रत्यान्त उक्त शब्दों में पुनः उसी अर्थ में 'नित्यंवृद्ध०' से प्राप्त 'मयट्' को बाधकर 'अञ्' होता है।

ञितः किम् वैल्वमयम्: – (विल्वस्य विकारो वैल्वस्तस्यविकारोऽवयवो वा) ञिदन्त न होने के कारण 'अञ्' नहीं होता है। 'नित्यं वृद्ध०' से 'मयट्' होता है।

नैष्किकः, शत्यः, शतिकः, – (निष्कस्य, शतस्य वा विकारः) 'क्रीतवत्परिमाणात्', ('प्राग्वतेष्ठञ्' से आरम्भकर, क्रीत अर्थ में जो प्रत्यय जिस प्रकृति आदि विशेषणपूर्वक परिमाणवाचक (परिच्छेदकमात्र) शब्द से कहे गये हैं, वे सभी उसी प्रकार विकार अर्थमें भी होते हैं।) से अधिकारप्राप्त 'असमासे निष्कादिभ्यः' के अधिकारस्थ 'तेनक्रीतम्' से प्रथम प्रयोगमें 'ठञ्' होता है। द्वितीय में उक्त रीति से ही 'शताच्च ठन्यतावशते' से 'यत्', और तृतीय में 'ठन्' होता है।

औष्ट्रकः, (उष्ट्रस्य विकारः) प्राणिरजतादिभ्यः' से प्राप्त 'अञ्' को बाधकर, 'उष्ट्राद्वुञ्' से 'वुञ्' होता है। वु को अक। आदिवृद्धि।

औमकम्, औमम्, और्णकम्, और्णम्, —(उमायाः, ऊर्णाया वा विकारः) 'उमोर्णयोर्वा' से विकल्पेन 'वुञ्' होता है। पक्ष में औत्सर्गिक 'अण्' तथा 'अनुदात्तादेश्च' से 'अञ्' होता है।

ऐणेयम्,—(एण्या विकारः) 'एण्या ढञ्' से 'ढञ्' 'प्राण्यञ्' को बाधकर होता है। स्त्रीलिंग निर्देशके कारण पुँलिङ्ग से (एणस्य विकारः) विवक्षा करनेपर प्राण्यञ् होता है। ऐणम्।

गव्यम्, पयस्यम्,—(गोः, पयसो वा विकारः) 'गोपयसोर्यत्' से 'यत्' होता है। प्रथम प्रयोगमें 'वान्तोयि प्रत्यये' से अवादेश होता है।

द्रव्यम् ,—(द्रुर्वृक्षस्तस्यविकारोऽवयवो वा) 'द्रोश्च' से 'यत्' प्रत्यय होता है। 'ओर्गुणः'। वान्तोयि प्रत्यये'। पदार्थ बोधक द्रव्य शब्द की साधुता 'द्रु' धातु से 'अचोयत्' द्वारा 'यत्' (गुणैर्द्रूयते) करके होती है।

द्रुवयम् ,—(द्रोर्विकारभूतं प्रस्थादिपरिमाणम्) 'माने वयः' से 'द्रोश्च' से प्राप्त 'यत्' को बाधकर 'वय' प्रत्यय होता है। 'यौतवं,—द्रुवयं, पाय्यम्',—इति मानार्थकं त्रयम्।

आमलकम् ,—(आमलक्या विकारोऽवयवो वा—फलम्) 'नित्यंवृद्ध०' से आगत 'मयट्' का 'फलेलुक्' से लुक् होता है। 'लुक् तद्धितलुकि' से 'ङीष्' का लुक् होता है। 'सु' को अमादि।

प्लाक्षम् ,—(प्लक्षस्य विकारोऽवयवो वा) 'प्लक्षादिभ्योऽण्' से 'अण्' होता है तथा विधानसामर्थ्यात् उसका लुक् नहीं होता है। अलोप। आदिवृद्धि।

नैयग्रोधम् ,—(न्यग्रोधस्य विकारोऽवयवो वा) 'प्लक्षादिभ्योऽण्' से 'अण्' होता है। णित्वात् प्राप्त आदिवृद्धि को निषिद्ध कर 'न्यग्रोधस्य च केवलस्य' से ऐजागम (यकार से पूर्व) होता है।

जाम्बवम् ,—(जम्ब्वा विकारोऽवयवो वा-फलम्) 'जम्ब्वा वा' से 'अण्' विकल्पेन होता है। पक्षमें 'ओरञ्' से विहित 'अञ्' का 'फले लुक्' से लुक् होता है। जम्बु। 'ह्रस्वो नपुंसके' से ह्रस्व।

जम्बूः—(जम्ब्वा विकारोऽवयवो वा—फलं फलानि वा) 'लुप् च' से फलार्थक प्रत्यय 'अञ्' (ओरञ्) का लुप् होता है। 'लुपि युक्तवद्व्यक्ति-वचने' से विशेष्यलिङ्गवचनता को बाधकर यथाप्रकृति लिङ्गवचन (स्त्री लिङ्ग एकवचन) होता है।

व्रीहयः, मुद्गाः, —(व्रीहीणां मुद्गानां वा विकारोऽवयवो वा) 'बिल्वा-दिभ्योऽण्' से आगत 'अण्' का 'फलपाकशुषामुपसंख्यानम्' (वा०) से (जो फल पक जानेपर सूख जाते हैं, उनसे विकारार्थक प्रत्यय का 'लुप्' होता है।) से'लुप्' होता है। 'लुपि युक्त०' से युक्तवद्भाव होता है।

मल्लिका, जाती, विदारी, (मल्लिकायाः, जात्याः, विदार्या वा पुष्पं,

मूलं वा) 'अनुदात्तादेश्च' से आगत विकारार्थक 'अञ्' का 'पुष्पमूले बहुलम्' से लुप् होता है। 'लुपि युक्त०' से युक्तवद्भाव। 'बहुल' ग्रहण के फलस्वरूप 'पाटलानि पुष्पाणि' (भाष्यानुसार मूलानि) 'साल्वानि मूलानि' में क्रमशः बिल्वादित्वात् और अनुदात्तादित्वात् आगत 'अण्' और 'अञ्' का 'लुप्' नहीं होता है।

इसी बहुल के फलस्वरूप 'अशोकम्, करवीरम्', में लुक् होता है जिसके फलस्वरूप विशेष्यानुसार लिङ्गवचन होता है।

हरीतक्यः—(हरीतक्याः फलानि) औत्सर्गिक 'अण्' का 'हरीतक्यादिभ्यश्च' से लुप् होता है। 'हरितक्यादिषु व्यक्तिः' से निर्धारित होने के कारण लिङ्ग ही प्रकृतिवत् होता है। वचन विशेष्यानुसार होता है।

कांस्यम्—(कंसाय हितं कंसीयं, तस्य विकारः) पारशवः,—(परशवे हितं परशव्यम्, तस्य विकारः) 'प्राक्क्रीताच्छः' के अधिकारस्थ 'तस्मै हितम्' से विहित 'छ' का लुक् तथा समुदाय से 'यञ्' प्रथम प्रयोग में, तथा २तीय में 'उगवादिभ्यो यत्' से विहित 'यत्' का लुक् एवं 'अञ्' प्रत्यय का विधान "कंसीयपरशव्ययोर्यञञौ लुक् च" से होता है। आदिवृद्धि। २तीय प्रयोग में 'ओर्गुणः' से गुण, अवादेश होता है।

इति प्राग्दीव्यतीयप्रकरणम्।

—:०:—

अथ ठगधिकारः

माशब्दिकः,—(माशब्दः कारि इति य आह सः) 'प्राग्वहतेष्ठक्' के अधिकार में स्थित 'तदाहेति माशब्दादिभ्य उपसंख्यानम्' (वा०) से 'ठक्' प्रत्यय होता है। ठस्येकः। किति च।

स्वागतिकः, स्वाध्वरिकः,—(स्वागतं स्वाध्वरं वेत्याह) स्वाङ्गिः, व्याडिः,—(स्वङ्गस्य, व्यङ्गस्य, व्यड्स्य वाऽपत्यम्) व्यावहारिकः (व्यव

चरति) स्वापतेयम् ,–(स्वपतौ साधु) उक्त प्रयोगों में क्रमशः, ठक्, इञ्, ठक् और ठञ् का विधान करनेपर प्राप्त आदिवृद्धिको बाधकर 'नय्वाभ्यां०' और 'द्वारादीनां च' (स्वापतेयं में) से प्राप्त ऐजागम का 'स्वागतादीनां च' से निषेध होता है। प्रतिप्रसवक्रम से आदिवृद्धि होती है।

प्राभूतिकः, पार्याप्तिकः,—(प्रभूतं, पर्याप्तं वाऽह) 'आहौ प्रभूतादिभ्यः' से 'ठक्' होता है।

सौस्नातिकः, सौखशायनिकः,—(सुस्नातं, सुखशयनं वा पृच्छति) 'पृच्छतौ सुस्नातादिभ्यः' से 'ठक्' होता है। द्वितीय प्रयोग में 'अनुशतिकादित्वात्' उभयपद वृद्धि होती है।

पारदारिकः, गौरुतल्पिकः,—(परदाराः, गुरुतल्पं वा गच्छति) 'गच्छतौ परदारादिभ्यः' से 'ठक्' होता है।

आक्षिकः, आभ्रिकः, आक्षिकम्—(अक्षैर्दीव्यति, जयति, अभ्रया खनति–अक्षैर्जितं वा) 'तेन दीव्यति खनति जयति जितम्' से उक्तार्थ में 'ठक्' प्रत्यय होता है।

दाधिकम्, मारीचिकम्—(दध्ना, मरीचेन वा संस्कृतम्) 'संस्कृतम्' से 'ठक्' होता है। आदिवृद्धि।

कौलत्थम्, तैत्तिडीकम् (कुलत्थैः, तित्तिडीकैर्वा संस्कृतम्) 'कुलत्थकोपधादण्' से 'ठक्' को बाधकर 'अण्' होता है।

औडुपिकः—(उडुपेन तरति) 'तरति' से 'ठक' होता है।

गौपुच्छिकः—(गोपुच्छेन तरति) 'गोपुच्छाट्ठञ्' से 'ठक्' को बाधकर 'ठञ्' होता है। स्वर में भेद।

नाविकः, घटिकः, बाहुका–स्त्री—(नावा, घटेन, बाहुभ्यां–वा तरति) 'नौद्व्यचष्ठन्' से 'ठन्' प्रत्यय होता है। यहाँ सूत्र में 'ष्ठन्' स्वरूप का श्रावण, सन्धिकार्य के (ष्टुनाष्टुः) फलस्वरूप है, नकि प्रत्यय षित् है। इसी की सूचना के लिए अन्तिम प्रयोग में स्त्रीलिङ्ग की स्थिति दी गई है।

हास्तिकः, शाकटिकः—(हस्तिना, शकटेन वा चरति–गच्छति) दाधिकः–(दध्ना चरति–भक्षयति) 'चरति' से 'ठक्' होता है। 'चर् गति-

भक्षणयोः' के अनुसार 'चर्' धातु के दोनों ही अर्थ हैं।

आकर्षिकः—(आकर्षेण—निकषोपलेन—चरति) 'आकर्षात्—ष्ठल्' से 'ष्ठल्' होता है। षित्वात् 'ङीष्' होता है—

आकर्षिकी। 'आकष' (रेफ रहित) पाठ के अनुसार, 'आकषिकः' 'आकषिकी'।

पार्पिकः, आश्विकः, रथिकः—(पर्पेण, अश्वेन, रथेन वा—चरति) 'पर्पादिभ्यष्ठन्' से 'ष्ठन्' होता है। षित्वात् ङीष्। जिस काष्ठपीठ के सहारे पङ्गु चलते हैं—उसे पर्प कहते हैं।

श्वागणिकः, श्वागणिकी—(श्वगणेन चरति) 'श्वगणाट्ठञ्च' से 'ठञ्' प्रत्यय होता है। 'ठ' को इक। आदिवृद्धि। द्वारादित्वात्—(तदादिविधि के बल पर) प्राप्त ऐजागम का 'इकारादावितिवाच्यम्' वार्त्तिक से सहयुक्त 'श्वादेरिञि' से निषेध होता है। स्त्रीत्वविवक्षा में—'टिड्ढाणञ्०' से ङीप् होता है। पक्ष में चकारात् 'ष्ठन्' होता है—श्वगणिकः। स्त्रीत्वविवक्षा में षित्वात् 'ङीष्' श्वगणिकी।

श्वापदम्, शौवापदम्—(श्वपदस्येदम्) 'तस्येदम्' से 'अण्' होने पर 'पदान्तस्यान्यतरस्याम्' से वैकल्पिक ऐजागम होता है।

वैतनिकः, धानुष्कः—(वेतनेन, धनुषा वा जीवति) 'वेतनादिभ्यो जीवति' से 'ठक्' होता है। २ तीय प्रयोग में 'इसुसुक्०' से 'क' होता है।

वस्निकः—(वस्नेन, मूल्येन जीवति) क्रयविक्रयिकः, क्रयिकः, विक्रयिकः (क्रयविक्रयाभ्यां, क्रयेण, विक्रयेण वा जीवति) 'वस्नक्रयविक्रयाट्ठन्' से 'ठन्' प्रत्यय होता है। वृद्धिनिमित्त न होने से वृद्धि नहीं होती है।

आयुधीयः, आयुधिकः—(आयुधेन जीवति) 'आयुधाच्छ च' से 'छ' एवं 'ठन्' प्रत्यय होता है।

औत्सङ्गिकः—(उत्सङ्गेन हरति) 'हरत्युत्सङ्गादिभ्यः' से 'ठन्' होता है।

भस्त्रिकः, भस्त्रिकी—(भस्त्रया हरति) 'भस्त्रादिभ्यः ष्ठन्' से 'ष्ठन्' होता है। षित्वात् ङीष्।

विवधिकः—(विवधेन—उभयतो बद्धशिक्येन स्कन्धवाह्येन काष्ठेन हरति)

'विभाषा विवधात्' से 'ष्ठन्' होता है। षित्वात् ङीष्। विवधिकी। दीर्घ ईकार घटित वीवध शब्द भी इसी अर्थ में एकदेशविकृत न्याय के बल पर ष्ठन् का भागी होता है। वीवधिकः, वीवधिकी। पक्ष में 'ठक्'। वैवधिकः।

कौटिलिको-व्याधः कर्मारश्च—(कुटिलिकया गत्या उपकरणेन वा हरति) 'अण्-कुटिलिकायाः' से 'अण्' होता है। 'यस्येति च' से आलोप। णित्वात् आदिवृद्धि। 'कुटिलिका' व्याधों की गति विशेष, एवं कर्मारोपकरणभूत लौह को कहा जाता है।

आक्षद्यूतिकं-वैरम्—(अक्षद्यूतेन निर्वृत्तम्) 'निर्वृत्तेऽक्षद्यूतादिभ्यः' से 'ठक्' होता है।

कृत्रिमम्, पक्त्रिमम्—(कृत्या, पक्त्या वा निर्वृत्तम्) 'त्रेर्मम्नित्यम्' से 'क्त्रि' प्रत्ययान्त 'कृ' और 'पच्' से 'मप्' प्रत्यय नित्य ही होता है। नित्य-ग्रहण के फलस्वरूप विग्रह वाक्य में 'क्त्रि' प्रत्ययान्त के स्थान पर तत्समानार्थक 'क्तिन्' प्रत्ययान्त का प्रयोग किया गया है। 'कृ' और 'पच्' से 'ड्वितः क्त्रिः' से 'क्त्रि' होता है।

पाकिमम्, त्यागिमम्, (पाकेन, त्यागेन वा निर्वृत्तम्) 'भावप्रत्ययान्ता-दिमप् वक्तव्यः' से 'इमप्' प्रत्यय होता है।

आपमित्यकम्, याचितकम्—(अपमित्य, याचितेन वा निर्वृत्तम्) 'अपमित्ययाचिताभ्यां कक्कनौ' से 'अपमित्य' ल्यबन्त अव्यय से, और याचित शब्द से क्रमशः 'कक्' और 'कन्' होता है। प्रथम प्रयोग में 'किति च' से आदिवृद्धि।

दाधिकम्—(दध्ना संसृष्टम्) 'संसृष्टे' से 'ठक्' होता है।

चूर्णिनोऽपूपाः,—(चूर्णैः संसृष्टाः) 'चूर्णादिनिः' से 'इनि' प्रत्यय होता है। दण्डी' का तरह रुप चलते हैं।

लवणः– सूपः,—(लवणेन संसृष्टः 'संसृष्टे' से विहित 'ठक्' का 'लवणा-ल्लुक्' से लुक् होता है। यह लुक् है, न कि लुप्। अतः विशेष्यानुसार लिङ्ग-वचन में कोई बाधा नहीं। लवणं शाकम्।

मौद्ग–ओदनः,—(मुद्गेन संसृष्टः) 'मुद्गादण्' से 'अण्' होता है।

दाधिकम् ,—(दध्ना उपसिक्तम्) 'व्यञ्जनैरुपसिक्ते' से 'ठक्' होता है।

औजसिकः-शूरः, साहसिकश्चौरः, आम्भसिको मत्स्यः, (ओजसा साहसेन, अम्भसा वा वर्त्तते) 'ओजःसहोऽम्भसावर्त्तते' से उक्तार्थ में 'ठक्' होता है।

प्रातीपिकः, आन्वीपिकः, प्रातिलोमिकः, आनुलोमिकः, प्रातिकूलिकः, आनुकूलिकः—(प्रतीपमादि वर्त्तते) 'तत्प्रत्यनुपूर्वमीपलोमकूलम्' से 'ठक्' प्रत्यय होता है।

पारिमुखिक, पारिपार्श्विकः—(परिमुखं, परिपार्श्वं वा वर्त्तते) 'परिमुखं च' से 'ठक्' होता है।

द्वैगुणिकः, त्रैगुणिकः,—(द्विगुणार्थं त्रिगुणार्थं वा द्विगुणं त्रिगुणं तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्—तत् प्रयच्छति) 'प्रयच्छति गर्ह्यम्' से 'ठक्' होता है।

वार्धुषिकः,—(वृद्धिं प्रयच्छति) 'प्रयच्छति गर्ह्यम्' से 'ठक्' होने पर 'वृद्धेर्वृधुषिभावो वक्तव्यः' से वृद्धि के स्थान पर 'वृधुष्' आदेश होता है। आदि वृद्धि। रपरत्व 'ठ' को इक।

कुसीदिकः, कुसीदिकी,—(कुसीदं-वृद्धिः-तदर्थं द्रव्यं कुसीदं तत्प्रयच्छति) दशैकादशिकः, दशैकादशिकी,—(दशैकादशान् प्रयच्छति) 'कुसीददशैकादशात् ष्ठन् ष्ठचौ' से क्रमशः ष्ठन्, ष्ठच् प्रत्यय होते हैं। षित्वात् ङीष्। कुसीद वृद्धि-व्याज को कहते हैं, उसके लिए जो द्रव्य दिया जाता है उसे भी कुसीद (लक्षणया) कहा जाता है। दश च (वस्तुतः) एकादश च (एकादशार्थं) विग्रह में 'दशैकादश' शब्दकी साधुता होती है। 'संख्ययास्तत्पुरुषस्य' से विहित समासान्त 'अ' अव्यय से ही होता है, अतः निपातनात् 'अ' होता है। जो व्याजवृद्धि के लिए कर्ज देवे, और जो दश को ग्यारह बनाने के लिए देवे वे क्रमशः प्रयोगों के बोध्य होते हैं।

वादरिकः—(वदराण्युञ्छति) 'उञ्छति' सूत्र से 'ठक्' होता है।

सामाजिकः—(समाजं रक्षति) 'रक्षति' से 'ठक्' होता है।

शाब्दिकः, दार्दुरिकः,—(शब्दं, दर्दुरं वा करोति) 'शब्दं दर्दुरं करोति'

से 'ठक्' होता है। वाद्यभाण्ड को दर्दुर कहा जाता है।

पाक्षिकः, शाकुनिकः, मायूरिकः, मात्स्यिकः, मैनिकः, शाकुनिकः, मार्गिकः, हारिणिकः, सारङ्गिकः,—(पक्षिणो हन्ति-आदि) 'पक्षिमत्स्यमृगान् हन्ति' से 'ठक्' होता है। सूत्रनिर्दिष्ट शब्दों के स्वरूप (पक्षी आदि), पर्याय (शकुनि आदि), विशेष (मयूर आदि) इन तीनों का ग्रहण (व्याख्यान से) होता है। मत्स्य के पर्यायों में मीन का ही ग्रहण होता है।

पारिपन्थिकश्चौरः,—(पन्थानं वर्जयित्वा व्याप्य वा तिष्ठति हन्ति वा) 'परिपन्थं च तिष्ठति' से 'ठक्' होता है।

दाण्डमाथिकः, पादविकः, आनुपदिकः—(दण्डाकारो माथः, पन्था, दण्डमाथस्तं, पदवीम्, अनुपदं वा धावति) 'माथोत्तरपदपदव्यनुपदं वा धावति' से 'ठक्' होता है।

आक्रन्दिकः,—(आक्रन्दो दुःखिनां रोदनस्थानं धावति) 'आक्रन्दाट्ठञ्च' से 'ठञ्' एवं चकारात् 'ठक्' होता है। स्वर में भेद।

पौर्वपदिकः, औत्तरपदिकः,—(पूर्वपदमुत्तरपदं वा गृह्णाति) 'पदोत्तरपदं गृह्णाति' से 'ठक्' होता है।

प्रातिकण्ठिकः, आर्थिकः, लालामिकः,—(प्रतिकण्ठम्, अर्थं ललामं वा गृह्णाति) 'प्रतिकण्ठार्थललामं च' से 'ठक्' होता है।

धार्मिकः,—(धर्मं चरति) 'धर्मं चरति' सूत्र से 'ठक्' होता है।

अधार्मिकः,—(अधर्मं चरति) 'अधर्माच्चेति वक्तव्यम्' के सहयोग (वा.) से पूर्व सूत्रद्वारा 'ठक्'।

प्रातिपथिकः,—(प्रतिपथमेति) 'प्रतिपथमेति ठञ्च' से 'ठञ्' तथा चकारात् 'ठक्' होता है। स्वर में भेद। पन्थानं इति प्रतिपथम् (अव्य०)

सामवायिकः, सामूहिकः,—(समवायान्, समूहान् वा समवैति) 'समवायान्समवैति' से 'ठक्' होता है।

पारिषद्यः—(परिषदं समवैति) 'परिषदोण्यः' से 'ण्य' होता है।

सैन्यः, सैनिकः,—(सेनां समवैति) 'सेनाया वा' से विकल्पेन 'ण्य' होता है। पक्ष में 'ठक्' होता है।

लालाटिकः,—सेवकः, कौक्कुटिको भिक्षुः,—(ललाटं कुक्कुटीं पश्यति) 'संज्ञायां ललाटकुक्कुट्यौ पश्यति' से 'ठक्' होता है। कुक्कुटी शब्द उसके पातार्ह स्वल्प देश का (लक्षणा से) बोधक है।

आपणिकम् ,—(आपणस्य धर्म्यम्) 'तस्य धर्म्यम्' से 'ठक्' होता है।

माहिषम् , याजमानम् ,—(महिष्या यजमानस्य वा धर्म्यम्) 'अण् महिष्यादिभ्यः' से 'अण्' होता है। यस्येति च।

यात्रम्—(यातुर्धर्म्यम् 'ऋतोऽञ्' से 'अञ्' होता है। यण्।

नारी—(नरस्य धर्म्या) 'नराच्चेति वक्तव्यम्' से 'अञ्' होता है। 'टिड्ढाणञ् ०' से ङीप्।

वैशस्त्रम्—(विशसितुर्धर्म्यम्) 'विशसितुरिड्लोपश्चाञ्च वक्तव्यः' से 'अञ्' प्रत्यय, तथा 'विशसितृ' घटक इट् (इकार) का लोप होता है। यण्।

वैभाजित्रम्—(विभाजयितुर्धर्म्यम्) 'विभाजयितुर्णिलोपश्चाञ्च वाच्यः' से 'अञ्' प्रत्यय, तथा 'विभाजयितृ' घटक 'णिच्' का लोप होता है। यण्।

आपणिकः—(आपणस्यावक्रयः–राजग्राह्यं द्रव्यम्) 'अवक्रयः' से 'ठक्' होता है।

आपूपिकः—(अपूपाः पण्यमस्य) 'तदस्य पण्यम्' से 'ठक्' होता है।

लावणिक —(लवणं पण्यमस्य) 'लवणाट्ठञ्' से 'ठञ्' होता है।

किसरिकः, किसरिकी—(किसरं पण्यमस्य) 'किसरादिभ्यः ष्ठन्' से 'ष्ठन्' होता है। षित्वात् ङीष्। किसरादि, सुगन्धिद्रव्यबोधक हैं।

शलालुकः, शलालुकी, शालालुकः, शालालुकी—(शलालु सुगन्धि द्रव्यम्-पण्यमस्य) 'शलालुनोऽन्यतरस्याम्' से 'ष्ठन्' एवं पक्ष में 'ठक्' होता है।

मार्दङ्गिकः (मृदङ्गवादनं शिल्पमस्य) 'शिल्पम्' से 'ठक्' होता है।

माड्डुकः, माड्डुकिकः, झार्झरः, झार्झरिकः (मड्डुकवादनं झर्झर-वादनं वा शीलमस्य) 'मड्डुकझर्झरादणन्यतरस्याम्' से वैकल्पिक 'अण्' होता है। पक्ष में 'ठक्' होता है।

आसिकः, धानुष्कः—(असिर्धनुर्वा प्रहरणमस्य) 'प्रहरणम्' से 'ठक्' होता है।

पारश्वधिकः—(परश्वधं प्रहरणमस्य) 'परश्वधाट्ठञ्च, से 'ठञ्' तथा चकारात् 'ठक्' होता है। स्वर में भेद।

शाक्तीकः, याष्टीकः—(शक्तिर्यष्टिर्वा प्रहरणं यस्य) 'शक्तियष्ट्योरीकक्' से 'ईकक्' प्रत्यय होता है। आदिवृद्धि।

आस्तिकः, नास्तिकः, दैष्टिकः - (अस्ति, नास्ति वा परलोकः-इत्येवं मतिर्यस्य, दिष्टमिति मतिर्यस्य सः) 'अस्ति नास्ति दिष्टं मतिः' से 'ठक्' होता है। अस्ति, नास्ति शब्द निपात संज्ञक हैं। परलोक अर्थ की प्राप्ति, शब्दप्रयोग बल पर प्राप्त होती है। दिष्ट का अर्थ 'दैवं दिष्टं भागधेयं' के अनुसार भागधेय है।

आपूपिकः—(अपूपभक्षणं शीलमस्य) 'शीलम्' से 'ठक्' होता है।

छात्रः—(गुरोर्दोषावरणं छत्रं, तच्छीलमस्य) 'छत्रादिभ्योणः' से 'ण' होता है।

कार्मः—(कर्म शीलमस्य) 'छत्रादिभ्योणः' से 'ण' होनेपर—'कार्मस्ताच्छील्ये' से निपातनात् टिलोप होता है। यद्यपि—'नस्तद्धिते' से भी टिलोप सम्भव था, किन्तु 'अण्कार्यं ताच्छीलिके णेऽपि' (प०) से 'अण्' निमित्तक कार्यों की तच्छीलार्थक—'ण' परे भी प्रवृत्ति विहित होने से, 'अन्' सूत्र से प्रकृतिभाव का निषेध हो जाता, अतः स्वतन्त्र वचन आवश्यक हुआ। इस प्रकार 'अण्' की समानता के फलस्वरूप :—

चौरी, तापसी—(चुरा, तपो वा शीलमस्याः) में छत्रादित्वात् 'ण' होनेपर 'टिड्ढाणञ्०' से ङीप् हो गया।

ताच्छील्ये किं, कार्मणः—तच्छीलार्थक न होने से टिलोप नहीं होता है।

ऐकान्यिकः—(एकमन्यद्वृत्तम्) 'तद्धितार्थ०' से समास होनेपर 'कर्माध्ययने वृत्तम्' से 'ठक्' होता है। जो व्यक्ति—अध्ययन में प्रवृत्त होते हुए भी, परीक्षासमय एक त्रुटि कर जाय, वह प्रयोगवाच्य होता है।

द्वादशान्यिकः—(द्वादशान्यानिकर्माण्यध्ययने वृत्तानि, अस्य) 'बह्वच् पूर्वपदाट्ठञ्' से 'ठञ्' होता है। १२ त्रुटि करनेवाला व्यक्ति प्रयोगवाच्य होता है।

आपूपिकः—(अपूपभक्षणं हितमस्मै) 'हितं भक्षाः' से 'ठक्' होता है।

आग्रभोजनिकः—(अग्रभोजनं दीयतेऽस्मै) 'तदस्मै दीयते-नियुक्त' से ठक्' होता है।

आणिकः, मांसौदनिकः, मांसिकः, ओदनिकः—(आणा, मांसौदनं, मांसं, ओदनं वा नियुक्तं दीयतेऽस्मै) 'आणामांसौदनाट्टिठन्' से 'टिठन्' प्रत्यय होता है। 'ठ' को इक। इकार उच्चारणार्थ है। टित्वात् ङीप् होता है। आणिकी आदि।

भाक्तः, भाक्तिकः—(भक्तमस्मै दीयते) 'भक्तादणन्यतरस्याम्' विकल्पेन 'अण्' होता है। पक्ष में 'ठक्' होता है।

आकरिकः—(आकरे नियुक्तः) 'तत्र नियुक्तः' से 'ठक्' होता है।

देवागारिकः (देवागारे नियुक्तः) 'अगारान्ताठ्ठन्' से 'ठन्' होता है। वृद्धिनिमित्त न होने से वृद्धि नहीं होती है।

श्माशानिकः, चातुर्दशिकः—(श्मशाने, चतुर्दश्यां वाऽधीते)–'अध्यायिन्यदेशकालात्' से 'ठक्' होता है।

वांशकठिनिकः, प्रास्तारिकः, सांस्थानिकः, (वंशकठिने प्रस्तारे संस्थाने वा व्यवहरति) 'कठिनान्तप्रस्तारसंस्थानेषु व्यवहरति' से 'ठक्' होता है। जिस देश में कड़े बाँस हों उसे 'वंशकठिन' देश कहते हैं। उस देश में जो क्रिया जैसे की जाती हो, उसे वैसे ही सम्पादित करनेवाला व्यक्ति 'वांशकठिनिक' कहलाता है। इसी प्रकार अग्रिम प्रयोग का भी अर्थ जानना चाहिए।

नैकटिको भिक्षुः—(निकटे वसति) 'निकटे वसति' से 'ठक्' होता है।

आवसथिकः, आवसथिकी,—(आवसथे वसति) 'आवसथात् ष्ठल्' से 'ष्ठल्' होता है। लकार स्वरार्थ है। षित्वात् ङीष्। इस ठगधिकारमें निम्नांकित श्लोकवार्त्तिक द्वारा 'षित्' प्रत्यय विधायक सूत्रों की गणना की गई है।

'आकर्षात्पर्पादेर्भस्त्रादिभ्यः कुसीदसूत्राच्च।
आवसथात्किसरादेः षितः षडेते ठगधिकारे ॥'

इस परिगणन की आवश्यकता इसलिए हुई कि, 'नौद्व्यचष्ठन्' में सन्धि (ष्टुन ष्टुः) द्वारा सम्पन्न षकार, प्रत्यय सम्बद्ध दिखाई देने से प्रत्यय के षित् होनेका सन्देह होता है। इसी प्रकार अन्यत्र भी न हो। 'कुसीद दशैकादशात् ष्ठन् ष्ठचौ' से 'ष्ठन्' और 'ष्ठच्' २ प्रत्यय विहित होने से प्रत्ययों की (षित्) संख्या ७ हो जाती है, पर विधायक शास्त्र, 'आकर्षात् ष्ठल्' 'पर्पादिभ्यः ष्ठन्', 'भस्त्रादिभ्यः ष्ठन्' 'कुसीद दशैकादशात् ष्ठन् ष्ठचौ', 'आवसथात् ष्ठल्', 'किसरादिभ्यः ष्ठन्' ये ६ ही हैं।

इति ठगधिकारप्रकरणम्।

अथ प्राग्घितीय-प्रकरणम्

रथ्यः, युग्यः, प्रासङ्ग्यः,—(रथं, युगं, प्रासङ्गं वा वहति) 'प्राग्घिताद्यत्' के अधिकार में स्थित 'तद्वहति रथयुगप्रासङ्गम्' से 'यत्' होता है। बछड़ों को नाथने के समय, कन्धेपर जो काष्ठ भार दिया जाता है, उसे प्रासङ्ग कहते हैं।

धुर्यः, धौरेयः,—(धुरं वहति) 'धुरो यड्ढकौ' से 'यत्' और 'ढक्' होता है। ढ् को एय्। 'धुर्यः' में 'हलिच' से दीर्घ प्राप्त हुआ, पर 'नभकुर्च्छुराम्' (भसंज्ञक, और कुर्च्छुर की उपधा को दीर्घ नहीं होता है) से निषेध हो जाता है।

सर्वधुरीणः--(सर्वधुरां वहति) 'खः सर्वधुरात्' से 'ख' प्रत्यय होता है। 'आपनेयी०' से 'ख' को इन्। णत्व।

एकधुरीणः, एकधुरः,—(एकधुरां वहति) 'एकधुराल्लुक् च' से प्राकरणिक 'यत्' का लुक्, तथा पक्ष में चकारात् 'ख' होता है।

शाकटो-गौः,—(शकटं वहति) 'शाकटादण्' से 'अण्' होता है।

हालिकः, सैरिकः,—(हलं, सीरं वा वहति) 'हलसीराठ्ठक्' से होता है।

जन्याः—(जनी, वधूः, तां वहति-प्रापयति) 'संज्ञायां जन्या' से होता है। 'यस्येति च' से ईकार लोप होता है। स्त्रीत्वाट्टाप्।

पद्याः- शर्कराः,—(पादौ विध्यन्ति) 'विध्यत्यधुनुषा' से 'यत्' होता 'पद्यत्यतदर्थे' से पद्भाव होता है।

धन्यः, गण्यः—(धनं, गणं वा लब्धा) 'धनं गणं लब्धा' से होता है।

आन्नः,—(अन्नं लब्धा) 'अन्नाण्णः' से 'ण' होता है। आदिवृद्धि।

वश्यः—(वशं गतः—परेच्छानुकारी) 'वशं गतः' से 'यत्' होता है।

पद्यः,—(पदमस्मिन् दृश्यम्) 'पदमस्मिन् दृश्यम्' से 'यत्' होता कर्दमादि बोध्य होंगे।

मुल्या-मुद्गाः,—(मूलमावर्हि येषां ते) 'मूलमस्यावर्हि' से होता है।

धेनुष्या —(धेनुरेव वन्धके स्थिता) 'संज्ञायां धेनुष्या' से धेनु शब्द से प्रत्यय एवं प्रकृति को 'षुक' आगम होता है। 'यत्' यदि होता तो 'तित्स्वरितः' से स्वरित होता। अब प्रत्यय स्वर से अन्तोदात्त होता है। कर्जदार, देनेवाले को वन्धक के रूप में जिस गौ को देता है, उसको 'धेनुष्या' होती है।

गार्हपत्योऽग्निः,—(गृहपतिर्यजमानस्तेन संयुक्तः) 'गृहपतिना संयु ञ्यः' से 'ञ्य' होता है। ञित्वात् आदिवृद्धिः।

नाव्यम् ,-(नावा तार्यं) वयस्यः,-(वयसा तुल्यः) धर्म्यम् ,-(धर्मे प्राप्यम्) विष्यः,-(विषेण वध्यः) मूल्यम् ,-(मूलेन अनाम्यम्) मूल्य (मूलेन समः) सीत्यं-क्षेत्रम् ,-(सीतया समितं) तुल्यम् ,—(तुला सम्मितं) 'नौवयोधर्मविषमूलमूलसीतातुलाभ्यस्तार्यतुल्यप्राप्यवध्यानाम्यसमसमि

तसम्मितेषु' से उक्तार्थों में उक्त प्रकृतियों से 'यत्' प्रत्यय होता है। उक्त शब्दों का प्रयोग संज्ञाधिकार के कारण नियत अर्थ में ही होता है। यथा :— अवस्था से तुल्य होनेपर भी मित्र ही 'वयस्य' कहलावेगा शत्रु नहीं।

धर्म्यम्, पथ्यम्, अर्थ्यम्, न्याय्यम्:—(धर्मात्-आदि-अनपेतम्) 'धर्मपथ्यर्थन्यायादनपेते' से 'यत्' होता है।

छन्दस्यम्—(छन्दसा निर्मितम्–इच्छया कृतम्) 'छन्दसो निर्मिते' से 'यत्' होता है।

औरस्यः, उरस्यः –(उरसा निर्मितः पुत्रः) 'उरसोऽण् च' से 'अण्' एवं 'यत्' होता है।

हृद्यो-देशः—(हृदयस्य प्रियः) 'हृदयस्य प्रियः' से 'यत्' होता है। 'हृदयस्य हृल्लेख' से हृदादेश होता है।

हृद्यो-वशीकरणमन्त्रः—(हृदयस्य बन्धनं) 'बन्धनं चर्षौ' से 'यत्' होता है।

मत्यम्—(मतं, ज्ञानं, तस्य करणं भावः साधनं वा) जन्यः,–(जनस्य-जल्पः) हल्यः–(हलस्य कर्षः) 'मतजनहलात्करणजल्पकर्षेषु' 'यत्' होता है।

अग्र्यः, सामन्यः, कर्मण्यः, शरण्यः—(अग्रे, सामसु, कर्मणि,–शरणे वा साधुः) 'तत्र साधुः' से 'यत्' होता है। द्वितीय प्रयोग में 'येचाभावकर्मणोः' से प्रकृतिभाव–होता है।

प्रातिजनीनः, सांयुगीनः, सार्वजनीनः, वैश्वजनीनः—(जनोजनः-प्रतिजनं, प्रतिजनं साधुः–आदि) 'प्रतिजनादिभ्यः खञ्' से 'खञ्' होता है। 'ख्' को ईन्।

भाक्तुः शालयः—(भक्ते साधवः) 'भक्ताण्णः' से 'ण' होता है। पारिषद्यः–(परिषदि साधुः) 'परिषदो ण्यः' से 'ण्य' होता है। 'परिषदः' के योग विभाग से 'ण' भी पक्ष में होता है। पारिषदः।

काथिकः—(कथायां साधुः) कथादिभ्यष्ठक्' से ठक्' होता है।

गौडिकः-इक्षुः, साक्तुका यवाः—(गुडे, सक्तौ वा साधुः) 'गुडादिभ्यष्ठञ्' से 'ठञ्' होता है।

पाथेयम्, आतिथेयम्–(पथि, अतिथौ वा साधु) वासतेयी,–(वसतिस्तत्र साधुः) स्वापतेयम्-धनम्,–(स्वपतौ साधुः) 'पथ्यतिथिवसति से ढञ्' से 'ढञ्' होता है। 'यस्येति च'।

सभ्यः—(सभायां साधुः) 'सभाया यः' से 'य' प्रत्यय होता है। सतीर्थ्य (वसतीति वासी, समाने तीर्थे-गुरौ वसतीति) 'समानतीर्थे वासी, से यत्' होता है। 'यस्येतिच' से अ लोप। तीर्थ शब्द का प्रयोग 'तीर्थं' शास्त्राध्वरक्षेत्र पायोपाध्याय–मन्त्रिषु। योनौ जलावतारे च' इस विश्वकोष के आधार पर अर्थों में होता है। किन्तु यहाँ संज्ञाधिकार होने से केवल उपाध्याय अर्थ ही प्रयोग साधु माना गया है। 'तीर्थेये' से समान को सभाव होता है।

समानोदर्यो भ्राता,—(समाने उदरे-शयितः स्थितः) 'समानोदरे शयित ओचोदात्तः' से यत्' प्रत्यय एवं ओकार को उदात्त स्वर होता 'पूर्वापरप्रथमः' से समानोदर' शब्द में समास होता है।

सोदर्यः--(समाने-उदरे शयितः) 'सोदराद्यः' से 'य' प्रत्यय होता 'विभाषोदरे' से समान को सभाव होने पर सोदर शब्द से 'य' होता 'अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुञ्चति' आदि स्थलों में 'सोदर' शब्द साधुता, 'समानमुदरं यस्य' विग्रह में बहुव्रीहि द्वारा की जाती है। 'वोपसर्जन से सभाव होता है।

इति प्राग्घतीयप्रकरणम्।

—००:०:००—

अथ छ-यदधिकार-प्रकरणम्

नभ्योऽक्षः—(रथाङ्गं सच्छिद्रं-नाभिस्तस्मै हितः) प्राक्क्रीताच्छः अधिकार में स्थित 'उगवादिभ्यो यत्' से 'छ' को बाधकर गवाद्यन्तर्गण 'नाभि नभं च' के सहयोग से 'यत्' प्रत्यय, और नाभि के स्थान में नभादे

होता है। 'यस्येति च' से अ लोप। नभ्यमञ्जनम् ,--(नाभये हितम्) पूर्ववत् 'यत्' एवं नभादेश।

शून्यम् , शुन्यम् ,—(शुने हितम्) गवाद्यन्तर्गण सूत्र 'शुनः सम्प्रसारणं वा च दोर्घत्वम्' से 'यत्' प्रत्यय एवं 'श्वन्' के वकार को सम्प्रसारण (उकार), तथा विकल्प से दीर्घ होता है।

ऊधन्यः,--(ऊधसे हितः) 'ऊधसोऽनङ् च' (ग. सू.) से 'यत्' एवं प्रकृति को अनङादेश होता है। 'ये चाभावकर्मणोः' से प्रकृतिभाव होता है।

कम्बल्यमूर्णापलशतम् ,—(ऊर्णापरिधानाथ (कम्बलाय) हितम्) 'कम्बलाच्च संज्ञायाम्' से 'यत्' होता है। संज्ञा से भिन्न स्थल में 'छ होता है। कम्बलीया-ऊर्णा।

आमिक्ष्यम् , आमिक्षीयम् ,—(आमिक्षायै हितम्), पुरोडाश्यास्तण्डुलाः, पुरोडाशीयाः,—(पुरोडाशाय हिताः), अपूप्यम् , अपूपीयम् ,—(अपूपेभ्यो हितम्) 'विभाषा हविरपूपादिभ्यः' से विकल्पेन 'यत्' होता है। पक्ष में 'छ' (औत्सर्गिक) होता है। गवादिगण में हविः' शब्दका पाठ होने से हविर्विशेष से 'यत्' होता है।

वत्सीयो-गोधुक् , शङ्कव्यं-दारु, गव्यम् , हविष्यम् ,--(वत्सेभ्यो हितः, शङ्कवे हितं, गवे, हविषे वा हितम्) अर्थनिर्देशक तस्मै हितम्' के अनुसार प्रथमप्रयोग में 'छ' और अन्य प्रयोगों में 'उगवादित्वात्' 'यत्' होता है।

दन्त्यम् , कण्ठ्यम् , —(दन्तेभ्यः, कण्ठाय वा हितम्) 'शरीरावयवाद्यत्' से 'यत्' होता है। 'यस्येति च' से अ लोप।

नस्यम् , नाभ्यम् ,—(नासिकायै, नाभये वा हितम्) पूर्वसूत्र से 'यत्' होनेपर प्रथम प्रयोग में 'नस् नासिकायाः' (वा०) से नासिका के स्थान में नसादेश होता है।

शीर्षण्यः,—(शिरसे हितः) 'शरीरावयवाद्यत्' से 'यत्' होने पर 'ये च तद्धिते' से शिरश्शब्द के स्थानपर 'शीर्षन्'-आदेश होता है। यह आदेश

तद्धित प्रत्यय परे ही होता है, अतः 'शिर इच्छति' 'शिरस्यति' में 'शीर्ष' आदेश नहीं हुआ। 'नः क्ये' नियम से पदाभाव अतः रुत्वाभाव।

शीर्षण्याः, शिरस्या वा केशाः,—(शिरसे हिताः) 'शरीरावयवाद्' से 'यत्' होनेपर केशपरता होने से 'वा केशेषु' से वि० से 'शीर्षन्' आदेश होता है।

स्थौलशीर्षम्,—(स्थूलशिरस इदम्) 'तस्येदम्' से 'अण्' होने 'अचि शीर्ष इति वाच्यम्' (वा०) से 'शीर्ष' आदेश होता है। आदिवृद्धि।

खल्यम्, यव्यम्, माष्यम्, तिल्यम्, वृष्यम्, ब्रह्मण्यम्, रथ्या (खलाय हितमादि) 'खलयवमाषतिलवृषब्रह्मणश्च' से 'यत्' होता है। ब्राह्मण पर्याय 'ब्रह्मन्' शब्द है। 'ये च०' से प्र० भाव।

अजथ्या-यूथिः, अविथ्या,–(अजाभ्योऽविभ्यो वा हिता) 'अजाविभ्यां थ्यन्' से 'थ्यन्' प्रत्यय होता है। सूत्र में अज शब्द अकारान्त ही लिया गया है। अतः 'अजाद्यदन्तम्' से पूर्व निपात भी हुआ। 'प्रातिपदिकग्रहण०' परिभाषा के अनुसार पुँलिङ्ग, स्त्रीलिङ्ग दोनों से विग्रह किया जा सकता है। 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' से पुँवद्भाव होने के कारण, प्रयोग के आकार में अन्तर नहीं आवेगा।

आत्मनीनम्, विश्वजनीनम्,—(आत्मने, विश्वस्मै जनाय हितम्) 'आत्मन्विश्वजनभोगोत्तरपदात्खः' से 'ख' प्रत्यय होता है। 'ख' को ईन्। 'आत्माध्वानौ खे' से प्रकृतिभाव होता है। द्वितीय प्रयोग में 'तद्धितार्थ' से समास होता है। यह 'ख' प्रत्यय कर्मधारय से ही (व्याख्यान के आधार पर) होता है। अतः विश्वस्य जनो विश्वजनोऽस्येति वा विश्वजनस्तस्मै हितम् में औत्सर्गिक 'छ' ही होता है। विश्वजनीयम्।

पञ्चजनीनम्—(रथकारपञ्चमाश्चत्वारोवर्णाः पञ्चजनास्तेभ्यो हितम्) 'पञ्चजनादुपसंख्यानम्' से 'ख' होता है। 'ख' को ईन्। दिक्सं० से स०।

सार्वजनिकः, सर्वजनीनः–(सर्वो जनः सर्वजनस्तस्मै हितः) 'पूर्वकालैक०' से समास होनेपर 'सर्वजनाट्ठञ् खश्च' से 'ठञ्' एवं 'ख' प्रत्यय होता है। 'ठञ्' पक्ष में ञित्वादादिवृद्धि।

माहाजनिकः—(महाजनाय हितः) 'महाजनाट्ठञ्, से 'ठञ्' होता है। 'ठ' को इक। आदिवृद्धि।

मातृभोगीणः, पितृभोगीणः राजभोगीनः—(मातुः-पितू राज्ञो वा भोगः शरीरं, तस्मै हितः) 'आत्मन्विश्व०' से 'ख' प्रत्यय होता है। 'ख' को ईन्। णत्व।

आचार्यभोगीनः—(आचार्यस्य भोगः शरीरं तस्मै हितः) 'आत्मन्विश्व०' से 'ख' होनेपर 'अट्कुप्वाङ्०' से प्राप्त णत्व का 'आचार्यादणत्वं च' (वा०) से निषेध होता है।

सार्वम्, सर्वीयम्—(सर्वस्मै हितम्) 'सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ' से 'ण' और 'ढञ्' होता है। ये प्रत्यय क्रमशः होते हैं सर्व से 'ण' और पुरुष से 'ढञ्' होता है। 'सर्वाण्णो वेति वक्तव्यम्' (वा०) से 'ण' विकल्पेन होता है। पक्ष में औत्सर्गिक 'छ' होता है।

पौरुषेयः—(पुरुषस्य वधः–विकारः, तेषां समूहः, पुरुषेण-कृतो ग्रन्थः) 'पुरुषाद्वधविकारसमूहतेनकृतेषु' वार्त्तिक के द्वारा निर्दिष्ट अर्थों में 'सर्वपुरुषाभ्यां णढञौ' से 'ढञ्' होता है। वध, विकार, समूह, और कृतो ग्रन्थः अर्थों में क्रमशः 'तस्येदम्, प्राणिरजतादिभ्योऽञ्', 'तस्य समूहः,' और 'कृते ग्रन्थे' सूत्रों से क्रमशः प्राप्त अण्, अञ्, अण्, और अण् को वाधकर 'ढञ्' होता है। कृतः प्रासादः आदि अर्थों में कोई भी प्रत्यय प्राप्त नहीं था।

माणवनीनम्, चारकीणम्—(माणवाय–मनोः कुत्सितापत्याय, चरकाय वा हितम्) 'माणवचरकाभ्यां खञ्' से 'खञ्' होता है। 'ख्' को ईन्। अ-लोप। विभक्तिकार्य।

अङ्गारीयाणि-काष्ठानि, प्राकारीया-इष्टकाः, शङ्कव्यं-दारु—(अङ्गारेभ्यः, प्राकाराय, शङ्कवे वा एतानि,-एताः, एतद् वा) 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ' से 'छ' प्रत्यय होता है।

छादिषेयाणि-तृणानि, बालेयास्तण्डुलाः, औपधेयम्—(छदिषे-(आच्छादकाय), बलये, उपधीयते इत्युपधी स्याङ्गं तदेव वा-हितानि, हिता वा)

'छदिरुपधिबलेर्ढञ्' से 'ढञ्' होता है। 'उपधिशब्दात्स्वार्थे-इष्यते (इ.)' से उपधि शब्द से ढञ्' स्वार्थ में होता है।

आर्षभ्यो वत्सः, औपानह्यो मुञ्जः,—(ऋषभाय, उपानहे वा हितः) 'ऋषभोपानहोर्ञ्यः' से 'ञ्य' प्रत्यय होता है। चर्म अर्थबोधकता 'औपान... चर्म, आदि स्थलों में 'चर्मणोऽञ्' को पूर्वविप्रतिषेध से बाधकर '... होता है।

वार्ध्रं चर्म, वारत्रं चर्म,—(वार्ध्र्यै-रज्जवे, वरत्रायै वा हितम्) 'चर्मणोऽञ्' से 'अञ्' होता है। 'यस्येति च'। आदिवृद्धि।

प्राकारीया-इष्टकाः,—(प्राकार आसामिष्टकानां स्यात्) प्रसादीयं दा... (प्रासाद येषां दारूणां स्यात् , प्राकारीयोदेशः —(प्राकारोऽस्मिन् स्यात्) 'तदस्य तदस्मिन् स्यादिति' से उक्तार्थ में 'छ' होता है। 'इति' शब्द के फ... स्वरूप इस सूत्र की प्रवृत्ति सर्वसाधारण के साथं वस्तु के सम्बन्ध की स्थिति... ही होती है। प्रासादो देवदत्तस्य स्यात् विग्रह में एक व्यक्ति सीमित सम्बन्धता... सूत्र प्रवृत्ति नहीं होती है।

पारिखेयी-भूमिः—(परिखा-अस्यां स्यात्) 'परिखाया ढञ्' से 'ढ... होता है। ञित्वादादिवृद्धि। 'टिड्ढाणञ्०' से ङीप्।

इति छ-यदविकारप्रकरणम्।

अथार्हीयप्रकरणम्

नैष्किकम् ,—(निष्केण क्रीतम्) 'असमासे निष्कादिभ्यः' से 'ठक्' होता है। 'ठ' को इक। 'किति च' से आदिवृद्धि। लोकानुसार नपुँसकता। 'अ... मासे०' में 'ठक्' का सम्बन्ध "आर्हादगोपुच्छसंख्यापरिमाणाट्ठक्"—'तदर्ह... तक 'प्राग्वतेष्ठञ्' के अधिकारान्तर्गत ठगधिकार चलता है, (गोपुच्छादि...

त्यागकर) से प्रचलित ठगधिकार द्वारा होता है। प्रयोग के अर्थ की व्यवस्था 'तेन क्रीतम्' से होती है। यह 'ठक्' समास स्थल में नहीं होता है। अतः---

परमनैष्किकः,---(परमनिष्केण क्रीतः) में 'प्राग्वतेष्ठञ्' ('तेन तुल्यं क्रियाचेद्वतिः' से पूर्व ठञधिकार प्रचलित रहता है) के अनुसार उक्तार्थ में 'ठञ्' होता है। 'ठञ्' और 'ठक्' के विधान से प्रयोग में एकरूपता होने पर भी, स्वर में (कित्स्वर एवं ञित्स्वर) भेद प्रतीत होगा ही। उक्त प्रयोग में 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' से आदिवृद्धि को बाधकर उत्तरपदाद्यच् को वृद्धि होती है। 'असमासे निष्कादिभ्यः' के स्थानपर केवल 'निष्कादिभ्यः' ही यदि सूत्र रहता तो 'परमनिष्क' से औत्सर्गिक 'ठञ्' होकर ठञन्त 'परमनैष्किक' प्रयोग हो ही जाता, पुनः 'असमास' ग्रहण क्यों किया ? इस आशंका का उत्तर यह है कि, केवल 'निष्कादिभ्यः' सूत्राकार होने से तदन्तविधि (प्रातिपदिक विशेष्यक) द्वारा 'परमनिष्क' से भी 'ठक्' ही प्राप्त रहता 'ठञ्' नहीं। 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्नास्ति' वचन से तदन्त विधि निषिद्ध होनेपर भी 'असमास' ग्रहण सामर्थ्य से 'यहाँ से पूर्व तदन्त विधि होती हैं' ज्ञापन स्वीकार कर लिया जाता है। जिसके फलस्वरूप :--

सुगव्यम् , यवापूप्यम् ,—(सुगवा, क्रीतं, यवापूपस्य विकारः) में क्रमशः 'उगवादिभ्यो यत्' और 'विभाषा हविरपूपादिभ्यः' से यत् हो जाता है। उक्त ज्ञापनका उत्तर सूत्रों पर प्रभाव 'ईत ऊर्ध्वं तु संख्यापूर्वपदानां तदन्तग्रहणं प्राग्वतेरिष्यते तच्चालुकि' (वा०) (यहाँ से आगे संख्यापूर्वपदक ही तदन्त-विधि द्वारा गृहीत होते हैं, और वे भी प्रत्यय की अलुक् परिस्थिति में) से निर्धारित होने के कारण :—

पारायणिकः, द्वैपारायणिकः—(पारायणं, द्विपारायणं वा वर्त्तयति) आदि स्थलों में 'पारायणं, तुरायणं, चान्द्रायणं वर्त्तयति' से 'ठञ्' सम्भव हो सका, और असंख्यापूर्वक :—

'परमपारायण' आदि शब्दों से 'ठञ् की प्रवृत्ति नहीं हुई। उक्त तदन्त-विधि भी अलुक् स्थल में ही होती है, अतः—

द्विशौर्पिकम् ,—(द्विशूर्पेण क्रीतम्) में 'शूर्पादञ्०' न होकर औत्सर्गिक

'ठञ्' ही होता है। (द्वाभ्यां शूर्पाभ्यां क्रीतम्) विग्रह में 'शूर्पादञन्यतरस्याम्'
आगत 'अञ्' अथवा 'ठञ्' का 'अध्यर्ध०' से लुक् होने से 'द्विशूर्प' शब्द
साधुता होती है। 'परिमाणान्तस्य०' से उत्तरपदवृद्धि होती है।

आर्धद्रौणिकम्, अर्धद्रौणिकम्,—(अर्धद्रोणेन क्रीतम्) समा
होने के कारण 'ठक्' ('असमासे०' से) न होकर, औत्सर्गिक ठञ्, ('प्राग्व
तेष्ठञ्' (से होनेपर प्राप्त आदिवृद्धि को बाधकर 'अर्धात्परिमाणस्य पूर्व
तु वा' से पूर्वपदाद्यच् को विकल्प से और उत्तरपदाद्यच् को नित्य वृ
होती है।

आर्धप्रस्थिकम्, अर्धप्रस्थिकम्,—(अर्धप्रस्थेन क्रीतम्) औत्सर्गि
'ठञ्' आने पर पूर्वसूत्र से प्राप्त वृद्धिव्यवस्था को बाधकर 'नातः परस्य'
उत्तरपदाद्यच् को वृद्धि निषेध, और पूर्वपदाद्यच् को विकल्पेन वृद्धिविधा
होता है।

अतः किम्, आर्धकौडविकम्,—यहाँ अर्ध से परे परिमाणवाच
शब्द तो है, पर आद्यच् अकार न होकर औकार होने के कारण 'नातः पर
की प्रवृत्ति नहीं हुई। 'अर्धात् परि०' की प्रवृत्ति हुई। 'अतः' में तपरक
यद्यपि आपाततः निरर्थक प्रतीत होता है, क्यों कि दीर्घाकार घटित स्थलों
वृद्धि के होने, न होने से प्रयोगाकार में कोई अन्तर नहीं आता, और ह्रस्वाका
घटित स्थलों में सूत्रप्रवृत्ति इष्ट ही है, तथापि—

अर्धखारीभार्यः,—(अर्धखार्यां भवा-अर्धखारी, सा चासौ भार्या
में 'स्त्रियाः पुँवत्०' से प्राप्त पुँवद्भाव को 'वृद्धिनिमित्तस्य०' द्वारा निषे
सिद्धि के लिए उक्त सूत्र में तपरकरण परमावश्यक है। अन्यथा उक्त प्रयो
में भी वृद्धिनिषेध हो जाता, और इस तरह तदुत्तर (अर्धखारी से) भवार्थ
जात 'अण' प्रत्यय—जिसका 'अध्यर्ध०' से लुक् हो गया है—वृद्धिनिमित्त
प्रत्यय (फलोपधायक रूप से) नहीं कहलाता, और 'वृद्धि निमित्तस्य०'
प्रवृत्ति रुक जाने से पुँवद्भाव हो जाता, जो कि अनिष्ट है। उक्त प्रत्युदाह
की संगति पूर्वपद (अर्ध) को जिस पक्ष में ('अर्धात्परिमाणस्य०' से) वृ
नहीं होती है, वहीं सम्भव हो सकती है। पूर्वपदवृद्धि पक्ष में तो उत्तरपद

निषेध होने पर भी अण् (लुप्त) प्रत्यय के वृद्धिनिमित्तक होने से पुँवद्भाव-निषेध के प्रवृत्त होने में तपरकरण का कोई प्रभाव पड़ ही नहीं सकता।

शतिकम्, शत्यम्,—(शतेन क्रीतम्) 'शताच्च ठन्यतावशते' से 'ठन्' और 'यत्' होते हैं। शताभिधेयस्थल 'शतकः'–'सङ्ख्यः' (शतं परिमाणमस्य) आदि में 'अशते' ग्रहण के फलस्वरूप 'ठन्' या 'यत्' न होकर 'संख्याया-अतिशदन्तायाः कन्' से 'कन्' होता है। उक्त प्रयोग में प्रत्ययार्थ प्रकृत्यर्थ से भिन्न नहीं है। प्रकृत सूत्र की प्रवृत्ति 'असमासे निष्कादिभ्यः' से 'असमासे' की अनुवृत्ति के कारण 'द्विशतकम्' (द्विशतेन क्रीतम्) आदि समस्त स्थलों में ठनादि न होकर कन् ही होता है।

पञ्चकः, बहुकः, —(पञ्चभिर्बहुभिर्वा क्रीतः) 'संख्याया अतिशदन्तायाः कन्' से कन्' होता है। 'साप्ततिकः', और 'चात्वारिंशत्कः', में क्रमशः त्यन्त और शदन्त होने से औत्सर्गिक 'ठञ्' हुआ 'कन्' नहीं।

तावतिकः, तावत्कः,—(तावता क्रीतः) 'संख्याया अति०' से 'कन्' होनेपर 'वतोरिड्वा' से 'कन्' को इडागम होता है। 'बहुगण०' से 'तावत्' की संख्या संज्ञा होती है।

विंशकः, त्रिंशकः,—(विंशत्या, त्रिंशता वा क्रीतः) 'विंशतित्रिंशद्भ्यां ड्वुन्नसंज्ञायाम्' से 'ड्वुन्' प्रत्यय (संज्ञाभिन्न की बोधकता में) होता है। 'ति विंशतेर्डिति' से 'ति' का लोप होता है। 'वु' को अक। 'त्रिंशकः' में डित्वाट्टिलोप।

विंशतिकः, त्रिंशत्कः,—उक्त विग्रह में 'विंशतित्रिंशद्भ्यां०' से (योग विभाग के आधार पर, अन्यथा 'अतिशदन्तत्वादप्राप्त) कन् होता है।

कंसिकः, कंसिकी,—(कंसेन क्रीतः) 'कंसाट्टिठन्' से 'टिठन्' होता है। टित्वात् ङीप्। इकार उच्चारणार्थ है।

अर्धिकः, अर्धिकी,—(अर्धेन क्रीतः, क्रीता वा) 'अर्धाच्चेतिवक्तव्यम्' से 'टिठन्' होता है। अर्ध शब्द कार्षापण (मुद्रा) अर्थ में रूढ है।

कार्षापणिकः, कार्षापणिकी, प्रतिकः, प्रतिकी—(कार्षापणेन क्रीतः क्रीता वा) 'कार्षापणाट्टिठन् वक्तव्यः प्रतिरादेशश्च वा' (वा०) से 'टिठन्' प्रत्यय

एवं कार्षापण के स्थान पर 'प्रति' आदेश विकल्पेन होता है। स्त्रीत्वपक्ष ङीप्।

शौर्पम्, शौर्पिकम्,—(शूर्पेण क्रीतम्) 'शूर्पादञन्यतरस्याम्' विकल्पेन 'अञ्' होता है। पक्ष में औत्सर्गिक 'ठञ्' होता है।

शातमानम्, वैंशतिकम्, साहस्रम्, वासनम्,—(शतमानेन विंशत्या, सहस्रेण, वसनेन वा क्रीतम्) 'शतमानविंशतिकसहस्रवसनादण्' से क्रमशः 'ठञ्' (प्राग्वतेष्ठञ्) ठक्', २ (परिमाण भिन्न की संज्ञा है पर, परिमाण संज्ञा पक्ष में पर्युदास के कारण 'ठञ्' असंज्ञा पक्ष में डुवुन् और 'कन्' (सङ्ख्यायाः० ' से) को बाधकर 'अण्' होता है।

अध्यर्धकंसम्, द्विकंसम्,—(अध्यर्धकंसेन, द्वाभ्यां कंसाभ्यां क्रीतम्) 'कंसाट्टिठन्' से आगत 'टिठन्' का १म २तीय प्रयोग में 'अध्यर्धपूर्वद्वि, गोर्लुगसंज्ञायाम्' से लुक् होता है। यह लुक् संज्ञा शब्दों में नहीं होता है, 'पाञ्चकलापिकम्' (पञ्चकलापाः परिमाणमस्य) 'तद्धितार्थ' से समास होने 'तदस्य परिमाणम्' से आगत 'ठञ्' का लुक् नहीं होता है।

अध्यर्धकार्षापणम्--अध्यर्धकार्षापणिकम्, द्विकार्षापणम्, द्विकार्षापणिकम्,—'कार्षापणाट्टिठन्०' से आगत 'टिठन्' का 'विभाषा कार्षापणसहस्राभ्याम्' से वै० लुक् होता है। पक्ष में 'टिठन्' श्रुत होता है। प्रतिादेश लुक् पक्ष में अध्यर्धप्रतिकम्, द्विप्रतिकम्।

अध्यर्धसहस्रम्-अध्यर्धसाहस्रम्-द्विसहस्रम, द्विसाहस्रम्—(अध्यर्ध सहस्रेण, द्वाभ्यां सहस्राभ्यां वा क्रीतम्) 'शतमानविंशतिक०' से आगत 'अण्' का 'विभाषा कार्षापणसहस्राभ्याम्' से वै० लुक् होता है। पक्ष में 'अण्' होने में 'संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च' से उत्तरपदवृद्धि होती है।

द्विनिष्कम्-द्विनैष्किकम् त्रिनिष्कम्-त्रिनैष्किकम् -- (द्वाभ्यां निष्काभ्यां क्रीतमादि) औत्सर्गिक 'ठञ्' का 'द्वित्रिपूर्वान्निष्कात्' से वै० लुक्। 'परिमाणान्तस्य०' से उत्तरपदवृद्धि।

बहुनिष्कम् बहुनैष्किकम्—(बहुनिष्केण क्रीतम्) 'असमासे' से आगत 'ठक्' का 'बहुपूर्वाच्चेति वक्तव्यम्' से लुक् होता है। पक्ष में ठक्।

द्विबिस्तम्, द्वैबिस्तिकम्—आर्हीयप्रत्यय का 'बिस्ताच्च' से वै० लुक् होता है। यहाँ व्याख्यान के आधार पर अध्यर्ध का सम्बन्ध नहीं होता है।

अध्यर्धविंशतिकीनम्, द्विविंशतिकीनम्—(अध्यर्धविंशत्या क्रीतमादि) विंशतिकात्खः' से 'ख' होता है। 'ख' को 'ईन्'।

अध्यर्धखारीकम्, द्विखारीकम्—(अर्धखारी परिमाणमस्य) 'खार्या-ईकन्' से 'ईकन्' होता है। 'केवलायाश्चेति वक्तव्यम्' से खारीकम्।

अध्यर्धपण्यम्, द्विपण्यम्, अध्यर्धपाद्यम्, द्विपाद्यम्—(अध्यर्धपणेन आदि) क्रीतम्) 'पणपादमाषशताद्यत्' से 'यत्' होता है। तृतीय चतुर्थ प्रयोग में 'यस्येति च' से विहित अलोप के स्थानिवद्भाव होने से, 'पादः पत्' से पदादेश नहीं होता है। 'पद्यत्यतदर्थे' से भी प्राण्यङ्ग पाद को ही पदादेश होता है, और यहाँ पणमाष के साहचर्य से परिमाणवाचक ही गृहीत है, अतः पदादेश नहीं होता है।

अध्यर्धशाण्यम्, अध्यर्धशाणम्—(अध्यर्धशाणेन क्रीतम्) 'शाणाद्वा' से वै० 'यत्'। पक्षमें 'ठञ्' और उसका 'अध्यर्ध०' से लुक्।

द्विशाण्यम्, द्वैशाणम्, द्विशाणम्—(द्वाभ्यां शाणाभ्यां क्रीतम्) द्वित्रिपूर्वादण् च' से 'अण्' चकारात् 'यत्' और पक्षमें 'ठञ्' 'अध्यर्ध०' से लुक्। इस तरह ३ प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'परिमाणान्त०' में शाण वर्जित होने से आदिवृद्धि ही होती है।

गौपुच्छिकम्, साप्ततिकम्, प्रास्थिकम्, नैष्किकम् - (तेन क्रीतम्) द्वारा निर्दिष्ट अर्थ और विभक्त्यन्त से आद्य ३ प्रयोगों में 'ठञ्,' और अन्तिम में 'ठक्' ('असमासे०' से) होता है।

पञ्चगोणिः—(पञ्चभिर्गोणीभिः क्रीतः) आर्हीय 'ठक्' का—'अध्यर्ध०' से लुक् होनेपर 'लुक्तद्धितलुकि' से प्राप्त स्त्रीप्रत्यय लुक् को बाधकर 'इद्गोण्याः' से इदादेश होता है।

शतिकः, शत्यः—धनपतिसंयोगः, शतिकं, शत्यं वा दक्षिणाक्षि-स्पन्दनम्—(शतस्य निमित्तं संयोग उत्पातो वा) 'तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ' से निर्दिष्ट अर्थ में 'शताच्च ठन्यतावशते' से 'यत्' और 'ठन्' होता है।

वातिकम्, पैत्तिकम्, श्लैष्मिकम्,—(वातस्य, पित्तस्य, श्लेष्मणो शमनं, कोपनं वा) 'वातपित्तश्लेष्मभ्यः शमनकोपनयोरुपसंख्यानम्' 'ठक्' होता है।

सान्निपातिकम्,—(सन्निपातस्य शमनं, कोपनं वा) 'सन्निपाता वक्तव्यम्' से 'ठक्' होता है।

गव्यः, धन्यः, यशस्यः, स्वर्ग्यः,—(गोर्निमित्तं संयोग उत्पातो 'गोद्व्यचोऽसंख्यापरिमाणाश्वादेर्यत्' से 'यत्' होता है। 'गोद्व्यच्' का रण होने से वैजयिकः—(विजयस्य निमित्तम्) में 'ठक्' ही होता है। ख्यादि ग्रहण के फलस्वरूप पञ्चकम्, सप्तकम्, (संख्यायाः०' से कन्)

प्रास्थिकम्, खारीकम्,—(ठञ्) आश्विकम्, आश्मि (आर्हात् से ठक्) प्रयोगों में यत् नहीं होता है। आश्मिकम् में 'नस्त से टिलोप होता है।

ब्रह्मवर्चस्यम्, —(ब्रह्मवर्चसस्य निमित्तम्) 'ब्रह्मवर्चसादुपसंख्या से यत्' होता है।

पुत्रीयः, पुत्र्यः,—(पुत्रस्य निमित्तम्) 'पुत्राच्छ च' से 'गोद्व्यच प्राप्त नित्य यत् को बाधकर वै० 'यत्' होता है। पक्ष में 'छ' होता है।

सार्वभौमः, पार्थिवः,—(सर्वभूमेः, पृथिव्या वा निमित्तः सं० इति 'सर्वभूमिपृथिवीभ्यामणञौ' से क्रमशः 'अण्' और 'अञ्' होता है। अनुशती कादित्वात् प्रथम प्रयोग में उभयपदवृद्धि होती है।

सार्वभौमः, पार्थिवः,—(सर्वभूमेः पृथिव्या वा ईश्वरस्तत्र विदितो भारा 'तस्येश्वरः', 'तत्रविदित' इति च' सूत्रद्वय से अण्, और अञ् होता है।

लौकिकः, सार्वलौकिकः,—(लोके, सर्वस्मिन् ल्लोके वा विदितः 'लोकसर्वलोकाट्ठञ्' से 'ठञ्' होता है। अन्तिम प्रयोग में अनुशति दित्वात् उभयपदवृद्धि।

प्रास्थिकम्, द्रौणिकम्, खारीकम्,—(प्रस्थस्य वापः-आदि) वापः' (अ. नि. सू.) से निर्दिष्ट अर्थ में औत्सर्गिक 'ठञ्' होता है। प्रयोग में 'खार्या ईकन्' से 'ईकन्' होता है।

पात्रिकम् ,—(पात्रस्य वापः क्षेत्रम्) 'पात्रात्ष्ठन्' से 'ष्ठन्' से होता । षित्वात्-ङीष्पात्रिकी क्षेत्रभक्तिः ।

पञ्चकः, शतिकः, शत्यः, साहस्रः—(पञ्च अस्मिन् वृद्धि, आयः, लाभः, शुल्कः, उपदा वा दीयते । 'तदस्मिन् वृद्ध्यायलाभशुल्कोपदा दीयते' निर्दिष्ट अर्थ में क्रमशः तत्तत् सूत्रों से कन्, ठन्, यत्, और अण् होते । व्याज को वृद्धि, लगान को आय, मुनाफा को लाभ, कर को शुल्क, और स (उत्कोच) को उपदा कहते हैं ।

पञ्चको देवदत्तः,—(पञ्चास्मै वृद्ध्यादिर्दीयते) 'चतुर्थ्यर्थे उपसंख्यानम्' उक्तार्थ में 'कन्' होने की व्यवस्था प्राप्त होती है । सम्प्रदान की अधिकरणत्व-विवक्षा में वार्त्तिक निष्फल हैं ।

द्वितीयिकः, तृतीयिकः, अर्धिकः—(द्वितीयो वृद्ध्यादिर्दीयतेऽस्मिन्) पूरणार्धाट्ठन्' से क्रमशः 'ठक्' (आर्हात्०) और टिठन् (अर्धाच्चेतिव०) बाधकर 'ठन्' होता है । अर्ध शब्द का अर्थ अठन्नी है ।

भाग्यम्, भागिकम्,—(भागो वृद्ध्यादिर्दीयते- अस्मिन्) 'भागाद्यच्च' 'यत्' चकारात् 'ठन्' होता है । भाग का अर्थ भी अठन्नी है ।

वांशभारिकः, ऐक्षुभारिकः,—(वंशभारम्, इक्षुभारं वा हरति वहत्याव-हति वा) 'तद्धरति वहत्यावहति भाराद्वंशादिभ्यः' से 'ठक्' होने की व्यवस्था बनती है ।

वांशिकः, ऐक्षुकः—(भारभूतान् वंशान् हरति-इक्षून् वा) पूर्वसूत्रस्थ भाराद्वंशादिभ्यः' का 'वंशादि से परे जो भार शब्द तदन्त से' अर्थ करने पर पूर्वप्रयोग निष्पन्न हुए, और 'भारभूत वंशादि' अर्थ के आधार से प्रकृतप्रयोगों में 'ठक्' विधान की व्यवस्था होती है ।

वस्निकः, द्रव्यकः,—(वस्नं-मूल्यं-द्रव्यं वा हरत्यादिः) 'वस्नद्रव्याभ्यां ठन्कनौ' से 'ठन्' और 'कन्' क्रमशः होते हैं ।

प्रास्थिकः, प्रास्थिकी—(प्रस्थं सम्भवति, अवहरति, पचति वा) 'संभव-त्यवहरति पचति' से निर्दिष्ट अर्थ में औत्सर्गिक 'ठञ्' होता है । 'टिड्ढाणञ्०' से ङीप् ।

द्रौणी, द्रौणिकी,—(द्रोणं पचतीति) 'तत्पचतीति द्रोणादण्' से
'अण्' एवं 'ठञ्' होता है। ठञन्तत्वात् ङीप्।

आढकीना-आढकिकी, आचितीना-आचितीकी, पात्रीणा-पा
(आढकादिकं सम्भवत्यवहरति पचति वा) 'आढकाचितपात्रात्खोऽन्यतर
से 'ख' होता है। पक्ष में औत्सर्गिक 'ठञ्'।

द्व्याढकिकी, द्व्याढकीना, द्व्याढकी,—(द्व्याढकं संभवति,
हरति आदि) द्व्याचितिकी, द्व्याचितीना, द्व्याचिता, द्विपात्रिकी, द्विपा
द्विपात्री, 'द्विगोः ष्ठंश्च' से 'ष्ठन्' एवं चकारात्' 'ख' होते हैं।
'ठञ्' होता है, जिसका 'अध्यर्ध०' से लुक् हो जाता है। प्रथम प्र
षित्वात् 'ङीष्'। तृतीय में 'द्विगोः' से ङीप् होता है। 'द्व्याचिता' में
माण०' से ङीप् का निषेध होने से टाप् होता है।

द्विकुलिजी, द्वैकुलिजिकी, द्विकुलिजिना, द्विकुलिजिकी,—(द्वि
सम्भवत्यवहरति पचति वा) परिमाणवाचक होने से 'प्राग्वतेष्ठञ्' से
'ठञ्' का 'अध्यर्ध०' से प्राप्त नित्यलुक् को बाधकर 'कुलिजाल्लुक्खौ
वै० लुक् होता है। 'द्विगोः' से ङीप् १म प्र० में। द्वितीय में 'ठञ्'।
णान्त०' से ङीप्। तृतीय में ख। चतुर्थ में ष्ठन्। षित्वात् ङीष्।

पञ्चकः—(पञ्च अंशो, वस्नो, भृतिर्वाऽस्य) 'सोऽस्यांशवस्नभृ
निर्दिष्ट अर्थ में 'संख्यायाः०' से 'कन्' होता है।

प्रास्थिको राशिः,—(प्रस्थं परिमाणमस्य) 'तदस्य परिमाणम्'
निर्दिष्ट अर्थ में औत्सर्गिक 'ठञ्' होता है।

पञ्चकाः शकुनयः,—(पञ्चैव, पञ्चपरिमाणमेषामिति वा) पञ्चकः-
परिमाणमस्य)। अष्टकं,-पाणिनीयम्,- (अष्टावध्यायाः परिमाणमस्य)।
मध्ययनम्,—(पञ्च सूत्राणि परिमाणमस्य)। 'संख्यायाः संज्ञासंघसूत्राध्य
('तदस्य परिमाणम्' की अनुवृत्ति), निर्दिष्ट अर्थ में यथोक्त सूत्र से (सं
से) 'कन्' होता है। 'न्' लोप। संघ शब्द प्राणिसमूह में रूढ होने से
पृथगुपादान किया गया है।

पञ्चदशः, सप्तदशः, एकविंशः,—(पञ्चदश, सप्तदश, एकविं

(रिमाणमस्य) 'स्तोमे डविधिः' से 'ड' प्रत्यय होता है। डित्वाट्टिलोप। अन्तिम योग में 'तिविंशतेर्डिति' से ति लोप। सोमयाग में सामगायकों द्वारा की गई ष्ट्यादि संज्ञित स्तुति को स्तोम कहते हैं।

पंक्तिः, विंशतिः, त्रिंशत्, चत्वारिंशत्, पञ्चाशत्, षष्टिः, सप्ततिः, अशीतिः, नवतिः, शतम्—इन प्रयोगों की 'पक्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंश-पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम्' से निपातनात् सिद्धि होती है। प्रत्यय एवं अर्थ की व्यवस्था क्रमशः—अग्रांकित है :—पञ्चपदानि परिमाणमस्य वि० में पञ्चन् से ति प्रत्यय, टिलोप, 'चोः कुः' से कुत्व, अनुस्वारादिः। द्वौ दशतौ दशानां वर्गः वि० में 'पञ्चद्दशतौ वर्गे वा' से 'दशत्' शब्द निष्पन्न होता है) परिमाणमस्य वि० में शतिच् प्रत्यय, प्रकृति के स्थान में विन् भाव, अपदत्व, त्प्रयुक्त नकार को अनुस्वार। त्रयोदशतः परिमाणमस्य वि० में 'शत्' प्रत्यय प्र० को त्रिन् भाव, न् को अनुस्वार।

चत्वारिंशत्—(चत्वारो दशतः परिमाणमस्य) 'शत्' प्रत्यय, प्र० को चत्वारिन् भाव।

'पञ्चा' शत्,—(पञ्चदशतः प० अस्य) 'शत्' प्रत्यय। प्र० को पञ्चाभाव।

षष्टिः—(षट् दशतः प० अस्य) 'ति' प्रत्यय। प्र० को षष्, अपदत्व।

सप्ततिः,—(सप्तदशतः प० अस्य) ति प्रत्यय। प्र० को सप्त।

अशीतिः—(अष्टौ दशतः प० अस्य) ति प्रत्यय। प्र० को अशी।

नवतिः—(नवदशतः प० अस्य) ति प्रत्यय। प्र० को नव।

शतम्,—(दशदशतः प० अस्य) ति प्रत्यय। प्र० को शादेश।

विंशतिः से आगे के शब्द सर्वदा एकवचनान्त ही रहते हैं, संख्यापरक हों या संख्येयपरक। (विंशत्याद्याः सदैकत्वे संख्याः संख्येयसंख्ययोः) अतः विंशतिर्गावः और विंशतिर्गवाम् साधु माने गए हैं। भाष्यमत से इन शब्दों को अव्युत्पन्न (विना व्युत्पत्ति के ही सिद्ध होने वाले) प्रातिपदिक स्वीकार किए जाने से सूत्र प्रपञ्चार्थ है।

पञ्चद्वर्गः, दशत्—(पञ्च परिमाणमस्य) 'पञ्चद्दशतौ वर्गे वा' से

डत्यन्त 'पञ्चत्' एवं 'दशत्' का निपातन वर्गपरता में होता है। पक्ष में ('संख्यायाः' से) पञ्चकः, दशकः।

त्रैंशानि, चत्वारिंशानि, ब्राह्मणानि—(त्रिंशदध्यायाः परिमा ब्राह्मणानाम्) 'त्रिंशच्चत्वारिंशतोर्ब्राह्मणे संज्ञायां डण्' से 'डण्' प्रत्यय है। डित्वाट्टिलोप। णित्वादादिवृद्धि।

श्वैतच्छत्रिकः—(श्वेतच्छत्रमर्हति) 'तदर्हति' से निर्दिष्ट अर्थ में ('आर्हात्' से) होता है।

छैदिको-वेतसः—(छेदं नित्यमर्हति) 'छेदादिभ्यो नित्यम्' से निर्दि में 'ठक्' ('आर्हात्' से) होता है। जो काटने से बढ़े उसे छैदिक जाता है।

वैरागिकः, वैरङ्गिकः—(विरागं नित्यमर्हति) 'विराग विरङ्ग (ग. सू.) के सहयोग से 'छेदादिभ्यो नित्यम्' से निर्दिष्ट अर्थ में 'ठक्' विराग के स्थान में विरङ्गादेश विकल्प से होता है।

शीर्षच्छेद्यः, शैर्षच्छेदिकः—(शीर्षच्छेदं नित्यमर्हति) 'शीर्षच्छेदा से 'यत्' और 'ठक्' प्रत्यय, तथा इनके सन्नियोग में शीर्षादेश (निपातन होता है।

दण्ड्यः, अर्घ्यः, वध्यः—(दण्डमर्हति-आदि) 'दण्डादिभ्यः' से होता है। 'यस्येति च' से अलोप।

पात्रियः, पात्र्यः—(पात्रमर्हति) 'पात्राद्घंश्च' से 'घन्' एवं 'यत् होता है। 'घ्' को इय्।

कडङ्करीयो-गौः, कडङ्कर्यः, दक्षिणीयः, दक्षिण्यः—(कडङ्कर मुद्गादिकाष्ठं-दक्षिणां वाऽर्हति) 'कडङ्करदक्षिणाच्छ च' से 'छ' एवं 'यत्' होते हैं।

स्थालीबिलीयाः, स्थालीबिल्यास्तण्डुलाः,—(स्थालीबिलमर्ह 'स्थालीबिलात्' से 'छ' एवं 'यत्' प्रत्यय होते हैं।

यज्ञियः,-आर्त्विजीनो यजमानः—(यज्ञमृत्विजं वाऽर्हति) त्विग्भ्यां घखञौ' से क्रमशः 'घ' और 'खञ्' प्रत्यय होते हैं।

यज्ञियो-देशः, आर्त्विजीन- ऋत्विक्—(यज्ञकर्म, ऋत्विक्कर्म वाऽर्हति) 'यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीत्युपसंख्यानम्' (वा०) से क्रमशः 'घ' और 'खञ्' प्रत्यय होते हैं। यज्ञानुष्ठान के योग्य देश को यज्ञिय कहा जाता है।

इति आर्हीयान्तर्गत ठगादि–प्रकरणम्।

अथ ठञधिकारे कालाधिकार-प्रकरणम्।

पारायणिकश्छात्र', तौरायणिको-यजमानः, चान्द्रायणिको-भक्तः—(पारायणं, तुरायणं, चान्द्रायणं वा वर्त्तयति) 'पारायणतुरायणचान्द्रायणं वर्तयति' से 'ठञ्' होता है। 'ठ' को इक। आदिवृद्धि। विभक्तिकार्य।

सांशयिकः—(संशयविषयीभूतोऽर्थः) 'संशयमापन्नः' से 'ठञ्' होता है। उक्त शब्द का प्रयोग सन्देह कर्त्ता के बारे में न होकर स्थाण्वादि संशयविषयीभूत–अर्थ के बारे में होता है।

यौजनिकः—(योजनं गच्छति) 'योजनं गच्छति' से 'ठञ्' होता है।

'क्रौशशतिक, यौजनशतिकः—(क्रोशशतं योजनंशतं वा गच्छति) क्रोशशतयोजनशतयोरुपसंख्यानम्' (वा.) से 'ठञ्' होता है।

पथिकः, पथिकी—(पन्थानं गच्छति) 'पथः ष्कन्' 'ष्कन्' होता है। न्' लोप। स्त्रीत्व विवक्षा में ङीष्।

पान्थः,—(पन्थानं नित्यं गच्छति) पन्थोण नित्यम्' से 'ण' प्रत्यय होता है। 'पथिन्' के स्थान में–'पन्थ' आदेश भी होता है।

औत्तरपथिकम्—(उत्तरपथेनाहृतं, गच्छति वा) 'उत्तरपथेनाहृतं च' से उभयार्थ में 'ठञ्' प्रत्यय होता है।

वारिपथिकम्—(वारिपथेनाहृतम्) 'आहृतप्रकरणे वारिजङ्गलस्थलकान्तार-पूर्वादुपसंख्यानम्' (वा०) से 'ठञ्' होता है।

आह्निकम्:—(अह्ना निर्वृत्तम्) 'कालात्' के अधिकार में स्थित 'तेन निर्वृत्तम्' से 'ठञ्' होता है। 'अहष्टखो रेव' के नियम के कारण 'नस्तद्धिते' से टेलोप नहीं होता है।

मासिकः—अध्यापकः, कर्म करः, व्याधिः, उत्सवो वा–(मासमधीष्टो भृतो, भावी वा) 'तमधीष्टो भृतो भूतोभावी' से 'ठञ्' होता है। सत्कार प्रेरित को अधीष्ट, वेतन से क्रीत को भृत, अपनी सत्ता से व्याप्तकाल को और अनागमन काल को भावी कहते हैं।

मास्यः, मासीनः—(मासं भूतः) 'मासाद् वयसि यत् खञौ' से और 'खञ्' प्रत्यय होते हैं। 'ख्' को ईन्।

द्विमास्यः—(द्वौ मासौ भूतो) 'द्विगोर्यप्' से 'यप्' होता है।

षाण्मास्यः, षण्मास्यः, षाण्मासिकः—(षट् मासान् भूतः) साण्ण्यच्च' से 'ण्यत्', चकारात् 'ठञ्' और अनुवृत्ति लभ्य 'यप्' होते हैं।

षण्मासिकः, षाण्मास्यो व्याधिः—(षट्मासान् भूतः) 'अवयसि से 'ठन्' होता है। पक्ष में चकारात् 'ण्यत्' होता है।

समीनः—(समामधीष्टो भृतो भूतो भावी वा) 'समायाः खः' से होता है।

द्विसमीनः, द्वैसमिकः—(द्वे समे भूतः) 'द्विगोर्वा' से वै० 'ख' होता पक्ष में औत्सर्गिक 'ठञ्' होता है।

द्विरात्रीणः, द्वैरात्रिकः—(द्वाभ्यां रात्रिभ्यां निर्वृत्तः)द्वयहीनः, द्वैयह्निकः (द्वाभ्यामहोभ्यां निर्वृत्तः) 'रात्र्यहः संवत्सराच्च' से 'ख' वै० होता है। 'ठञ्'। द्वयहीनः में 'अह्नष्टखोरेव' से टिलोप 'द्वैयह्निकः' में नियम लोपाभाव। 'अल्लोपोऽन' से अलोप। नस्वाभ्याम्' से ऐजागम।

द्विसंवत्सरीणः, द्विसांवत्सरिकः—(द्वाभ्यां संवत्सराभ्यां निर्वृत्तः) सूत्र से पाक्षिक 'ख' होता है। पक्ष में 'ठञ्'। 'संख्यायाः संवत्सर संख्यस्य से आदिवृद्धि को बाधकर उत्तरपदवृद्धि। इसी सूत्र से 'द्विषाष्टिकः'–(भृतः) में भी उत्तरपदवृद्धि होती है। 'द्विसाम्वत्सरिकः' में 'परिमाणान्तस्य शाणयोः, से ही उत्तरपदवृद्धि हो जाती, प्रकृतसूत्र में संवत्सर ग्रहण वाचकों का परिमाणत्वेनाग्रहण ज्ञापनार्थ है। अतः 'द्वैसमिकः' में उ वृद्धि नहीं हुई, और 'द्विवर्षा' में 'अपरिमाणविस्ताचित०' से ङीप् का हो गया।

द्विवर्षीणः, द्विवार्षिकः, द्विवर्षः—(द्विवर्षं भृते) 'वर्षाल्लुक् च' से 'ख' प्रत्यय, तथा 'तमधीष्टः' से विहित 'ठञ्' का पाक्षिक लुक् होता है। प्रथम प्रयोग 'ख' पक्ष का, २तीय 'ठञ्' पक्ष का, और ३तीय लुक् पक्ष का है। संख्यायाः' से 'ठञ्' पक्ष में उत्तरपदवृद्धि होती है।

द्विवार्षिको-मनुष्यः—(द्वे वर्षे भूतः) 'तमधीष्टः' से 'ठञ्' होनेपर 'वर्षस्याभविष्यति' से उत्तरपदवृद्धि होती है। मनुष्य अर्थ में उक्त प्रयोग की साधुता मनुष्य का मनुष्य-सदृश प्रतिमादिपरता में ही सम्भव है। अन्यथा चित्तवति नित्यम्' से प्रत्यय का लुक् हो जायगा। सूत्र में 'अभविष्यति' के फलस्वरूप 'द्वैवर्षिकः' (भावी अर्थ में) आदिवृद्धि ही हुई। अधीष्ट और भृतार्थपरता में भविष्यत्काल होनेपर भी निषेधांश प्रवृत्त नहीं होता है। कारण, वहाँ भविष्य अर्थ प्रतीत होनेपर भी प्रत्ययार्थ अधीष्ट और भृत ही रहता है। यथा द्विवार्षिको-मनुष्यः—(द्वे वर्षे—अधीष्टो भृतो वा कर्म करिष्यति) इस उत्तरपदवृद्धि के प्रसङ्ग में 'परिमाणान्तस्यासंज्ञाशाणयोः' का भी उदाहरणमुखेन ग्रन्थकार स्मरण दिला देते हैं :—

द्विकौडविकः—(द्वौ कुडवौ प्रयोजनमस्य), द्विसौवर्णिकम्,—(द्वाभ्यां सुवर्णाभ्यां क्रीतम्), द्विनैष्किकम्,—(द्वाभ्यां निष्काभ्यां क्रीतम्) सर्वत्र उत्तरपदवृद्धि। असंज्ञादि पर्युदास के फलस्वरूप पाञ्चकलापिकम् (पञ्च कलापाः परिमाणमस्य), द्वैशाणम् और द्वैकुलिजिकः (कुलिज का भी पाठ किन्हीं के मत में है) में पूर्वपदाद्यच् को ही वृद्धि होती है।

द्विवर्षो दारकः, – (द्वे वर्षे भूतः) 'तमधीष्टः' से आगत 'ठञ्' का चित्तवति नित्यम्' से नित्य लुक् होता है।

षष्टिको–धान्यविशेषः—(षष्टिरात्रेण पच्यते) षष्टिकाः षष्टिरात्रेण पच्यन्ते से कन्' प्रत्यय, रात्र शब्दका लोप (निपातनात्) होता है। बहुवचन (सूत्र में) अविवक्षित है।

मासिकम्,—(मासेन परिजय्यम्, लभ्यं, कार्यं, सुकरं वा) 'तेनपरिजय्यलभ्यकार्यसुकरम्' से निर्दिष्ट अर्थ में 'ठञ्' होता है।

मासिकः, आर्धमासिको-ब्रह्मचारी—,(मासं ब्रह्मचर्यमस्य, मासोऽर्धे वा) 'तदस्य ब्रह्मचर्यम्' से निर्दिष्ट अर्थ में 'ठञ्' होता है।

माहानाम्निकः,—(महानाम्नीनां ब्रह्मचर्यमस्य) 'महानाम्न्यादिभ्यः षष्ठ्यन्तेभ्य उपसंख्यानम्' (वा०) से 'ठञ्' होता है। हरदत्त के मत में 'भस्यादेः' से पुँवद्भाव होने के कारण 'माहानामिकः' प्रयोग होता है। 'विदामघवन्नित्यादि' ऋचाओं को महानाम्नी कहते हैं।

चातुर्मास्यानि-यज्ञकर्माणि,— चतुर्षु मासेषु भवति) 'चतुर्मास्याण्ण्यो यज्ञे तत्र भव इत्यर्थे' (वा०) से 'ण्य' होता है।

चातुर्मासी-आषाढ़ी,—(चतुर्षु मासेषु भवति ; 'संज्ञायामण्' से 'अण्' होता है। 'टिड्ढाणञ्०' से ङीप्।

द्वादशाहिकी, आग्निष्टोमिकी, वाजपेयिकी —(द्वादशाहस्य, अग्निष्टोमस्य, वाजपेयस्य वा दक्षिणा) 'तस्य च दक्षिणायज्ञाख्येभ्यः' से 'ठञ्' होता है। अन्तिम २ प्रयोगों में कालवाचक शब्द न होनेपर भी, सूत्र में आख्याग्रहण के फलस्वरूप प्रत्यय विहित होता है।

प्रावृषेण्यम् , शारदम् ,—(प्रावृषि, शरदि वा दीयते कार्यं वा) 'तत्र च दीयते कार्यं भववत्' से उक्तार्थ में भी, 'प्रावृष एण्यः' से भावार्थ में विहित 'एण्य' प्रत्यय, तथा 'सन्धिवेला०' से विहित 'अण्' होता है।

इति ठञधिकारे कालाधिकारप्रकरणम्।

अथ ठञधिकार-प्रकरणम्

वैयुष्टम् ,—(व्युष्टे दीयते कार्यं वा) 'व्युष्टादिभ्योऽण्' से 'अण्' होता है। 'नय्वाभ्याम्०' से ऐजागम। व्युष्ट का अर्थ प्रातःकाल है।

याथाकथाचम् , हस्त्यम् —(यथाकथाच, हस्तेन वा दीयते कार्यं वा) 'अर्थाभ्यां तु यथासंख्यं नेष्यते' (वा०) से नियन्त्रित 'तेन यथाकथाच-हस्ताभ्यां णयतौ' से क्रमशः 'ण' और 'यत्' प्रत्यय होते हैं। यथाकथाच अव्यय समूह है।

कार्णवेष्टकिकम्–मुखम्, –(कर्णवेष्टकाभ्यां सम्पादि) 'संपादिनि' से 'ठञ्' होता है।

कर्मण्यम् ––(कर्मणा संपादि), वेष्यः–(वेषेण संपादि) 'कर्मवेषाद्यत्' से 'यत्' होता है

सान्तापिकः, सांग्रामिकः,—(सन्तापाय, संग्रामाय वा प्रभवति) 'तस्मै प्रभवति सन्तापादिभ्यः, से 'ठञ्' होता है।

योग्यः, यौगिकः,—(योगाय प्रभवति) 'योगाद्यच्च' से 'यत्' एवं चकारात् 'ठञ्' होता है।

कार्मुकम्,—(कर्मणे प्रभवति) 'कर्मण उकञ्' से 'उकञ्' प्रत्यय होता है।

सामयिकम्,—(समयः प्राप्तोऽस्य) 'समयस्तदस्य प्राप्तम्' से 'ठञ्' प्रत्यय होता है।

आर्तवम्,—(ऋतुः प्राप्तोऽस्य) 'ऋतोरण्' से 'अण्' प्रत्यय होता है।

काल्यम्–शीतम्—(कालः प्राप्तोऽस्य) 'कालाद्यत्' से 'यत्' प्रत्यय होता है।

कालिकं–वैरम्, –(प्रकृष्टो दीर्घः कालोऽस्य) 'प्रकृष्टे ठञ्' से ठञ्' होता है।

ऐन्द्रमहिकम्,––(इन्द्रमहः प्रयोजनमस्य) 'प्रयोजनम्' से 'ठञ्' होता है।

वैशाखो-मन्थः, आषाढो दण्डः,—(विशाखा, आषाढो वा प्रयोजनमस्य) 'विशाखाषाढादण्मन्थदण्डयोः, से 'अण्' होता है।

चौडम्, श्राद्धम्,—(चूडा, श्रद्धा वा प्रयोजनमस्य) 'चूडादिभ्य उपसंख्यानम्' से 'अण्' होता है।

अनुप्रवचनीयम्,—(अनुप्रवचनं प्रयोजनमस्य) 'अनुप्रवचनादिभ्यश्छः' से 'छ' प्रत्यय होता है।

व्याकरणसमापनीयम्,—(व्याकरणसमापनं प्रयोजनमस्य) 'समापनात् सपूर्वपदात्' से 'छ' होता है।

ऐकागारिकश्चौरः,—(एकमसाहयमगारं प्रयोजनमस्य मुमुषिषोः) 'ऐकागारादिकट् चौरे' से 'इकट्' प्रत्यय होता है। टित्वात् ङीप्—ऐकागारिकी।

आकालिकः,—(समानकालावाद्यन्तौ यस्य) 'आकालिकडाद्यन्तवचने' से समानकालप्रकृतिक सुबन्त से 'इकट्' प्रत्यय तथा प्रकृति के स्थानमें 'आकाल' आदेश होता है।

आकालिका-विद्युत्,—'आकालाट्ठंश्च' (वा०) से 'ठन्' होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में टाप।

इति ठञधिकारप्रकरणम्।

अथ नञ्-स्नञधिकार-प्रकरणम्

ब्राह्मणवत्-अधीते,—(ब्राह्मणेन तुल्यम्) 'तेन तुल्यं क्रिया चेद्वतिः' 'वति' प्रत्यय होता है। यह 'वति' प्रत्यय क्रिया की तुलना में ही होता है। गु तुल्य–'पुत्रेण तुल्यः स्थूलः' आदि स्थलों में नहीं होता है।

मथुरावत्,—(मथुरायामिव), चैत्रवत् - (चैत्रस्येव) 'तत्रतस्येव' 'वति' होता है।

विधिवत्,—(विधिमर्हति) 'तदर्हम्' से 'वति' होता है। यहाँ भी मण्डू प्लुति से क्रिया की अनुवृत्ति आती है, जिसके फलस्वरूप 'राजानमर्हति छत्र' आदि स्थलों में 'वति' नहीं होता है।

गोत्वम्, गोता- (गोर्भावः) 'तस्य भावस्त्वतलौ' से 'त्व' और 'तल्' प्रत्यय होता है। प्रकृति से होने वाले ज्ञान में विशेषणरूप से उपस्थित होने वाले (धर्म) अर्थ को भाव कहा जाता है, न कि धर्मान्तर को। जैसे 'घट' घटत्व, न कि द्रव्यत्व, या पृथिवीत्व। लोकनियम के अनुसार त्वान्त का नपुंसक लिङ्ग में, और तलन्त का स्त्रीलिङ्ग में प्रयोग होता है।

स्त्रैणम् - स्त्रीत्वम् - स्त्रीता, पौंस्नम् - पुँस्त्वम् - पुँस्ता—(स्त्रियः पुँसो वा भावः) 'आ च त्वात्' अधिकार सूत्र के आधारपर 'नञ्' 'स्नञ्'

(स्त्रीपुंसाभ्यां०) के साथ २ (चकारग्रहणात्) 'त्व' और 'तल्' भी होते हैं !

अपतित्वम् . अपटुत्वम् ,--(अपतेर्भावः) 'पत्यन्तपुरोहितादिभ्योयक्' से प्राप्त 'यक्' का 'न नञ्पूर्वात्तत्पुरुषादचतुरसंगतलवणवटयुधकतरसलसेभ्यः' से निषेध होता है। औत्सर्गिक 'त्व' प्रत्यय होता है। यह निषेध नञ्पूर्वक तत्पुरुष समास में ही होता है, अतः 'बार्हस्पत्यम्' में नञ्पूर्वकत्व न होने से, और 'आपटवम्' (नास्य पटवः सन्तीति तस्य भावः) में नञ्पूर्वत्व होने पर भी तत्पुरुष न होकर बहुव्रीहि होने से, क्रमशः 'यक्' ('पत्यन्त० से) और 'अण्' ('इगन्ताच्च०' से) होने में बाधा नहीं होती है। सूत्र की प्रवृत्ति चतुरादि में वर्जित होने से :—

आचतुर्यम् , आसंगत्यम् , आलवण्यम् , आवट्यम् , आयुध्यम् , आकत्यम् , आरस्यम् , आलस्यम् ,—इन स्थलों में नञ्पूर्वक तत्पुरुष होने पर भी, 'ष्यञ्' (ब्राह्मणादित्वात्) आदि प्रत्यय होने में बाधा नहीं होती है।

प्रथिमा-पार्थवम् , म्रदिमा-मार्दवम्,—(पृथोर्मृदोर्वा भावः) 'पृथ्वादिभ्य इमनिज्वा' से वै० 'इमनिच्' प्रत्यय होता है। 'र ऋतोर्हलादेर्लघोः' से 'पृथु', 'मृदु' की ऋ को र होता है। 'टेः' से टिभाग (उ) का लोप होता है। विभक्तिकार्य। राजावत्। पक्ष में 'इगन्ताच्च०' से 'अण्' होता है।

शौक्ल्यम्--शुक्लिमा, दार्ढ्यम्-द्रढिमा,—(शुक्लस्य, दृढस्य वा भावः) 'वर्णदृढादिभ्यः ष्यञ्च' से 'ष्यञ्' और चकारात् 'इमनिच्' होते हैं। षित्करणात्—औचिती, याथाकामी, में ङीष् होता है।

जाड्यम्, मौढ्यम्, ब्राह्मण्यम्—(जडस्य, मूढस्य, ब्राह्मणस्य कर्म, भावो वा) 'गुणवचनब्राह्मणादिभ्यः' 'कर्मणि च' से ष्यञ् होता है।

आर्हन्त्यम् आर्हन्ती—(अर्हतो भावः कर्म वा) 'अर्हतो नुम् च' (वा०) से ब्राह्मणादित्वात् विहित 'ष्यञ्' के योग में 'नुम्' होता है। स्त्रीत्व-विवक्षा में षित्वात् ङीष्। 'हलस्तद्धितस्य०' से यलोप। 'ब्राह्मणादि' आकृतिगण है।

आयथातथ्यम्--अयाथातथ्यम् , आयथापुर्यम्-- अयाथापुर्यम्—(अयथातथा भावः आदि) ब्राह्मणादित्वात् 'ष्यञ्' होनेपर 'यथातथायथापुरयोः पर्यायेण' से प्रयोगसिध्यनुकूल-वृद्धि की व्यवस्था होती है।

चातुर्वर्ण्यम्, चातुराश्रम्यम्, त्रैस्वर्यम्, षाड्गुण्यम्, सैन्य
सानिध्यम्, सामिप्यम्, औपम्यम्, त्रैलोक्यम्—(चत्वारो वर्णा इत्यादि
'चतुर्वर्णादीनां स्वार्थे उपसंख्यानम्' (वा०) से उक्त शब्दों में स्व
(प्रकृत्यर्थ) बोधक 'ष्यञ्' होता है।

सार्ववेद्यः-(सर्ववेद एव) 'सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे' (ग०सू०) से 'ष्यञ्'
होता है। सर्वे च ते वेदाः विग्रह में 'पूर्वकालैक०' से समास होनेपर तानधीते-अ
में आगत 'अण्' का 'सर्वादेः०' (वा०) से लुक् होने से 'सर्ववेदः'(प्रकृति)
सिद्धि होती है।

चातुर्वैद्यः—(चतुरो वेदानधीते चतुर्वेदः—'विद्यालक्षण०' से आगत 'अ
का लुक्। स एव) 'सर्ववेदादिभ्यः स्वार्थे' (ग. सू.) से आगत 'ष्यञ्'
'चतुर्वेदस्योभयपदवृद्धिश्च' (ग०) से उभयपदवृद्धि होती है। 'चतुर्विद्य' पाठ
में 'चतुर्विद्य एव चातुर्वैद्यः'।

स्तेयम्—(स्तेनस्य भावः कर्म वा) 'ष्यञ्' आनेपर 'स्तेनाद्यन्नलोप
से 'न' का लोप होता है। 'स्तेनात्' का योग-विभाग स्वीकार करके ष्यञ्
'स्तैन्य' शब्द की भी साधुता कुछ लोग स्वीकार करते हैं।

सख्यम्,—(सख्युर्भावः कर्म वा) 'सख्युर्यः' से 'य' प्रत्यय होता है
'यस्येति च'।

दूत्यम्, वणिज्यम्,-(दूतस्य, वणिजो वा भावः कर्म वा) 'दूतवणि
ग्भ्यां च' (वा०) से 'य' प्रत्यय होता है। माधव के मत में वणिज्
(वणिजो भावः) नित्य स्त्रीलिंग होता है। भाष्य में उक्त वार्तिक न होने
ब्राह्मणादित्वात्ष्यञ् होकर 'वाणिज्यम्' होता है।

कापेयम्, ज्ञातेयम्, (कपेर्ज्ञातेर्वा भावः कर्म वा) 'कपिज्ञात्योर्ढ
से 'ढक्' होता है। 'ढ्' को 'एय्'। आदिवृद्धि।

सैनापत्यम्, पौरोहित्यम्, (सेनापतेः, पुरोहितस्य भावः कर्म वा
'पत्यन्तपुरोहितादिभ्यो यक्' से 'यक्' होता है। किति च।

राज्यम्,—(राज्ञो भावः कर्म वा) 'राजाऽसे' (ग० सू०) से नियमि
व्यवस्थानुसार 'पत्यन्त०' से 'यक्' होता है। समास में ब्राह्मणादित्वात् 'ष्यञ्' हो

'आधिराज्यम्' होता है। ब्राह्मणादि में केवल 'राजन्' का पाठ होने पर भी, प्रकृत सूत्र में 'असे' ग्रहण-सामर्थ्य से तदन्तविधि होती है।

आश्वम्, औष्ट्रम्, कौमारम्, कैशोरम्, औद्गात्रम्, औन्नेत्रम्, सौष्ठवम्, दौष्ठवम्, (अश्वस्य भावः कर्म वा-आदि) 'प्राणभृज्जाति-वयोवचनोद्गात्रादिभ्योऽञ्' से 'अञ्' होता है।

द्वैहायनम्, त्रैहायनम्, यौवनम्, स्थाविरम्,—(द्वयोर्हायनयोर्भावः कर्म वा) 'हायनान्तयुवादिभ्योऽण्' से 'अण्' होता है। प्रथम दो प्रयोगों में 'त्व', 'तल्' और अन्तिम २ प्रयोगों में 'प्राणभृज्जाति॰' से 'अञ्' प्राप्त था।

श्रोत्रम्,—(श्रोत्रियस्य भावः कर्म वा) श्रोत्रियस्य यलोपश्च' (वा॰) से 'अण्' एवं 'य' का लोप होता है।

कौशल्यम्–कौशलम्,—(कुशलस्य भावः कर्म वा) कुशल, चपल, निपुण, पिशुन, कुतूहल, और क्षेत्रज्ञ शब्दों का युवादि और ब्राह्मणादि में विद्वन्मतानुसार परिगणन किया जाता है, अतः ष्यञ एवं अणन्त दोनों प्रकार के प्रयोग साधु स्वीकार किए जाते हैं।

शौचम्, मौनम्,—(शुचेर्मुनेर्वा भावः कर्म वा) 'इगन्ताच्च लघुपूर्वात् से 'अण्' होता है। 'कवि' शब्द के इगन्त होने पर भी ब्राह्मणादित्वात् 'ष्यञ्' होने से 'काव्यम्' साधु माना जाता है।

रामणीयकम्, आभिधानीयकम्,—(रमणीयस्य, अभिधानीयस्य भावः कर्म वा 'योपधाद्गुरूपोत्तमाद्वुञ्' से 'वुञ्' होता है।

साहाय्यम्- साहायकम्,—(सहायस्य भावः कर्म वा) 'सहायाद्वा' से वै॰ 'वुञ्' होता है। पक्ष में 'ष्यञ्'।

शैष्योपाध्यायिका, मानोज्ञकम्,—(शिष्योपाध्यायस्य, मनोज्ञस्य भावः कर्म वा) 'द्वन्द्वमनोज्ञादिभ्यश्च' से 'वुञ्' होता है।

गार्गिका,—(गार्ग्यस्य भावः कर्म वा) 'गोत्रचरणाच्छ्लाघात्याकारतदवेतेषु' से 'वुञ्' होता है। यह 'वुञ्' श्लाघा (प्रशंसा), अत्याकार (अधिक्षेप) और तदवेत (तद्रूप से ज्ञात) अर्थ समुदाय से अवगत होनेपर होता है। यहाँ 'गोत्र' लौकिक (अपत्याधिकार से अतिरिक्त सर्वत्र) लिया गया है।

अच्छावाकीयम्, मैत्रावरुणीयम् ,—(अच्छावाकस्य भावः कर्म) 'होत्राभ्यश्छः' से 'छ' होता है। 'होत्रा' शब्द ऋत्विग्वाची स्त्रीलिंग है। बहु निर्देश के फलस्वरूप होतृविशेषों का ग्रहण होता है।

ब्रह्मत्वम् ,—(ब्रह्मणो भावः कर्म वा) 'ब्रह्मणस्त्वः' से पूर्वविधि प्राप्त को बाधकर 'त्व' प्रत्यय होता है। 'ब्रह्मणोन' सूत्राकार करने से भी निषेध होकर औत्सर्गिक 'त्व' होकर प्रयोग सिद्ध हो ही जाता किन्तु, 'त्व' 'तल्' की निवृत्ति के लिए है। ब्राह्मण-पर्याय 'ब्रह्मन्' शब्द से 'त्व' और दोनों होते हैं। ब्रह्मत्वम् , ब्रह्मता। यतः यहाँ 'होत्राभ्यः' की अनुवृत्ति है।

इति भावकर्मार्थ-प्रकरणम् ।

अथ पाञ्चमिक-प्रकरणम्

मौद्गीनम् , - (मुद्गानां भवनं क्षेत्रम्) 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' से 'खञ्' प्रत्यय होता है। 'ख्' को ईन्।

व्रैहेयम्, शालेयम् ,—(व्रीहीणां, शालीनां वा भवनं क्षेत्रम्) 'व्रीहिशाल्योर्ढक्' से 'ढक्' प्रत्यय होता है।

यव्यम् , यवक्यम् , षष्टिक्यम् ,—(यवानां, यवकानां, षष्टिकानां भवनं क्षेत्रम्) 'यवयवकषष्टिकाद्यत्' से 'यत्' प्रत्यय होता है। 'यस्येति' से अलोप।

तिल्यम्-तैलीनम् , माष्यम्-माषीणम् , उम्यम्-औमीनम् , भङ्ग्यम्-भाङ्गीनम् , अण्व्यम्-आणवीनम् ,—(तिलानां भवनं क्षेत्रम् आदि) "विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः' से वै० 'यत्' होता है। पक्ष में औत्सर्गिक 'खञ्' होता है। 'शणसप्तदशानि धान्यानि' वचनानुसार 'उमा' और 'भङ्गा' भी धान्य स्वीकार किए गए हैं।

सर्वचर्मीणः—(सर्वश्चर्मणा कृतः) 'सर्वचर्मणः कृतः खखञौ' से 'ख' और 'खञ्' प्रत्यय होते हैं। 'खञ्' पक्ष में सार्वचर्मीणः।

यथामुखीनः, संमुखीनः—(यथामुखं, सर्वस्य मुखस्य दर्शनः) 'यथामुख

संमुखस्य दर्शनः खः' से 'ख' प्रत्यय होता है। (मुखस्य सदृशं, यथामुखं प्रतिविम्बम्। सादृश्य अर्थ में निपातनात् समास होता है। समं सर्वं मुखं सम्मुखम्। निपातनात् समशब्दस्यान्तलोपः।

सर्वपथीनः, सर्वाङ्गीणः, सर्वकर्मीणः, सर्वपत्रीणः, सर्वपात्रीणः—(सर्वपथान् व्याप्नोति) 'तत्सर्वादेः पथ्यङ्गकर्मपत्रपात्रं व्याप्नोति' से 'ख' प्रत्यय होता है।

आप्रपदीनः पटः—(पदस्याग्रं प्रपदं, तन्मर्यादीकृत्य आप्रपदं, तद्व्याप्नोति) 'आप्रपदं व्याप्नोति' से 'ख' होता है।

अनुपदीना—(अनुपदं बद्धा), सर्वान्नीनो भिक्षुः—(सर्वान्नानि भक्षयति), अयानयीनः शारः—(अयानयः स्थलविशेषः, तं नेयः) 'अनुपदसर्वान्नायानयं बद्धाभक्षयतिनेयेषु' से 'ख' होता है।

परोवरीणः—(परांश्चावरांश्चानुभवति), परम्परीणः—(परांश्च—परतरांश्चानुभवति) पुत्रपौत्रीणः—(पुत्रपौत्राननुभवति) 'परोवरपरम्परपुत्रपौत्रमनुभवति' से 'ख' होता है। प्रथम प्रयोग में—'अवर' के आद्यच् को उत्व, २ तीय में प्रकृति के स्थान में परम्परादेश, निपातनात् (इसी सूत्र से) होते हैं। परम्परा शब्द अव्युत्पन्न प्रातिपदिक के रूप में स्वतन्त्र भी है, जो कि स्त्रीलिङ्ग है। इसीसे स्वार्थ में 'ष्यञ्' होकर 'पारम्पर्यम्' भी बनता है। 'ख' प्रत्यय के सन्नियोग में ही 'परोवर' का निपातन होने से 'परोवरवत्' प्रयोग असाधु माना गया है।

अवारपारीणः—अवारीणः, पारीणः, पारावारीणः—अत्यन्तीनः, अनुकामीनः—(अवारपारं गामी, अत्यन्तमनुकामं वा गामी) 'अवारपारात्यन्तानुकामं गामी' से 'ख' होता है। विगृहीताद्विपरीतादपीष्यते' (इ.) के अनुसार २ तीय, तृतीय, और चतुर्थ प्रयोगों की साधुता है।

समांसमीना—गौः—(समायाम्-समायाम्—विजायते) 'समांसमां विजायते' से 'ख' होता है। समायाम्, २ (वीप्सा में द्विर्वचन) रूप प्रकृति भाग के पूर्वपद में 'य' लोप, तथा अवशिष्ट विभक्ति का अलुक् निपातनात् होता है। उत्तरपदस्थ विभक्ति का 'सुपो धातुः०' से लुक् होता है। प्रतिवर्ष प्रसव करनेवाली

गौ प्रयोगवाच्य होती है। 'ख प्रत्ययानुत्पत्तौ यलोपो वा वक्तव्यः' (वा० से भाग में वै० यलोप होता है। समां समां विजायते। समायाम्, समायाम्, है।

अद्यश्वीना-वडवा—(अद्य श्वो वा विजायते) 'अद्यश्वीनावष्टब्धे' से होता है। किन्हीं विद्वानों के मत में 'विजायते' का अनुवर्त्तन नहीं है, आसन्न मरणाद्यर्थ में 'अद्यश्वीनम्' भी प्रयोग होता है।

आगवीनः—(गोः प्रत्यर्पणपर्यन्तं यः कर्म करोति) 'आगवीनः' से होता है।

अनुगवीनो-गोपालः—(अनुगु-गोः पश्चात्-पर्याप्तं गच्छति) 'अनु गामी' से 'ख' होता है।

अध्वन्यः, अध्वनीनः—(अध्वानमलं गच्छति) 'अध्वनो यत्खौ' से और 'ख' होते हैं। दोनों जगह क्रमशः 'येचाभावकर्मणोः' और 'आत्माध्वानौ खे' से प्रकृतिभाव होता है।

अभ्यमित्रीयः, अभ्यमित्र्यः, अभ्यमित्रीणः—(अमित्राभिमुख सुष्ठु गच्छति) 'अभ्यमित्राच्छ च' से 'छ' एवं चकारात् 'ख' और 'यत्' होते

गोष्ठीनो-देशः—(गोष्ठो भूतपूर्वः) 'गोष्ठात्खञ् भूतपूर्वे' से होता है।

आश्वीनोऽध्वा—(अश्वस्यैकाहगमः, एकाहेन गम्यते) 'अश्वस्यै गमः' से 'खञ्' होता है।

शालीन-अधृष्टः, कौपीनं पापम्,—(शालाप्रवेशमर्हति, कूपपतनम 'शालीनकौपीने अधृष्टाकार्ययोः' से 'ख' होता है। कौपीन-शिस्न एवं तदा दनवस्त्र (लंगोट) को भी कहते हैं।

व्रातीनः—(व्रातेन, शरीरायासेन जीवति) 'व्रातेन जीवति' से होता है।

साप्तपदीनं-सख्यम्—(सप्तभिः पदैरवाप्यम्) 'साप्तपदीनं सख्यम्' 'खञ्' होता है।

हैयङ्गवीनं-नवनीतम्—(ह्यो गोदोहस्य विकारः) 'हैयङ्गवीनं संज्ञायाम्'

से 'खञ्' प्रत्यय और 'ह्यो गोदोह' प्रकृति के स्थान पर 'हियङ्ग' आदेश होता है। आदिवृद्धि।

पीलुकुणः, कर्णजाहम्—(पीलूनां पाकः, कर्णस्य मूलम्) 'तस्य पाकमूले पील्वादिकर्णादिभ्यः कुणब्जाहचौ' से क्रमशः 'कुणप्' एवं 'जाहच्' प्रत्यय होते हैं।

पक्षतिः—(पक्षस्य मूलम्) 'पक्षात्तिः' से 'ति' प्रत्यय होता है।

विद्याचुञ्चुः, विद्याचणः—(विद्यया वित्तः) 'तेन वित्तश्चुञ्चुप्चणपौ' से क्रमशः 'चुञ्चुप्' एवं 'चणप्' प्रत्यय होते हैं। यहाँ प्रत्यय से पूर्व यकार का प्रश्लेष होने से चकार की 'चुटू' से इत्संज्ञा नहीं होती है।

विना, नाना—(न सह, पृथक् वा) 'विनञ्भ्यां नानाञौ न सह' से क्रमशः 'ना' और 'नाञ्' प्रत्यय होते हैं।

विशालम्, विशङ्कटम्, (विस्तृतम्) 'वेः शालच्छङ्कटचौ' से 'शालच' एवं 'शङ्कटच्' प्रत्यय होते हैं।

सङ्कटम्, प्रकटम्, उत्कटम्, विकटम्,—(संहतम्, प्रज्ञातम्, उद्गतम्, विकृतम्) 'संप्रोदश्च कटच्' से 'कटच्' प्रत्यय होता है।

अलाबूकटम्—(अलाबूनां रजः) 'अलाबूतिलोमाभङ्गाभ्यो रजस्युपसंख्यानम्' (वा०) से 'कटच्' प्रत्यय होता है।

गोगौष्ठम्,—(गवां स्थानम्) 'गोष्ठजादयः स्थानादिषु पशुनामभ्यः' (वा०) से 'गोष्ठच्' प्रत्यय होता है।

अविकटः,—(अवीनां संघातः) 'संघाते कटच्' (वा०)से 'कटच्' होता है।

अविपटः,—(अवीनां विस्तारः) विस्तारे पटच्' (वा०)से 'पटच्' होता है।

उष्ट्रगोयुगम्,—(द्वावुष्ट्रौ) 'द्वित्वे गोयुगच्' (वा०) से 'गोयुगच्' होता है।

अश्वषड्गवम्,—(षडश्वाः) 'षट्त्वे षड्गवच्'(वा०) से 'षड्गवच्' होता है।

तिलतैलम्, सर्षपतैलम्,—(तिलानां सर्षपाणां वा स्नेहः) 'स्नेहे तैलच्' (वा०) से 'तैलच्' होता है।

इक्षुशाकटम्, इक्षुशाकिनम्,—(इक्षूणां भवनं क्षेत्रम्) 'भवने क्षेत्रे शाकटशाकिनौ'(वा०) से क्रमशः 'शाकट' एवं 'शाकिन' प्रत्यय होते हैं।

अवकुटारः, अवकटः,—(अवाचीनः) 'अवात्कुटारच्च' से अ एवं 'कटच्' प्रत्यय होते हैं।

अवटीटम्, अवनाटम्, अवभ्रटम्,—(नासिकाया नतम्) नासिकायाः संज्ञायां टीटञ्नाटज्भ्रटचः' से क्रमशः 'टीटच्', 'नाटच्' 'भ्रटच्' प्रत्यय होते हैं। तत्संयुक्त होने से (लक्षणा द्वारा) नासिका— और पुरुष—अवटीट कहलाता है।

निबिडम्, निबिरीसम्,—(नासिकाया नतम्) 'नेर्बिडज्बि से 'बिडच्' एवं 'बिरीसच्' प्रत्यय होते हैं।

चिकिनम्, चिपिटम्, चिक्कम्,—(नासिकाया नतम्) 'इनच्पिटच् च' से 'इनच्', 'पिटच्' प्रत्यय तथा प्रकृति के स्थान में क्रमशः 'चिक' 'चि' आदेश होते हैं। अन्तिमप्रयोग में 'कप्रत्ययचिकादेशौ च क (वा०) से 'क' प्रत्यय एवं प्रकृति के स्थान में 'चिक्' आदेश होता है।

चिल्लः, पिल्लः,—(क्लिन्ने चक्षुषी अस्य) 'क्लिन्नस्य चिल् लश्चास्य चक्षुषी' से 'ल' प्रत्यय एवं प्रकृति 'क्लिन्न' के स्थान में क्रमशः 'पिल्' आदेश होते हैं। इसी प्रकार 'चुल् च' (वा०) से 'चुल्लः' होता है।

उपत्यका,—(पर्वतस्यासन्नं स्थलम्), अधित्यका (पर्वतस्यारूढं स्थलम्) 'उपाधिभ्यां त्यकन्नासन्नारूढयोः' से संज्ञा में 'त्यकन्' प्रत्यय होता है। लोकबल से स्त्रीलिंग। 'त्यकनश्च निषेधः' से 'प्रत्ययस्थात्०' से प्राप्त का निषेध होता है।

कर्मठः—पुरुषः,—(कर्मणि घटते) 'कर्मणि घटोऽठच्' से 'अठच्' होता है।

तारकितं नभः,—(तारकाः संजाता अस्य) 'तदस्य संजातं तारका इतच्' से 'इतच्' होता है। यह आकृति-गण है।

ऊरुद्वयसम्, ऊरुदघ्नम्, ऊरुमात्रम्,—(ऊरू प्रमाणमस्य) द्वयसज् दघ्नञ् मात्रचः' से 'द्वयसच्', 'दघ्नच्', और 'मात्रच्' प्रत्यय होते

शमः, दिष्टिः, वितस्तिः,—(शमः–आदि प्रमाणमस्य) पूर्वसूत्र से आगत मात्रच्' का 'प्रमाणे लः' (वा०) से लुक् होता है।

द्विशमम् ,—(द्वौ शमौ प्रमाणमस्य) 'प्रमाणे०' से आगत 'मात्रच्' का द्विगोर्नित्यम् ' (वा०) से लुक् होता है।

शममात्रम्, प्रस्थमात्रम्, पञ्चमात्रम् ,—(शमः–आदि स्यान्न वा) 'प्रमाणपरिमाणाभ्यां संख्यायाश्चापि सशये मात्रज्वक्तव्यः' (वा०) से 'मात्रच्' होता है।

तावद्द्वयसम्, तावन्मात्रम् ,—'वत्वन्तात् स्वार्थे द्वयसज्मात्रचौ बहुलम्' (वा) से 'द्वयसच्', एवं 'मात्रच्' प्रत्यय होते हैं। विग्रह—तावदेव।

पौरुषम्—पुरुषद्वयसम् , हास्तिनम्—हस्तिद्वयसम् ,—(पुरुषो हस्ती वा प्रमाणमस्य) 'पुरुषहस्तिभ्यामण् च' से 'अण्' एवं चकारात् 'द्वयसच्' प्रत्यय होते हैं।

यावान् , तावान् , एतावान्—(यावत्परिमाणमस्येत्यादिः) "यत्तदेतेभ्यः परिमाणे वतुप्" से 'वतुप्' होता है।

कियान् , इयान् ,—(किं परिमाणमिदं परिमाणं वास्य) उक्तार्थ में आगत 'वतुप्' के वकार के स्थान में 'किमिदंभ्यां वोघः' से 'घ' आदेश होता है। अतएव ज्ञापकात् 'वतुप्' प्रत्यय का भी विधान होता है। 'घ्' को इय्। 'इदंकिमोरीश्की' से क्रमशः 'की' एवं 'ईश्' आदेश होता है। 'यस्येति च' से 'ई' का लोप। द्वितीय प्रयोग में केवल प्रत्ययमात्र शेष रह जाता है। इसी के बारे में श्लेषमयी भाषा में किसी कवि ने कहा है :—

"उदितवति परस्मिन् प्रत्यये शास्त्रयोनौ
गतवति विलयञ्च प्राकृतेऽपि प्रपञ्चे।
सपदि पदमुदीतं केवलः प्रत्ययो यत्
तदियदिति मिमीते को हृदा पण्डितोऽपि॥"

कति,—(का संख्या येषां ते) 'किमः संख्यापरिमाणे डति च' से 'डति' प्रत्यय होता है। डित्वाट्टिलोप। पक्ष में 'वतुप्' तथा उसके वकार को घादेश पूर्ववत्। कियन्तः।

पञ्चतयं दारु,—(पञ्चावयवाऽस्य) 'संख्याया अवयवे तयप्' से
होता है।

द्वयम्, द्वितयम्, त्रयम्, त्रितयम्,—(द्वाववयवौ, त्रयोऽवयवा वा
'द्वित्रिभ्यां तयस्यायज्वा' से पूर्वसूत्र द्वारा आगत 'तयप्' के स्थान में वै० 'अ
होता है।

उभयम्,—(उभाववयवौ-अस्य) 'उभादुदात्तो नित्यम्' से 'संख्यायाः
आगत 'तयप्' के स्थान में नित्य 'अयच्' होता है।

एकादशम्,—(एकादश-अधिका अस्मिन्) 'तदस्मिन्नधिकमिति
न्ताड्डः' से 'ड' प्रत्यय होता है। डित्वाट्टिलोप। यह 'ड' प्रत्यय 'शतसहस्रयो
(वा०) से निर्धारित होने के कारण (एकादश अधिका अस्यां विंशतौ)
'ड' नहीं होता है। 'प्रकृतिप्रत्ययार्थयोः समानजातीयत्व एवेष्यते' (वा०
समानजातीयता की स्थिति में ही 'ड' होने की व्यवस्था निश्चित होने से (ए
माषा अधिका अस्मिन् सुवर्णशते) विग्रह में 'ड' नहीं होता है।

त्रिंशम्, विंशम्—शतम्—(त्रिंशत्, विंशतिर्वा - अधिका - अ
'शदन्तविंशतेश्च' से 'ड' होता है।

द्विमयम्—उदश्विद्यवानाम्,—(यवानां द्वौ भागौ निमानं-मूल्य
'संख्याया गुणस्य निमाने मयट्, से 'मयट्' प्रत्यय होता है। यवों के दो भाग
वस्तु के मूल्य हों—यह प्रयोगार्थ है। यह 'मयट्' 'गुणस्य' ग्रहण के फल
जहाँ गुणवाचक की संख्या ही मूल्य रूप से हो वहीं होता है। तदतिरिक्त (
हियवौ निमानमस्य) आदि स्थलों में नहीं होता है। इसी तरह 'निमाने' ग्रह
फलस्वरूप (द्वौ गुणौ क्षीरस्य एकस्तैलस्य द्विगुणं क्षीरं पच्यते तैलेन) में
की प्रतीति के अभाव में 'मयट्' नहीं होता है।

एकादशः,—(एकादशानां पूरणः) 'तस्य पूरणे डट्' से 'डट्' होता
डित्वाट्टिलोप।

पञ्चमः,—(पञ्चानां पूरणः) पूर्व सूत्र से आगत 'डट्' के स्थान में
आदेश होता है।

विंशः, एकादशः,—में क्रमशः नान्तत्वाभाव, और संख्यादित्वाभाव के कारण मडादेश नहीं होता है।

षष्ठः, कतिथः, कतिपयथः, चतुर्थः,—(षण्णां पूरणः, आदि) 'षट्कति-कतिपयचतुरां थुक्' से पूर्णार्थक 'डट्' के सन्नियोग में थुगागम होता है। कतिपय शब्द से 'डट्' प्रत्यय इसी ज्ञापन से होता है।

तुरीयः-तुर्यः,—(चतुर्णाम्पूरणः) 'चतुरश्छयतावाद्यक्षरलोपश्च' (वा०) से 'छ' एवं 'यत्' प्रत्यय तथा प्रकृतिघटक 'च' का लोप होता है।

बहुतिथः,—(बहूनां पूरणः) 'तस्य पूरणे डट्' से 'डट्' होनेपर उसके सन्नियोग में 'बहुपूगगणसंघस्य तिथुक्' से 'तिथुक्' आगम प्रकृति को होता है। पूग, संघ शब्दों के संख्यावाचक न होनेपर भी इसी सूत्र के ज्ञापन से 'डट्' होता है।

यावतिथः,—(यावतां पूरणः) पूरणार्थक 'डट्' होनेपर 'वतोरिथुक्' से प्रकृति को 'इथुक्' आगम होता है।

द्वितीयः, तृतीयः,—(द्वयोस्त्रयाणां वा पूरणः) पूरणार्थक 'डट्' को बाधकर प्रथमप्रयोग में 'द्वेस्तीयः' से और द्वितीय प्रयोग में 'त्रेः सम्प्रसारणं च' से 'तीय' प्रत्यय एवं 'त्रि' के 'र' को 'ऋ' सम्प्रसारण भी होता है।

विंशतितमः, विंशः,—(विंशतेः पूरणः) पूरणार्थक 'डट्' को 'विंशत्यादिभ्यस्तमडन्यतरस्याम्' से वै० तमडागम होता है। पक्ष में 'तेः विंशतेर्डिति' से 'ति' का लोप होता है। इसी प्रकार एकविंशतितमः और एकविंशः की भी प्रक्रिया जानें।

शततमः, एकशततमः, मासतमः,—(शतस्य पूरणः) पूरणार्थक 'डट्' को 'नित्यं शतादिमासार्धमाससंवत्सराच्च' से तमडागम नित्य होता है। मासादिशब्दों से इसी सूत्र के ज्ञापन से 'डट्' होता है।

षष्टितमः,—(षष्टेः पूरणः) पूरणार्थक 'डट्' को 'षष्ट्यादेश्चासंख्यादेः' से तमडागम होता है। संख्यावाचक शब्द जिसके आदि में हो ऐसे षष्टि शब्द से 'विंशत्यादिभ्यः०' से वै० तमडागम होता है। एकषष्टः, एकषष्टितमः।

अच्छावाकीयं-सूक्तम्, वारवन्तीयं-साम,—(अच्छावाकशब्दोऽस्मिन्नस्तीत्यादि) 'मतौ छः सूक्तसाम्नोः' से 'छ' होता है।

गर्दभाण्डः-गर्दभाण्डीयः,—(गर्दभाण्डशब्दोऽस्मिन्नस्ति) 'अध्याया वाकयोर्लुक्' से 'छ' का वै० लुक् होता है। यहाँ 'छ' विधायक कोई शास्त्र न है, और प्रकृत सूत्र ने उसके लुक् का विधान कर दिया है, अतः (सूत्र चारिता के लिए) 'छ' का विधान भी इसी सूत्र के ज्ञापन से होता है। 'छ' विधान स्वयं लुक्-विधान को सार्थक करने के लिए पक्ष में छ प्रत्यय घटित प्रयोग श्रुत रहता है।

वैमुक्तः, दैवासुरः,—(विमुक्तः-देवासुरो वा शब्दोऽस्मिन्नध्यायेऽनुवा वाऽस्ति) 'विमुक्तादिभ्योऽण्' से 'अण्' होता है।

गोपदकः, इषेत्वकः,—(गोपदः इषेत्वा-वा शब्दोऽस्मिन्नध्यायेऽनुवा वाऽस्ति) 'गोपदादिभ्यो वुन्' से 'वुन्' होता है। 'वु' को अक्।

पथकः,—(पथि कुशलः) 'तत्र कुशलः पथः' से 'वुन्' होता है।

आकर्षकः,-आकषकः—(आकर्षे कुशलः) 'आकर्षादिभ्यः कन्' से 'क होता है। रेफ रहित (सिद्धान्त) पाठ पक्ष में द्वितीय प्रयोग निष्पन्न होता है कसौटी के पत्थर को आकष कहते हैं।

धनकः, हिरण्यकः—(धने हिरण्ये वा कामः) 'धनहिरण्यात्कामे' से 'क प्रत्यय होता है।

केशकः—(केशेषु प्रसितः—तद्रचनायां तत्परः) 'स्वाङ्गेभ्यः प्रसिते' से 'क होता है।

औदरिकः—(बुभुक्षयाऽत्यन्तपीडितः सन्—उदरे प्रसितः) 'उदराद्य द्यूने' से 'कन्' को बाधकर 'ठक्' होता है। आद्यूने-जिसकी साधुता 'दिवोऽविजि गीषायाम्' से निष्ठात को (दिव् से आगत) नत्वं होकर होती है-ग्रहण के फलल रूप उदरकः-(उदरपरिमार्जनादौ प्रसक्तः) में 'कन्' ही होता है।

सस्यकः शस्यकः—(सस्येन गुणेन परिजातः संबद्धः) 'सस्येन परिजात से 'कन्' होता है। सस्य गुणवाचक है धान्यवाचक नहीं। शस्य भी पाठ है।

अंशको-दायादः—(अंशं हारी) 'अंशं हारी' से 'कन्' होता है।

तन्त्रकः-पटः—(तन्त्रात्-तन्तवायशलाकातः—अचिरापहृतः) 'तन्त्रादचि रापहृते' से 'कन्' होता है।

ब्राह्मणकः-उष्णिका-यवागूः—(आयुधजीविनो ब्राह्मणा यस्मिन् देशे, अल्पमन्नं यस्यां सा) 'ब्राह्मणकोष्णिके संज्ञायाम्' से 'कन्' होता है। द्वितीय प्रयोग में अन्न शब्द को उष्णादेश-निपातनात् होता है।

शीतकोऽलसः, उष्णकः शीघ्रकारी—(शीतमुष्णं वा करोति) 'शीतोष्णाभ्यां कारिणि' से 'कन्' होता है।

अधिकम्—अध्यारूढ शब्द से 'अधिकम्' सूत्र द्वारा 'कन्,' एवं उत्तरपद (आरूढ) का लोप होता है।

अनुकः, अभिकः-अभीकः—(अनुकामयते, अभिकामयते) 'अनुकाभिकाभीकः कमिता' से 'कन्' (अनु, अभि अव्यय से) एवं अभि को पाक्षिक दीर्घ होता है।

पार्श्वकः—(अनृजुरुपायः पार्श्वं, तेनान्विच्छति) 'पार्श्वेनान्विच्छति' से 'कन्' होता है।

आयःशूलिकः, दाण्डाजिनिकः—(अयःशूलेन-तीक्ष्णोपायेन, दण्डाजिनेन-दम्भेनान्विच्छति) 'अयः शूलदण्डाजिनाभ्यां ठक्ठञौ' से क्रमशः 'ठक्' एवं 'ठञ' होते हैं।

द्वितीयकं द्विकं वा ग्रहणं देवदत्तस्य—(द्वितीयं ग्रहणमस्य) 'तावतिथं ग्रहणमिति लुग्वा' से 'कन्' प्रत्यय, एवं पूरणार्थक-प्रत्यय का वै० लुक् होता है। 'तावतिथ' (सूत्रघटक) समस्त पूरणप्रत्ययान्तशब्दों का प्रतिनिधित्व करता है।

षट्कः, पञ्चकः—(षष्ठेन, पञ्चमेन वा गृह्णाति) 'तावतिथेन-गृह्णातीति कन्वक्तव्यो नित्यं च लुक्' (वा०) से 'कन्' एवं पूरण प्रत्यय का नित्य लुक् होता है।

देवदत्तकः—(देवदत्तो मुख्योऽस्य) 'स एषां ग्रामणीः' से 'कन्' होता है। इसी तरह त्वत्कः, मत्कः।

शृङ्खलकः-करभः—(शृङ्खलमस्य बन्धनम्) 'शृङ्खलमस्यबन्धनं करभे' से 'कन्' होता है।

उत्कः—'उत्क उन्मनाः' से उद्गतमनस्कार्थक उत् शब्द से स्वार्थ में 'कन्' होता है। उत्कमिदं प्रयोजनं है।

द्वितीयको-ज्वरः, विषपुष्पकः, उष्णकः—(द्वितीयेऽहनि भवः, विषपुष्पैर्जनितः, उष्णं कार्यमस्य) 'कालप्रयोजनाद्रोगे' से 'कन्' होता है। रोगातिरिक्त अर्थ (द्वितीयो दिवसोऽस्य) में 'कन्' नहीं होता है।

गुडापूपिका-पौर्णमासी,—(गुडापूपाः प्रायेणान्नमस्याम्) 'तदस्मिन्नन्नं प्रायेण संज्ञायाम्' से कन् होता है। स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्।

वटकिनी,—(वटकाः प्रायेणान्नमस्याम्) 'वटकेभ्य इनिर्वाच्यः' (वा०) से 'इनि' प्रत्यय होता है।

कौल्माषी,—(कुल्माषाः प्रायेणान्नमस्याम्) 'कुल्माषादञ्' से 'अञ्' होता है।

श्रोत्रियः,—(छन्दोऽधीते) 'श्रोत्रियश्छन्दोऽधीते' से 'छन्दोऽधीते' वाक्य के स्थान में 'श्रोत्रियन्' आदेश होता है, अथवा 'छन्दस्' के स्थान में 'श्रोत्रादेश तथा घ' प्रत्यय होता है। (दोनों ही पक्ष भाष्य में हैं।) 'वा' की अनुवृत्ति के फलस्वरूप 'तदधीते०' से 'अण्' होकर 'छान्दसः' भी होता है।

श्राद्धी, श्राद्धिकः,—(श्राद्धमनेन भुक्तम्) 'श्राद्धमनेन भुक्तमिनिठनौ' से क्रमशः 'इनि' और 'ठन्' प्रत्यय होते हैं।

पूर्वी, कृतपूर्वी,—(पूर्वं कृतमनेन, कृतपूर्वमनेन) प्रथम प्रयोग में 'पूर्वादिनिः' से, तथा द्वतीय में 'सपूर्वाच्च' से 'इनि' प्रत्यय होता है। द्वतीय प्रयोग में कृत और पूर्व का 'सुप्सुपा' से समास होता है। यहाँ उत्तरप्रयोग में तदन्त विधि द्वारा पूर्वसूत्र से ही 'इनि' हो जाता, उत्तर सूत्र, 'ग्रहणवता प्रातिपदिकेन तदन्तविधिर्न' परिभाषा ज्ञापनार्थ है। इसी तरह व्यपदेशीवद्भाव द्वारा उत्तर सूत्र से ही पूर्वप्रयोग में भी इष्ट प्रत्यय हो जाता, पूर्वसूत्र, 'व्यपदेशिवद्भावोऽप्रातिपदिकेन' परिभाषा ज्ञापनार्थ है।

इष्टी, अधीती,—(इष्टमधीतंवाऽनेन) 'इष्टादिभ्यश्च' से 'इनि' होता है। दण्डीवत् साधुता होती है।

परिपन्थी, परिपरी,—(पर्यवस्थाता—शत्रुरेव) 'छन्दसि परिपन्थिपरिपरिणौ पर्यवस्थातरि'' से 'इनि' प्रत्यय और पर्यवस्थातृ के स्थान में क्रमशः 'परि

और 'पर' आदेश (वेद में) होते हैं। लोक में ऐसा प्रयोग असाधु माना जाता है।

अनुपदी,—(अनुपदमन्वेष्टा) 'अनुपद्यन्वेष्टा' से 'इनि' होता है।

साक्षी,—(साक्षाद्रष्टा) 'साक्षाद्रष्टरि संज्ञायाम्' से 'इनि' होता है। 'अव्ययानां भमात्रे०'' से टिलोप होता है।

क्षेत्रियः,—(परक्षेत्रे चिकित्स्यः) 'क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः' से 'घच्' प्रत्यय एवं प्रकृतिघटक 'पर' का लोप (निपातनात्) होता है। अथवा क्षेत्रियजादेश।

इन्द्रियम् ,—(इन्द्रेण दृष्टम् ,) 'इन्द्रियमिन्द्रलिङ्गमिन्द्रदृष्टमिन्द्रसृष्टमिन्द्रजुष्टमिन्द्रदत्तमिति वा' से 'घच्' प्रत्यय होता है। इन्द्र आत्मा को कहते हैं, उसके चक्षु श्रोत्रादि लि० हैं। यतः उन्हीं से आत्मा का अनुमान होता है।

गोमान् —(गावोऽस्यास्मिन्वा सन्ति) 'तदस्यास्त्यस्मिन्निति मतुप्' से 'मतुप्' होता है। 'उ' और 'प्' की इत्संज्ञा, लोप होने पर प्रातिपदिकत्वात् विभक्ति आती है। यह 'मतुप्' इति शब्द के (विषयविशेषलाभार्थ) कारण अधिकता आदि अर्थों में होता है। अर्थनिर्णायक वार्त्तिक है :—'भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने। संसर्गेऽस्तिविवक्षायां भवन्ति मतुबादयः'।

रसवान् , रूपवान् ,—(रसोरूपं वाऽस्यास्ति) 'रसादिभ्यश्च' से गुणात्' के सहयोग से 'मतुप्' होता है। अन्यमत्वर्थीय निवृत्त्यर्थ सूत्र है।

स्ववान् ,—पूर्वनिर्दिष्ट अर्थ में 'एकाचः' (ग० सू०) से 'मतुप्'।

विदुष्मान् ,—(विद्वान्सस्यास्मिन्वास्ति) 'तदस्यास्ति०' से 'मतुप्' होने पर 'तसौ मत्वर्थे' से भसंज्ञा होती है, जिसके फलस्वरूप जश्त्वाभाव, एवं 'वसोः सम्प्रसारणम्' से सम्प्रसारण होता है।

शुक्लः पटः, कृष्णः,—(शुक्लः कृष्णो वा गुणोऽस्यास्ति) उक्तार्थ में आगत 'मतुप्' का 'गुणवचनेभ्यो मतुपो लुगिष्टः' से लुक् होता है।

किंवान् , ज्ञानवान् , विद्यावान, लक्ष्मीवान् , यशस्वान् , भास्वान् ,—उक्तार्थ में आगत 'मतुप्' के म को 'मादुपधायाश्च मतोर्वोऽयवादिभ्यः' से वकार होता है। पूर्वागत 'रसवान्' आदि प्रयोगों में भी इसी से वत्व होता है। यवादि के वर्जित होने से 'यवमान्', भूमिमान्' में वत्व नहीं होता है।

विद्युत्वान् ,—(विद्युदस्यास्ति) 'मतुप्' के म को वकार 'झयः' से होता है। 'तसौ०' से भसंज्ञा होने पर, पदत्वाभाव के कारण जश्त्व नहीं होता है।

अहीवती, मुनीवती,—'संज्ञायाम्' से व होता है। 'शरादीनां च' से दीर्घ होता है।

आसन्दीवान्-ग्रामः, अष्ठीवान्-ऋषि, चक्रीवान् , कक्षीवान् ,

रुमण्वान् , चर्मण्वती,—इन प्रयोगों की 'आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद्रुमण्वच्चर्मण्वती' से निपातनात् सिद्धि होती है। इनकी प्रकृति क्रमशः आसन, अस्थि, चक्र, कक्ष्या, लवण और चर्मन् थी, जिनको क्रमशः आसन्दी, अष्ठी और चक्री आदेश, तथा अन्तिम ३ प्रयोगों में सम्प्रसारण, रुमणादेश, और नलोपाभाव का निपातन 'मतुप्' परे रहते संज्ञावाचकता (किसी का नाम) की स्थिति में होता है। अन्यत्र आसनवान्, अस्थिमान् , चक्रवान्, कक्ष्यावान् , लवणवान् और चर्मवती प्रयोग साधु माने जाते हैं।

उदन्वान्–ऋषि , समुद्रश्च,– (जलमस्यास्मिन्वास्ति) 'उदन्वानुदधौ च' से 'मतुप्' निमित्तक 'उदक' के स्थान में उदान्नादेश संज्ञा में होता है।

राजन्वतो–भूः,—(राजानः सन्त्यस्याम्) सौराज्यार्थावगमन की स्थिति में 'राजन्वान् सौराज्ये' से नलोपाभावका निपातन होता है। सौराज्यातिरिक्त–अर्थ में राजवान्।

चूडालः–चूडावान्, (चूडाऽस्याऽस्ति) 'प्राणिस्थादातो लजन्यतरस्याम्' से वै० 'लच्' होता है। पक्ष में मतुप्।

शिखावान् ,—दीपः, में प्राणिस्थत्वाभाव से और हस्तवान् में आदन्तत्वाभाव के कारण 'लच्' नहीं होता है। 'प्राणिस्थ' शब्द से भी प्राण्यङ्ग ही लिया गया है, अतः मेधावान् में 'लच्' नहीं होता है। 'लच्' में चित् का फल 'चूडालोऽसि' में 'स्वरितो वाऽनुदात्ते पदादौ' से प्राप्त स्वरितत्व को बाधकर अन्तोदात्त का विधान है, अन्यथा प्रत्ययस्वर से ही अन्तोदात्तत्व सिद्ध था।

सिध्मलः सिध्मवान्,—'सिध्मादिभ्यश्च' से 'लच्' होता है। 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति के फलस्वरूप पक्ष में 'मतुप्' भी होता है। 'मतुप्' संग्रहार्थ ही

'अन्यतरस्याम्' है विकल्पार्थ नहीं अतः अकारान्त सिध्मादि से इनि, ठन्, आदि प्रत्यय नहीं होते हैं।

वातूलः,—मतुबर्थ में सिध्मादित्वात् 'लच्' होने पर 'वातदन्तबलललाटानामूङ् च' से निर्दिष्टप्रकृति के अन्तिम वर्ण को ऊङ् होता है।

वत्सलः, अंसलः,—(वत्सं कामयते, बलिष्ठ-अंसशाली) 'वत्सांसाभ्यां कामबले' से क्रमशः काम, और बल अर्थ में लच् होता है।

फेनिलः, फेनलः, फेनवान्,—(फेनोऽस्याऽस्ति) 'फेनादिलच्च' से इलच्, एवं चकारात् लच् होता है। 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति के फलस्वरूप मतुप् का भी संग्रह होता है।

लोमवान्-लोमशः,—(लोम-अस्याऽस्ति) रोमशः—रोमवान्,—(रोम-अस्याऽस्ति) पामनः, (पाम-अस्याऽस्ति) 'लोमादिपामादिपिच्छादिभ्यश्च शनेलचः' से क्रमशः, श, न और पिच्छादि से इलच् होता है। पिच्छिलः।

अङ्गना —(कल्याणान्यङ्गान्यस्याः) 'अङ्गात्कल्याणे' से 'न' होता है। स्त्रीत्वाट्टाप्।

लक्ष्मणः,—(लक्ष्मीः-अस्याऽस्ति) 'लक्ष्म्या अच्च' से 'न' प्रत्यय तथा 'ई' को 'अ' होता है।

विषुणः—(विष्वगस्ति-अस्य) 'विष्वगित्युत्तरपदलोपश्चाकृतसन्धेः' (वा०) से 'न' प्रत्यय तथा सन्धि के पूर्व ही (विषु-अञ्च्) उत्तरपद (अञ्च्) का लोप होता है। णत्व।

पिच्छिलः उरसिलः,—(पिच्छमुरो वाऽस्याऽस्ति) 'लोमादि०' से (पिच्छादित्वात्) इलच् विकल्प से होता है। पक्ष में मतुप्। पिच्छवान्, उरस्वान्।

प्राज्ञः, प्राज्ञाः—(प्रज्ञाऽस्याऽस्ति, अस्या वा) श्राद्धः, आर्चः,—(श्रद्धा, अर्चावाऽस्यास्ति) 'प्रज्ञाश्रद्धाऽर्चाभ्यो णः' से ण होता है। स्त्रीत्वविवक्षा में (अणन्तत्वाभावात्) टाप्।

वार्त्तः,—(वृत्तिरस्याऽस्ति) 'वृत्तेश्च' (वा०) से ण होता है। 'यस्येति च'।

तपस्वी, सहस्री,—(तपः, सहस्रं वाऽस्याऽस्ति) 'तपः सहस्राभ्यां विनीनी' से 'विनि' और इनि प्रत्यय होते हैं। इकारोच्चारणसामर्थ्यात् 'न्' की इत्संज्ञा

नहीं होती है। इन दोनों प्रयोगों में क्रमशः 'असमायाः०' और 'अतः०' से उक्त प्रत्यय हो ही सकते हैं, पुनः सूत्रनिर्माण की आवश्यकता, अग्रिम सूत्र 'अण्च' से बाधा न हो जाय, तथा सहस्र से ठन् की भी प्रसक्ति थी।

तापसः, साहस्रः,—पूर्वनिर्दिष्ट अर्थ में 'अण् च' से अण् होता है। योग-विभाग उत्तरार्थ है।

ज्यौत्स्नः, तामिस्रः,—(ज्योत्स्ना, तमिस्रा वाऽस्याऽस्ति) 'ज्योत्स्नादिभ्य उपसंख्यानम्' (वा०) से अण् होता है।

सैकतः, शार्करः,—(सिकताः, शार्करा वाऽस्य सन्ति) 'सिकताशर्कराभ्यां च' से अण् होता है।

सिकताः, सिकतिलः, सैकतः, सिकतावान्,—(सिकताः सन्त्यस्मिन्-देशे) 'देशे लुबिलचौ च' से अण् का लुक्, पक्ष में 'इलच्' एवं चकारात् अण्, और 'अन्यतरस्याम्' (अनुवृत्ति लभ्य) से मतुप्-समुच्चय होने से मतुप्। लुप्। पक्ष में 'लुपि युक्तवत्०' से स्त्रीत्व एवं बहुवचन। इसी प्रकार 'शर्करा के भी ४ स्वरूप जानें।

दन्तुरः—(उन्नताः-दन्ताः सन्त्यस्य) 'दन्त उन्नत उरच्' से उरच् होता है।

ऊषरः,—(ऊषः क्षारमृत्तिका-अस्याऽस्ति) सुषिरः,—(सुषिश्छिद्रम्-अस्याऽस्ति) मुष्करः,—(मुष्कः—अण्डोऽस्याऽस्ति) मधुरः,—(मधु-माधुर्यमस्याऽस्ति) 'ऊषसुषि-मुष्कमधोरः' से 'र' प्रत्यय होता है।

खरः, मुखरः, कुञ्जरः—(खं—महत्कण्ठविवरं,—मुखं, कुञ्जो-हस्ति-हनु-र्वाऽस्यास्ति) 'रप्रकरणे खमुखकुञ्जेभ्य उपसंख्यानम्' (वा०) से र होता है।

नगरम्, पांसुरः, पाण्डुरः,—(नगः-वृक्षः, पाण्डुः शुभ्रोवर्णः, पांसु-धूलि-र्वाऽस्यास्ति) 'नगपांसुपाण्डुभ्यश्च' (वा०) से 'र' होता है।

कच्छुरः,—(कच्छू-स्त्वग्रोगविशेषोऽस्याऽस्ति) 'कच्छ्वा ह्रस्वत्वं च से र' प्रत्यय एवं प्रकृति को ह्रस्व होता है।

द्युमः, द्रुमः —(द्यौ द्रु-र्वृक्षो वाऽस्याऽस्ति-जनकतया) 'द्युद्रुभ्यांमः' से 'म' प्रत्यय होता है।

केशवः, केशी, केशिकः, केशवान्, (केशाः सन्त्यस्य) 'केशाद्वोऽन्यतरस्याम्' से 'व', एवं समागत 'अन्यतरस्याम्' से 'मतुप्' का समुच्चय, तथा प्रकृत सूत्र में कृत 'अन्यतरस्याम्' से 'इनि' और 'ठन्' का समावेश होता है।

मणिवः, हिरण्यवः, (मणिर्हिरण्यं वाऽस्याऽस्ति) 'अन्येऽभ्योऽपि दृश्यते' (वा०) से 'व' होता है।

अर्णवः, (अर्णो जलमस्याऽस्ति) 'अर्णसो लोपश्च' (वा०) से 'व' प्रत्यय तथा 'स्' का लोप होता है।

गाण्डिवम्, गाण्डीवम्, अजगवम्, संज्ञा में 'गाण्ड्यजगात् संज्ञायाम्' से 'व' होता है। पहला, दूसरा अर्जुन, और ३सरा शंकरजी के धनुष की संज्ञा है।

काण्डीरः, आण्डीरः, (काण्डमण्डं वाऽस्याऽस्ति) 'काण्डाण्डादीरन्नीरचौ' से क्रमशः 'ईरन्' एवं 'ईरच्' प्रत्यय होते हैं।

रजस्वला-स्त्री. कृषीवलः, आसुतीवलः, परिषद्वलः, पर्षद्वलम्, (रज-आदि-अस्या-अस्य वा अस्ति) 'रजः कृष्यासुतिपरिषदो वलच्' से 'वलच्' होता है। अन्तिम प्रयोग 'पर्षत्' पाठके अनुसार है। प्रथम २तीय में 'वले' से दीर्घ होता है।

भ्रातृवलः पुत्रवलः, पूर्वार्थमें 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (वा०) से वलच् होता है। इसी प्रकार 'शत्रुवलः' भी होता है। 'वले' से संज्ञा में ही दीर्घ होने के कारण उक्त प्रयोग में दीर्घ नहीं होता है।

दन्तावलः, शिखावलः—प्रचलित अर्थ में 'दन्तशिखात्संज्ञायाम्' से वलच् होता है। 'वले' से दीर्घ होता है।

ज्योत्स्ना,--(ज्योतिरस्याऽस्ति) तमिस्रा, (तमोऽस्ति-अस्याः), शृङ्गिणः—(शृङ्गमस्ति-अस्य) ऊर्जस्वी, ऊर्जस्वलः, (उर्जोवलमस्याऽस्ति गोमी, (गौर स्त-अस्य) मलिनः, मलीमसः,-(मलमस्याऽस्ति) 'ज्योत्स्नातमिस्राशृङ्गिणोर्जस्विन्नूर्जस्वलगोमिन्मलिनमलीमसाः' से उक्त प्रयोगों की मतुबर्थ में निपातनात् सिद्धि होती है। क्रमशः, १. उपधालोप 'न' प्रत्यय, २. उपधाको इत्व 'र' प्रत्यय, (स्त्रीत्व अविवक्षित है) ३. इनच् प्रत्यय, ४. वलच्, और विनि प्रत्यय, ५. मिनि प्रत्यय, और ६. इनच् और ईमस' प्रत्यय तथा कार्यों का निपातन होता है।

दण्डी, दण्डिकः, (दण्डमस्याऽस्ति) 'अत इनिठनौ' से इनि और प्रत्यय क्रम से होते हैं।

व्रीही व्रीहिकः, (व्रीहयः सन्त्यस्य) 'व्रीह्यादिभ्यश्च' से इनि एवं होते हैं। यहाँ विद्वानों ने शिखामाला संज्ञादिकों से इनि और यवखदादिकों ठन् एवं अन्य व्रीह्यादिकों से उभय प्रत्यय होने की व्यवस्था दी है।

तुन्दिलः, तुन्दी, तुन्दिकः, तुन्दवान् (तुन्दमस्याऽस्ति) 'तुन्दादि इलच्च' से इलच्, चकारात् इनि और ठन्, तथा 'अन्यतरस्याम्' के बल मतुप् का भी संग्रह होता है।

कर्णिलः, कर्णी, कर्णिकः, कर्णवान्, (विवृद्धौ कर्णौ-अस्य) 'स्वाङ्गाद् वृद्धौ' (ग० सू०) के सहयोग से तुन्दादित्वात् इलच् होता है, तथा चकार इनि, ठन् एवं मतुप् होते हैं।

ऐकशतिक, ऐकसहस्रिकः, गौशतिकः, गौसहस्रिकः, (एकशतमस्ति-आदि) 'एकगोपूर्वाट्ठञ् नित्यम्' से 'ठञ्' होता है।

नैष्कशतिकः नैष्कसहस्रिकः (निष्कशतमस्यास्ति आदिः) 'शत सहस्रान्ताच्च निष्कात्' से 'ठञ्' होता है।

रूप्यः कार्षापणः (आहतं रूपमस्यास्ति) रूप्यो, गौः, (प्रशस्तं रूपमस्यास्ति) 'रूपादाहतप्रशंसयोर्यप्' से यप् होता है। आहताद्यतिरिक्त अर्थ मतुप् होकर रूपवान् ही होता है।

हिम्याः पर्वताः, गुण्या ब्राह्मणाः, (हिमानि गुणा वा सन्त्येषाम्) 'अन्येभ्योऽपि दृश्यते' (वा०) से यप् होता है।

यशस्वी, यशस्वान्, मायावी, मायावान्, मायी, मायिकः, स्रग्वी (यशो माया स्रग्वाऽस्याऽस्ति) 'अस्मायामेधास्रजो विनिः' से विनि, एवं 'अन्यतरस्याम्' की अनुवृत्ति के फलस्वरूप मतुप् का भी संग्रह है तथा व्रीह्यादिपाठ के आधार पर माया से इनि और ठन् भी होते हैं। यहाँ प्रथम और द्वितीय प्रयोग में 'तसौ मत्वर्थे' से भसंज्ञा होनेके कारण रुत्वाभाव एवं अन्तिमप्रयोग में किन्नन्त 'चोः कुः' से कुत्व होता है।

आमयावी, (आमयोऽस्याऽस्ति) 'आमयस्योपसंख्यानंदीर्घश्च' (वा०) से 'विनि' प्रत्यय एवं आमय के अन्तिम अच् को दीर्घ होता है।

शृङ्गारकः वृन्दारकः, मतुबर्थ में 'शृङ्गवृन्दारभ्यामारकन्' (वा०) से 'आरकन्' प्रत्यय होता है।

फलिनः, बर्हिणः, (फलमस्यास्ति-आदिः) 'फलबर्हाभ्यामिनच्' (वा०) से 'इनच्' होता है।

हृदयालुः, हृदयी, हृदयिकः हृदयवान्, 'हृदयाच्चालुरन्यतरस्याम्' (वा०)से 'चालु' प्रत्यय (हृदयमस्त्यस्य वि० में) होता है। अनुवृत्त 'अन्यतरस्याम्' से 'मतुप्' और वार्त्तिकस्थ 'अन्यतरस्याम्' से इनि और ठन् भी होते है।

शीतालुः, उष्णालुः, (शीतमुष्णं वा न सहते) तृप्रालुः-
(तृप्रं—पुरोडाशं, दुःखं वा न सहते) 'शीतोष्णतृप्रेभ्यस्तदसहने' (वा.) से 'चालु' प्रत्यय होता है।

हिमेलुः—(हिमं न सहते) 'हिमाच्चेलुः' (वा०) से चेलु प्रत्यय होता है।

बलूलः—(बलं न सहते) बलादूलः' (वा.) से ऊल प्रत्यय होता है।

वातूलः—(वातं न सहते, वातस्य समूहो वा) 'वातात्समूहे च' से ऊल-प्रत्यय होता है।

पर्वतः मरुत्तः—(पर्वं मरुद्वाऽस्याऽस्ति) 'तप्पर्वमरुद्भ्याम्' से 'तप्' होता है।

ऊर्णायुः—(ऊर्णाः सन्तस्य 'ऊर्णाया युस्' से युस् होता है। सित्वात् 'सितिच' से पदसंज्ञा, और पदत्वात् भत्वाभाव के कारण–'यस्येति च' से आलोप नहीं होता है। वस्तुतः यह प्रयोग छन्द में ही होता है, अन्यथा 'अहं शुभमोः०' में ही ऊर्णा का पाठ कर दिया होता।

वाग्मी—(सम्यक् बहु भाषते) 'वाचो ग्मिनिः' से 'ग्मिनि' प्रत्यय होता है।

वाचालः, वाचाटः—(कुत्सितं बहु भाषते) 'कुत्सित इति वक्तव्यम्' (वा०) के सहयोग से 'आलजाटचौ बहुभाषिणि' से क्रमशः 'आलच्' एवं आटच् होते हैं।

स्वामी—(स्व ईश्वरत्वमस्य) 'स्वामिन्नैश्वर्ये' से आमिनच् प्रत्यय होता है।

अर्शसः—(अर्शांस्यस्य विद्यन्ते) 'अर्श आदिभ्यो अच्' से अच् होता। यह आकृतिगण है। अतः खञ्जः, काणः-आदि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं।

कटकवलयिनी, शङ्खनूपुरिणी—(कटकवलयौ, शंखनूपुरौ-वाऽस्ति), **कुष्ठी, किलासी**,-(कुष्ठं किलासो वाऽस्याऽस्ति), **ककुदावर्त्ती, काकतालुकी**-(ककुदावर्त्तः-ग्रीवापृष्ठावर्त्तः, काकतालुकोऽस्याऽस्ति) 'द्वन्द्वोपतापगर्ह्यात्प्राणिस्थादिनिः' से इनि होता है। 'पुष्पफलवान् घटः' में प्राणिस्थत्व न होने से इनि नहीं हुआ। इसी प्रकार 'प्राण्यङ्गान्न' (वा०) से निषिद्ध होने के कारण 'पाणिपादवती' में भी इनि नहीं होता है। उक्त 'इनि' 'समासान्त' सूत्रस्थ भाष्यानुसार अदन्त से ही होता है, अतः 'चित्रकललाटिकावती' में इनि नहीं होता है। 'अत इनिठनौ' से इनि सिद्ध होनेपर भी, प्र० सूत्र निर्माण का फल 'ठन्' आदि की बाधा है।

वातकी-अतिसारकी—मतुबर्थ में 'वातातीसाराभ्यां कुक्च' से इनि एवं कुगागम होता है। यह कार्य रोग में ही होता है—'रोगेचायमिष्यते' (ई०) अतः वातवती गुहा में मतुप् ही हुआ।

पिशाचकी,—'पिशाचाच्च' (वा०) से इनि एवं कुक् होते हैं।

पञ्चमी-उष्ट्रः—(मासः संवत्सरो वा पञ्चमोऽस्याऽस्ति) 'वयसि पूरणात्' से 'इनि' होता है। ठन्बाधनार्थ सूत्र है। 'पञ्चमवान् ग्रामः' में वय द्योत्य न होने से इनि नहीं हुआ।

सुखी, दुःखी—(सुखं, दुःखम्वाऽस्याऽस्ति) 'सुखादिभ्यश्च' से इनि होता है।

माली—(मालाऽस्याऽस्ति) 'मालाक्षेपे' (ग० सू०) से निन्दा अर्थ में इनि होता है।

ब्राह्मणधर्मी, ब्राह्मणशीली, ब्राह्मणवर्णी,—(ब्राह्मणधर्मोऽस्याऽस्ति आदिः) 'धर्मशीलवर्णान्ताच्च' से इनि होता है।

हस्ती,—(हस्तोऽस्याऽस्ति) 'हस्ताज्जातौ' से जाति-बोधित होनेपर इनि होता है। जात्यतिरिक्त अर्थ में, हस्तवान् पुरुषः-में मतुप्।

वर्णी,—(वर्णो ब्रह्मचर्यमस्याऽस्ति) 'वर्णाद् ब्रह्मचारिणि' से 'इनि' ता है।

पुष्करिणी, पद्मिनी,—(पुष्करं पद्म वाऽस्याऽस्ति) 'पुष्करादिभ्यो देशे' देश बोध्य होने पर इनि होता है। देशातिरिक्त स्थल में-पुष्करवान्-करी।

बाहुबली, ऊरुबली,—(बाहुबलमूरुबलं वाऽस्यास्ति) 'बाहूरुपूर्वपदाद्-ात्' (वा०) से इनि होता है।

सर्वधनी, सर्वबीजी,—(सर्वधनं सर्वबीजं वाऽस्याऽस्ति) 'सर्वादेश्च' ा०) से इनि होता है।

अर्थी,—(न सन्निहितोऽर्थोऽस्य) 'अर्थाच्चासन्निहिते' (वा०) से इनि होता सन्निहित (पासमें) अर्थ होनेपर अर्थवान् होता है।

धान्यार्थी, हिरण्यार्थी,—(धान्यस्य, हिरण्यस्य वाऽर्थः प्रयोजनमस्य) न्ताच्च' (वा०) से इनि होता है।

बलवान्, बली, उत्साहवान्-उत्साही, - (बलमुत्साहो वाऽस्याऽस्ति) ादिभ्यो मतुबन्यतरस्याम्' से इनि एवं मतुप् होते हैं।

प्रथिमिनी, दामिनी, होमिनी, सोमिनी,—(प्रथिमाऽस्याऽस्ति आदिः) ायां मन्माभ्याम् से इनि होता है। संज्ञातिरिक्त स्थल में-सोमवान्।

कँव्वः, कम्भः, कँय्युः, कन्तिः, कन्तुः, कन्तः, कँय्यः, शँव्वः, शम्भः, य्युः, शन्तिः, शन्तुः, शन्तः, शँय्यः —(कं सुखं जलं, शं-सुखं वास्याऽस्ति) शंभ्यां बभयुस्तितुतयसः' से क्रमशः उक्त ७ प्रत्यय होते हैं। युस् और यस् सकारकरण पदत्वार्थ है।

तुन्दिभः, वलिभः, वटिभः, - (तुन्दिर्वृद्धानाभिर्यस्य आदिः) 'तुन्दिवलि-भः' से भ प्रत्यय होता है। पामादित्वात् वलिनः भी होता है।

अहंयुः शुभंयुः,—(अहं शुभं वाऽस्याऽस्ति) 'अहंशुभमोर्युस' से युस् ा है। अहङ्कारवान् को अहंयुः और शुभान्वित को शुभंयुः कहते हैं।

इति मत्वर्थीय-प्रकरणम्।

अथ प्राग्दिशीय-प्रकरणम्

कुतः कस्मात्, यतः—(यस्मादिति) ततः-(तस्मादिति), इतः (अ
अतः–(एतस्मादिति), अमुतः–(अमुष्मादिति), बहुतः - (बहुभ्य
सर्वनामबहुभ्योऽद्व्यादिभ्यः' की अनुवृत्ति से सम्पन्न, 'पञ्चम्यास्
'तसिल्' प्रत्यय होता है। 'इ' और 'ल्' का इत्संज्ञालोप होनेपर
रहता है, जिसकी 'प्राग्दिशो विभक्ति' से विभक्ति संज्ञा होती है। (य
संज्ञा 'दिक्शब्देभ्यः' ५।३।२७ से पूर्व सभी वक्ष्यमाण प्रत्ययों की
विभक्ति संज्ञा के फलस्वरूप 'कुतिहोः' से प्रथम प्रयोग में 'किम्' के स्थान
आदेश ('कु' आदेश विधायकमें 'समर्थानां' से केवल वामात्र का सम्
से 'कु' आदेश वैकल्पिक है, अतः २ तीय प्रयोग कस्मात् भी होता है
प्र० में 'इदम इश्' से इशादेश, षष्ठ में 'एतद्' के स्थान में 'एतदोऽन्'
'अन्' से 'अन्'-(सर्वादेश) आदेश आदि कार्य होते हैं। यहाँ 'तद्धि
से अव्ययसंज्ञा होने के कारण, समुदाय से आगत विभक्तियों का लुक्
'स्' का रुत्व, विसर्ग। 'अद्व्यादिभ्यः' अंश से निषिद्ध होने के कारण,
आदि स्थलों में 'तसिल्' नहीं होता है। 'कुतः आगच्छति' आदि स्
'अपादाने०' ५।४।४५ 'प्रतियोगे०' ५।४।४४ आदि से विहित
प्रत्यय के स्थान में 'तसेश्च' से 'तसिल्' (आदेश) होता है। स्व
विभक्त्यर्थ 'तसेश्च' की आवश्यकता है।

परितः—(सर्वत इत्यर्थः), अभितः,-(उभयतः-इत्यर्थ) 'पर्यभि
('सर्वोभयार्थाभ्यामेव' वा० से निर्धारित) से 'तसिल्' होता है।

कुत्र, यत्र, तत्र, बहुत्र,—'सप्तम्यास्त्रल्' से (कस्मिन्नित्यादि
'त्रल्' होता है। शेष कार्य पूर्ववत्।

इह,—(अस्मिन्निति) 'इदमो हः' से प्राप्त 'त्रल्' को बाधकर '
होता है। इशादेश।

क, कुत्र,—(कस्मिन्निति) 'किमोऽत्' से वै० अत् प्रत्यय
'काति' से किम् के स्थान में 'क' आदेश होता है। पक्ष में 'कुत्र'।

कुह स्थः, कुह जग्मथुः,—'वाह च च्छन्दसि' से वैदिक स्थल में 'ह' यय विकल्प से होता है।

अथोऽत्राधीमहे,—(एतस्मिन्निति) अतो न गन्तास्मः—(एतस्मादिति) तदस्त्रतसोस्त्रतसौ चानुदात्तौ, से एतद् के स्थान में 'अश्' होता है। वह त्र और तस् भी इसी सूत्र से अनुदात्त होते हैं।

स भवान् , ततो भवान्, तत्र भवान्, तं भवन्तम्, ततो भवन्तम् ,— तराभ्योऽपि दृश्यन्ते' से प्रथमाद्वितीयाद्यन्तों से भी तसिलादि प्रत्यय विहित ने के कारण, उक्त प्रयोग सिद्ध होते हैं। यहाँ दृशिग्रहण के फलस्वरूप व्याख्यानुसार) भवदादि के योग में ही सुत्र प्रवृत्त होता है।

सदा, सर्वदा,—(सर्वस्मिन् काले) 'सर्वैकान्यकिंयत्तदः काले 'दा' से दा यय होता है। 'सर्वस्य सोऽन्यतरस्यांदि' से सर्व के स्थान में सादेश वि० से ता है। इसी प्रकार—एकदा, अन्यदा, कदा, यदा और तदा भी सिद्ध होते । कालातिरिक्त वाच्य स्थिति में 'सर्वत्र देशे' ही होता है।

एतर्हि —(अस्मिन् काले) 'इदमोर्हिल्' से 'ह' को वाधकर र्हिल् प्रत्यय ता है। एतेतौ रथोः" से एत आदेश (इदम् को) होता है। कालातिरिक्त ल में 'ह' होता है। इह देशे।

अधुना,—(अस्मिन् काले) 'अधुना" सुत्र से अधुना प्रत्यय होता है। दम् के स्थान में 'इदमइश्' से इशादेश होता है। 'यस्येति च" से उसका ोप हो जाने पर प्रत्ययमात्र पद के रूप में श्रुत होता है।

इदानीम् - (अस्मिन् काले) 'दानीं च' से दानीम् प्रत्यय और इशादेश इदम इश् से) होने से प्रयोग सिद्ध होता है। भसंज्ञा न होने से इलोप नहीं ोता है।

तदा, तदानीम् ,—(तस्मिन् काले) 'तदो दा च' से दा एवं दानीम् प्रत्यय ोता है। 'सर्वैकान्य०' से दा प्रत्यय विहित होने के कारण तद् शब्द से दा वधान निरर्थक है। सूत्राकार 'तदश्च' ही होना चाहिये।

कर्हि, कदा, यर्हि-यदा, तर्हि-तदा एतर्हि—(कस्मिन् काले-आदि)

'अनद्यतने र्हिलन्यतरस्याम्' से र्हिल् वै० होता है। पक्ष में दा। अन्तिम में 'एतदः' (विभक्त) से एतादेश।

'सद्यः परुत्परार्यैषमः परेद्यव्यद्यपूर्वेद्युरन्येद्युरन्यतरेद्युरितरेद्युरपरेद्युरधरेद्युरुभयेद्युरुत्तरेद्युः' सूत्रनिर्दिष्ट प्रयोगों का निपातनात् साधन होता। यहाँ क्रमशः (समानेऽहनि) 'समानस्य सभावो द्यस् चाहनि' (वा०) से सभाव और द्यस प्रत्यय, (पूर्वस्मिन् पूर्वतरे वत्सरे) 'पूर्वपूर्वतरयोः परः च प्रत्ययौ संवत्सरे' (वा०) से पूर्व एवं पूर्वतर के स्थान में पर-आदेश, वत्सरार्थक उत्, एवं आरि, (अस्मिन् संवत्सरे) 'इदम इश् समसण् प्रत्ययश्च संवत्सरे' (वा०) से इदम् के स्थान में इशादेश, संवत्सरार्थक 'समसण्' प्रत्यय, (णित्वाद्वृद्धि)। (परस्मिन्नहनि) 'परस्मादेद्यव्यहनि' (वा०) से एद्यवि प्रत्यय, (अस्मिन्नहनि) 'इदमोऽश् द्यश्च' (वा०) से इदम् के स्थान में अशादेश द्यस् प्रत्यय, तथा अग्रिम ८ प्रयोगों में 'पूर्वादिभ्योऽष्टभ्योऽहन्येद्युस्' से अहनि-अर्थ में पूर्वादिशब्द-परक एद्युस् प्रत्यय होता है।

उभयद्युः,—(उभयोरह्नोः) 'द्युश्चोभयाद्वक्तव्यः' (वा०) से द्युस् होता है।

तथा, यथा,—(तेन, येन वा प्रकारेण) 'प्रकारवचने थाल्' से होता है।

इत्थम् (२),—(अनेन, एतेन वा प्रकारेण) 'इदमस्थमुः' से थाल् बाधकर थमु प्रत्यय होता है। द्वितीय प्रयोग में 'एतदोऽपि वाच्यः' (वा०) से होता है। 'एतदः' से द्वितीय में, तथा प्रथम में 'एतेतौ रथोः' से इतादेश को होता है। 'लक्षणेत्थंभूताख्यानं' जैसे सोत्र प्रयोग के बलपर द्वितीयान्त प्रयोग होते हैं।

कथम्,—(केन प्रकारेण) 'किमश्च' से 'थमु' होता है। 'किमः' से कादेश।

इति प्राग्दिशीय-प्रकरणम्।

अथ प्राग्दिवीय-प्रकरणम्

पुरः, पुरस्तात्,—(पूर्वस्यां, पूर्वस्याः पूर्वा वा दिक्) अधः, अधस्तात्,–(अधरस्यां, अधरस्याः,–अधरा वा दिक्) अवः, अवस्तात्,–(अवरस्यां, अवरस्याः, अवरा वा दिक्) 'दिक्शब्देभ्यः सप्तमीपञ्चमीप्रथमाभ्यो दिग्देशकालेष्वस्तातिः' से निर्दिष्ट-अर्थ में 'पूर्वाधरावराणामसि पुरधवश्चैषाम्' से असि-प्रत्यय, तथा प्रकृतिभाग को क्रमशः 'पुर्' 'अध्' एवं अव् आदेश होते हैं। पक्ष में अस्ताति प्रत्यय 'दिक् शब्देभ्यः०' से और 'अस्ताति च' से पुर् आदि आदेश (यथोक्त) होते हैं। समुदाय से आगत विभक्ति का अव्ययत्वात् लुक्।

अवस्तात्, अवरस्तात्,—(अवरस्यां, अवरस्याः, अवरा वा दिक्) 'विभाषाऽवरस्य' से 'दिक् शब्देभ्यः०' द्वारा विहित अस्ताति परे अवर के स्थान में अव् आदेश वि. से होता है। इसी प्रकार देश, एव काल अर्थ में भी प्रत्यय होते हैं। 'दिक् शब्द' से दिशा के लिए रूढ शब्द ही लिए गए हैं, अतः 'ऐन्द्रयां वसति' आदि स्थल में पूर्वकार्य नहीं होते हैं। इसी तरह पूर्वकार्य सप्तम्यन्त, पञ्चम्यन्त, और प्रथमान्त से ही नियत होने के कारण, पूर्वं ग्रामंगतः' में भी नहीं होते हैं। 'पूर्वस्मिन् गिरौ वसति' दिग्देश-कालातिरिक्त (गिरि) अर्थ में पूर्व शब्द की वृत्ति होने के कारण, 'अस्ताति' आदि प्रत्यय नहीं होते हैं। यहाँ 'अस्ताति च' सूत्र की सार्थकता के लिए यह मानना आवश्यक हो जाता है कि, पर होनेपर भी 'असि' प्रत्यय–'अस्ताति' को नहीं बाधता है।

दक्षिणतः—(दक्षिणस्यामादि दिक्) 'दक्षिणोत्तराभ्यामतसुच्' से अस्ताति को बाधकर 'अतसुच्' होता है। इसी प्रकार उत्तरतः।

परतः, परस्तात्, अवरतः, अवरस्तात्,—(परस्यामादि दिक्) 'विभाषा परावराभ्याम्' से वै- अतसुच् होता है। पक्ष में अस्ताति।

प्राक्, उदक्,—(प्राच्यां 'प्राच्याः' प्राची वा दिक्–आदि) 'अञ्चेर्लुक्' से अस्ताति का लुक् होता है। 'लुक्तद्धितलुकि' से स्त्र्यर्थ बोधक प्रत्यय का भी लुक् हो जाता है। इसी प्रकार देश-कालवृत्तिता में।

उपरि, उपरिष्टात्,—(ऊर्ध्वं वसति आदि) 'उपर्युपरिष्टात्' से अस्ताति

के विषय में ऊर्ध्व शब्द से रिल्, एवं रिष्टातिल् प्रत्यय तथा प्रकृति को उपा होता है।

पश्चात्—अस्ताति के विषय में 'पश्चात्' सूत्र से अपर के स्थान में प देश, एवं आति प्रत्यय होता है।

उत्तरात्, अधरात्, दक्षिणात्,—(उत्तरस्यामादि–दिक्) 'उत्तरा दक्षिणादातिः' से आति होता है।

उत्तरेण, अधरेण, दक्षिणेन,—(उत्तरस्या मुत्तरा वा दिक्) 'एनब तरस्यामदूरेऽपञ्चम्याः' से 'एनप्' प्रत्यय वि० से होता है। किन्हीं विद्वानों मत में यह 'एनप्' समस्त दिग्वाचक शब्दों से होता है। इनके मत से पू ग्रामम्, अपरेण ग्रामम् भी साधु स्वीकार किए जाते हैं।

दक्षिणा वसति,—अस्ताति के विषय में 'दक्षिणादाच्' से आच् होता पञ्चम्यन्त से नहीं (अपञ्चम्याः) दक्षिणादागतः।

दक्षिणाहि, दक्षिणा,—दूरार्थ द्योत्य रहनेपर (पूर्व विषय में,—'आहि च दूरे' से आहि एवं आच् प्रत्यय होता है।

उत्तराहि, उत्तरा,—पूर्ववत् 'उत्तराच्च' से आहि एवं आच् होते हैं।

चतुर्धा, पञ्चधा,—क्रियाप्रकारार्थ में वर्तमान संख्यावाचक चतुरादि से स्वार्थ में 'संख्याया विधार्थे धा' से धा होता है।

एकं राशिं पञ्चधा कुरु,—एक संख्यासम्पन्न वस्तु को अनेक सं सम्पन्न वस्तु बोधन की स्थिति में 'अधीकरणविचालेच' से धा होता है। वि का अर्थ है–संख्यान्तरापादन।

ऐकध्यम् एकधा,—पूर्वार्थ में विहित धाके स्थान में 'एकाद्धोध्यमुञन्य स्याम्' से ध्यमुञ् आदेश होता है। ञित्वादादिवृद्धि।

द्वैधम् द्विधा, त्रैधम् त्रिधा,—'द्वित्र्योश्च धमुञ्' से 'धा' के स्थान धमुञ् होता है।

पथि द्वैधानि,—'धमुञन्तात्स्वार्थे डदर्शनम्' (वा०) से ड होता है।

द्वेधा, त्रेधा,—'एधाच्च' से 'धा' के स्थान में एधाच् आदेश होता है।

भिषक्पाशः—(कुत्सितो भिषक्) 'याप्ये पाशप्' से 'पाशप्' होता

द्वितीयः, तृतीयः,—(द्वितीयस्तृतीयो वा भागः) 'पूरणाद्भागे तीयादन्' से 'अन्' प्रत्यय होता है। स्वर में विशेषता के लिए यह सूत्र है।

द्वैतीयीकः द्वितीयः, तार्तीयीकः तृतीयः,—'तीयादीकक् स्वार्थे वा वाच्यः' (वा०) से 'ईकक्' प्रत्यय स्वार्थ में होता है। कित्वादादिवृद्धि।

द्वितीया, तृतीया वा विद्या,—पूर्व-विधि का विद्यापरता में 'न विद्यायाः' (वा०) से निषेध होता है।

चतुर्थः, पञ्चमः,—(चतुर्थो भागः पञ्चमो वा) 'प्रागेकादशभ्योऽच्छन्दसि' से 'अन्' प्रत्यय वेद में होता है।

षाष्ठः, षष्ठः, आष्टमः, अष्टमः,—(षष्ठोऽष्टमो वा भागः) 'षष्ठाष्टमाभ्यां ञ च' से 'ञ' प्रत्यय एवं चकारात् 'अन्' होते हैं।

षष्ठको भागः, अष्टमो भागः—(षष्ठोऽष्टमो वा भागः) 'मानपश्वङ्गयोः कन्लुकौ च' से क्रमशः मान एवं पश्वङ्ग बोध्य होनेपर कन् एवं 'ञ' अथवा 'कन्' का लुक् होता है। चकारबलात् यथापूर्व षष्ठः, षाष्ठः, अष्टमः, आष्टमः, भी होते हैं। महाविभाषा के कारण ही उक्त प्रयोग सिद्ध हो जाते, लुग्विधान का फल—'ञ' और अन् का पूर्व प्रयोगों में नित्यत्व बोधन है।

एकः, एकाकी, एककः—असहाय अर्थ में 'एकादाकिनिच्चासहाये' से आकिनिच् प्रत्यय तथा कन् एवं उसका लुक् होता है।

आढ्यचरः,—(आढ्यो भूतपूर्वः) 'भूतपूर्वे चरट्' से 'चरट्' होता है।

कृष्णरुप्यः, कृष्णचरः,—(कृष्णस्य भूतपूर्वः) 'षष्ठ्या रुप्य च' से रुप्य, एवं चरट् होते हैं।

शुभ्रारुप्यः,—(शुभ्रायाः भूतपूर्वः) पूर्व सूत्र से रुप्य होता है। 'तसिलादिष्वाकृत्वसुचः' से पुँवद्भाव इसलिए नहीं होता है कि भाष्यानुसार परिगणित तसिलादि में रुप्य का संग्रह नहीं है।

आढ्यतमः, लघुतमः—(अयमेषामतिशयेनाढ्यो लघुर्वा) 'अतिशायने तमबिष्ठनौ' से तमप् होता है। इष्ठन् प्रत्यय का 'लघिष्ठः' (अतिशयेन लघुः) आदि उदाहरण हैं।

किंतमाम्, प्राह्णेतमाम्, पचतितमाम्, उच्चैस्तमाम्,—अतिशय

अर्थं में ३ तीय को छोड़कर अन्य प्रयोगों में 'अतिशायने०' से त
होनेपर 'तरप्तमपौ घः' से उसकी घ संज्ञा और 'किमेत्तिङव्ययघादा
द्रव्यप्रकर्षे' से घान्त से आमु प्रत्यय होता है। तृतीय प्रयोग में 'तिङ
(अजादौ गुणवचनादेव-के अनुसार) तमप् मात्र–होता है। पूर्ववत् अ

लघुतरः-लघीयान्,—(अयमनयोरतिशयेन लघुः), पटुतराः-पटीयां
(उदीच्याः प्राच्येभ्यः पटवः) 'द्विवचनविभज्योपपदे तरबीयसुनौ' से तरप्
ईयसुन् प्रत्यय होते हैं।

पाचकतरः-पाचकतमः,—(अतिशयेन पाचकः) 'अजादौ गुणवचनादे
(गुणवाचक शब्द से ही इष्ठन् और ईयसुन् प्रत्यय होते हैं।) से नियम
होने के कारण उक्त प्रयोगों में केवल तरप् और तमप् ही होते हैं। इष्ठन्
ईयसुन् नहीं। यतः पाचक शब्द गुणवाचक नहीं है।

करिष्ठः—(अतिशयेन कर्त्ता), दोहीयसी—(अतिशयेन दोग्ध्री
'तुश्छन्दसि' से क्रमशः इष्ठन् और ईयसुन् होते हैं। 'तुरिष्ठेमेयःसु' से प्र
घटक 'तृ' का लोप होता है।

श्रेष्ठः-श्रेयान्—(अतिशयेन प्रशस्यः) 'इष्ठन्' और 'ईयसुन्'
'प्रशस्यस्य श्रः' से प्रकृति के स्थान में श्रादेश होता है। प्रकृत्यैकाच् से प्रकृति
होनेके कारण 'यस्येति च' से अलोप नहीं होता है।

ज्येष्ठः,-(अतिशयेन प्रशस्यः) 'ज्यच' से प्रशस्य के स्थान में ज्या
होता है।

ज्यायान्,—(अतिशयेन प्रशस्यः) प्रकृति के स्थान में पूर्ववत्
ज्यादेश होने पर ईयसुन् के ईकार को 'ज्यादादीयसः' से आकारादेश होता है

ज्येष्ठः-ज्यायान्,-(अतिशयेन वृद्धः) 'वृद्धस्य च' से प्रकृति
स्थान में ज्यादेश होता है। शेष कार्य पूर्ववत्।

नेदिष्ठः नेदियान्, साधिष्ठः साधीयान्—(अतिशयेन-अन्तिकः-बाढं
वा) इष्ठन्, और ईयसुन् परे क्रमशः नेद एवं साध आदेश होते हैं।

स्थविष्ठः, दविष्ठः, यविष्ठः, ह्रसिष्ठः, क्षेपिष्ठः, क्षोदिष्ठः
(अतिशयेन स्थूलो, दूरो, युवा, ह्रस्वः, क्षिप्रः, क्षुद्रो वा) 'स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षि

क्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः' से इष्ठन् परे प्रकृतिघटक लकारादि यण् वर्ण का लोप, एवं तत्पूर्व वर्ण को गुण होता है। इसी प्रकार ईयसुन् परे भी स्थवीयान् आदि प्रयोग होते हैं। ह्रस्व, क्षिप्र, क्षुद्र शब्दों का पृथ्वादिगण में पाठ होने से इमनिच् होने के कारण-ह्रसिमा, क्षेपिमा और क्षोदिमा भी रूप होते हैं।

प्रेष्ठः, स्थेष्ठः, स्फेष्ठः, वरिष्ठः, बंहिष्ठः, गरिष्ठः, वर्षिष्ठः, त्रपिष्ठः, द्राघिष्ठः, वृन्दिष्ठः—(अतिशयेन प्रियः, स्थिरः, स्फिरः-उरुः, बहुलः, गुरुः, वृद्धः, तृप्रः, दीर्घः, वृन्दारको वा) 'प्रियस्थिरस्फिरोरुबहुलगुरुवृद्धतृप्रदीर्घवृन्दारकाणां प्रस्थस्फवर्बंहिगर्वर्षित्रब्द्राघिवृन्दाः' से इष्ठनादिपरे प्रकृति के स्थान में क्रमशः प्र, स्थ, स्फ, वर्, बंहि, गर्, वर्षि, त्रप्, द्राघि, और वृन्द आदेश होते हैं। इसी प्रकार ईयसुन् परे 'प्रेयान्' आदि भी प्रयोग उक्तार्थ में होते हैं। पृथ्वादिपाठफलस्वरूप प्रेमा, वरिमा, बंहिमा, गरिमा, और द्राघिमा भी होते हैं।

भूमा, भूयान्,—(अयमनयोरतिशयेन बहुः) 'बहोर्लोपो भू च बहोः' से पृथ्वादित्वात् आगत इमनिच् और 'द्विवचनविभज्योपपदे०' से आगत ईयसुन् के आद्यक्षर का लोप, तथा प्रकृति के स्थान में 'भू' आदेश होता है।

भूयिष्ठः,—(अतिशयेन बहुः) 'इष्ठस्य यिट् च' से इष्ठन् के इकार का लोप तथा 'यिट्' का आगम, एवं प्रकृति के स्थान में 'भू' आदेश होता है।

कनिष्ठः-कनीयान्,—(अतिशयेन युवाऽल्पो वा) 'युवाल्पयोः कनन्यतरस्याम्' से इष्ठन् एवं ईयसुन् परे प्रकृति के स्थान में कनादेश होता है। पक्ष में यविष्ठः, और अल्पिष्ठ भी होते हैं।

स्रजिष्ठः-स्रजीयान्, त्वचिष्ठः-त्वचीयान्—(अतिशयेन स्रग्वी, त्वग्वान्वा) 'विन्मतोर्लुक्' से इष्ठन्, और ईयसुन् परे-क्रमशः प्रकृतिघटक विन्, एवं मतुप् प्रत्यय का लुक् होता है। भसंज्ञा होने से पदसंज्ञा-निमित्तक कार्य नहीं होते हैं।

पटुरूपः, पचतिरूपम्—(प्रशस्तः पटुः, प्रशस्तं पचति) 'प्रशंसायां-रूपप्' से रूपप् प्रत्यय होता है। यह रूपप् सुबन्त एवं तिङन्त दोनों से होता है।

प्रशंसा से यहाँ पूर्णतामात्र ग्राह्य है, अतः-चौररूपः-(पूर्ण चौरः) आदि प्र
भी साधु माने जाते हैं।

विद्वत्कल्पः, यशस्कल्पम्, यजुष्कल्पम्, विद्वद्देश्यः, विद्वद्देशीय,
पचतिकल्पम्,—(ईषदूनो विद्वान्नादिः) 'ईषदसमाप्तौ कल्पब्देश्यदेशीयरः'
उक्तार्थ में कल्पप्, देश्य एवं देशीयर् प्रत्यय होते हैं।

बहुपटुः,—(ईषदूनः पटुः) 'विभाषा सुपो बहुच् पुरस्तात्तु' से 'बहु
प्रत्यय होता है, और उसका पूर्वप्रयोग होता है। पक्ष में पटुकल्पः-आदि
'व्रजतिकल्पम्' में सुबन्तत्वाभाव के कारण 'बहुच्' नहीं होता है।

पटुजातीयः,—(पटु प्रकारः) 'प्रकारवचने जातीयर्' से 'जातीयर्' प्र
होता है।

अश्वकः,—(कस्यायमश्वः) उच्चकैः, नीचकैः, सर्वके, विश्वके,-
'प्रागिवात्कः' के अधिकार में स्थित 'अज्ञाते' से प्रथम प्रयोग में क होता है
अन्यप्रयोगों में 'अव्यय सर्वनाम्नामकच् प्राक्टेः' से अकच् (टि से पूर्व
होता है।

युवकयोः-(युवयोः), आवकयोः-(आवयोः), युष्मकासु-(युष्मासु
अस्मकासु (अस्मासु), युष्मकाभिः-(युष्माभिः), अस्मकाभिः-(अस्माभि
'ओकारसकारभकारादौ सुपिसर्वनाम्नष्टेः प्रागकच्' (वा०) से सर्वनामसंज्ञ
प्रातिपदिक की टि से पूर्व अकच् का विधान, निर्दिष्ट विभक्ति परे रहते होता है
'अव्ययसर्व०' में सुप् की भी अनुवृत्ति होने से सर्वनाम की तरह सुबन्त का
टिग्रहीत होता है, अतः उक्तवार्त्तिक द्वारा व्यवस्था (सर्वनामसंज्ञक को उस
टि के पूर्व ही) स्थिर की जाती है। भाष्य के अनुसार तो युष्मद्, और अस्म
शब्द के लिए ही ओकरादिसंकोच है, अन्य सर्वनामों को सब विभक्तियों
परे उन्हीं की टि के पूर्वअकच् होता है। एतदनुसार--सर्वकेण, इमकेन आ
प्रयोग साधु स्वीकार किए जाते हैं। वार्त्तिक—मतानुसार ओकारादिका
निर्धारण न होता तो, त्वयका, मयका का स्वरूप विपरीत हो जाता।

तूष्णीकामास्ते,—(तूष्णीमास्ते) 'अकच्प्रकरणे तूष्णीमः काम्वक्तव्यः'(वा
से अकच् को बाधकर काम् होता है। मित् होने से अन्त्य अच् से परे होता है

तुष्णीकः—(तुष्णीं शीलः) 'शीले को मलोपश्च' (वा०) से क प्रत्यय, एवं प्रकृतिघटक म् का लोप होता है।

पचतकि, जल्पतकि,—(पचति, जल्पति) 'अव्ययसर्वनाम्नां०' से (तिङश्च की अनुवृत्ति के फलस्वरूप) अकच् (टि से पूर्व) होता है।

धकित्, हिरकुत्,—(धिक्, हिरुक्) कान्त अव्यय होने के कारण 'कस्य च दः' से क् को दादेश, एवं अकच् होता है। 'वाऽवसाने' से चर्त्व।

अश्वकः—(कुत्सितोऽश्वः) 'कुत्सिते' से क होता है।

शूद्रकः, राधकः,—समुदाय से संज्ञा बोधित होने पर निन्दा अर्थ में 'संज्ञायां कन्' से कन् होता है। क से कार्य निर्वाह हो जाता, स्वरार्थ सूत्र है।

पुत्रकः,—(अनुकम्पितः पुत्रः) 'अनुकम्पायाम्' से क प्रत्यय होता है।

हन्त ते धानकाः, गुडकाः,—(दास्यन्ते) 'नीतौ च तद्युक्तात्' से क होता है। प्रथम प्रयोग में 'केऽणः' से ह्रस्व (धाना को) होता है। यद्यपि अनुकम्पा (दया) का साक्षात् सम्बन्ध पुत्रादि से ही है, तथापि परम्परा सम्बन्ध से धानादि का भी अनुकम्पा से सम्बन्धित होना स्वीकार किया जाता है। इसी आधार पर प्रत्यय होता है।

एहकि, अद्धकि,—(एहि-आदि) 'नीतौ च तद्युक्तात्' से (अव्यय सर्वनाम और तिङ् की अनुवृत्ति के कारण) अकच् उक्त तिङन्तस्थल में होता है।

देविकः,-देवियः, देविलः,-देवदत्तकः—(अनुकम्पितो देवदत्तः) 'बह्वचो मनुष्यनाम्नष्ठज्वा' से वै० ठच् एवं पक्ष में 'घनिलचौ च' से घन्, एवं इलच्, तथा अन्तिम प्रयोग में औत्सर्गिक कन् होता है। प्रथम तीन प्रयोगों में 'ठाजादावूर्ध्वं द्वितीयादचः' से प्रकृतिघटक दत्त भाग का लोप होता है।

वायुकः—(अनुकम्पितो वायुदत्तः) पूर्वविधि से ठच् होनेपर पूर्ववत् दत्त का लोप होता है, तथा 'इसुसुक्' से क होता है। लोप होने पर उगन्त (उ, ऋ, लृ) शब्द से क विधानार्थ सूत्र में ठ ग्रहण है। इसी प्रकार पितृकः—(अनुकम्पितः पितृदत्तः)।

बृहस्पतिकः—(अनुकम्पितो बृहस्पतिदत्तः) 'ठच्' होने पर 'चतुर्थाद्-अच ऊर्ध्वस्य लोपो वाच्यः' (वा०) से दत्तभाग का लोप होता है।

देवदत्तकः-देवकः—अनुकम्पार्थक क परे 'अनजादौ च विभाषालोपो वाच्यः' (वा०) से दत्तभाग का लोप होता है।

दत्तिकः, दत्तियः, दत्तिलः, दत्तकः—(अनुकम्पितो देवदत्तः) ठच्, घन्, इलच्, और क परे 'लोपः पूर्वपदस्य च' (वा०) से देवभाग का लोप होता है। शेष कार्य पूर्ववत्।

देवदत्तः, दत्तः, देवः, सत्यभामा, भामा, सत्या—'विनाऽपि प्रत्ययं पूर्वोत्तरपदयोर्वा लोपो वाच्यः' (वा०) से प्रत्ययपरत्व के अभाव में भी पूर्व एवं उत्तरपद का लोप वै० होता है।

भानुलः—(अनुकम्पितो भानुदत्तः) इलच् होनेपर 'उवर्णाल्ल इलस्य च' (वा०) से इकार का लोप होता है।

सवित्रियः, सवित्रिलः—(अनुकम्पितः सवितृदत्तः) घ, एवं इलच् होने पर 'ऋवर्णादपि' (वा०) से इलच् के इकार का लोप होता है। पूर्वकार्यों का संग्रह श्लोक इस प्रकार है :—

"चतुर्थादनजादौ च लोपः पूर्वपदस्य च।
अप्रत्यये तथैवेष्ट उवर्णाल्ल इलस्य च॥"

उपडः, उपकः, उपिकः, उपियः, उपिलः, उपेन्द्रदत्तकः—(अनुकम्पितः उपेन्द्रदत्तः) 'प्राचामुपादेरडज्वुचौ च' से अडच्, एवं वुच् प्रत्यय वि० से होते हैं। पक्ष में यथापूर्व ४ प्रत्यय (ठच्, घ, ईलच्, कन्) भी होते हैं। वु को अक।

सिंहकः, शरभकः, रासभकः,—(अनुकम्पितः सिंह आदिः) 'जातिनाम्नः कन्' से कन् होता है। जो शब्द जातिवाचकरूप से प्रसिद्ध हों और सम्प्रति मनुष्य की संज्ञा के रूप में प्रयुक्त हों वे ही गृहीत होते हैं।

कहिकः,—(अनुकम्पितः कहोडः) ठच् आनेपर 'द्वितीयं संध्यक्षरं चेत्तदादेर्लोपो वक्तव्यः' (वा०) से ओड भाग का लोप होता है।

वाचिकः,—(वागाशीर्दतः) ठच् होनेपर 'एकाक्षरपूर्वपदानामुत्तरपदलोपो 'वक्तव्यः' (वा०) से आशीर्दत्त का लोप होता है। अजादि-प्रत्यय-निमित्तक 'यस्येति च' से भसंज्ञा होने के कारण, उक्त प्रयोग में कुत्व नहीं होता है।

षडिकः,—(षडङ्गुलिदत्तः) ठच् परे 'ठाजादावूर्ध्वं०' से ङ्गुलिदत्त भाग का लोप होता है। अकार का 'यस्येति च' से। लुप्त अकार का स्थानिवद्भाव होने से तदन्तभाग की भसंज्ञा होती है। अन्तर्वर्त्तिनी विभक्तिनिमित्तक षाष् भाग की पदसंज्ञा होने से जश्त्व होता है। 'एकाक्षर०' (वा०) से उत्तरपद का लोप करने पर जश्त्व दुर्लभ हो जाता। अतः मूल में लिखा है 'षष्ठाजादिवचनात्सिद्धम्' (वा०)।

शेवलिकः, शेवलियः, शेवलिलः, सुपरिकः, विशालिकः, वरुणिकः, अर्यमिकः — (शेवलदत्त आदिः) ठजादि आनेपर 'शेवलसुपरिविशालवरुणार्यमादीनां तृतीयात्' से उक्त प्रयोगों में तृतीय अच से ऊर्ध्व भाग दत्तादि का लोप होता है।

व्याघ्रकः, सिंहकः,—(अनुकम्पितो व्याघ्राजिनः सिंहाजिनो वा) 'अजिनान्तस्योत्तरपदलोपश्च' से कन् प्रत्यय एवं अजिनभाग का लोप होता है।

तैलकम्—(अल्पं तैलम्), वृक्षकः—(ह्रस्वो वृक्षः) क्रमशः 'अल्पे' और 'ह्रस्वे' से कन् होता है।

वंशकः, वेणुकः,—'संज्ञायां कन्' से कन् होता है। यहाँ ह्रस्वहेतुक-संज्ञा गम्यमान है।

कुटीरः, शमीरः, शुण्डारः,—(ह्रस्वा कुटी-आदिः) 'कुटीशमीशुण्डाभ्यो रः से र प्रत्यय होता है।

कुतुपः,—(ह्रस्वा कुतूः) 'कुत्वा डुपच्' से डुपच् प्रत्यय होता है। डित्वाट्टिलोप। छोटी चमड़े की कुप्पी को कुतुप कहते हैं।

कासूतरी, गोणीतरी—, ह्रस्वा कासूः - (आयुधविशेषः,— गोणीर्वा) 'कासूगोणीभ्यां ष्टरच्' से 'ष्टरच्' प्रत्यय होता है। षित्वात् ङीष्।

वत्सतरः, उक्षतरः, अश्वतरः, ऋषभतरः—(तनुर्वत्सः) 'वत्सोक्षाश्वर्षभेभ्यश्च तनुत्वे' से ष्टरच् प्रत्यय होता है।

कतरः, यतरः, ततरः,—(अनयोः को, यो स वा वैष्णवः) 'किं यत्तदोः निर्धारणे द्वयोरेकतरस्य 'डतरच्' से डतरच् प्रत्यय होता है। अनुबन्धलोपानन्तर तर शेष रहता है। डित्वाट्टिलोप। पक्ष में कः, यः, सः।

कतमः, यतमः, ततमः,—(एषां को, यो स वा कठः) 'वा बहूनां जा परिप्रश्ने डतमच्' से डतमच् होता है। वा ग्रहणात् पक्षमें अकच्,-यकः, सः अधिकार-प्राप्त 'विभाषा' फलस्वरूप यः, सः भी साधु स्वीकार किए जाते हैं।

कतरः,—'किमोऽस्मिन् विषये डतरजपि' (वा०) से पूर्व विषय में कि शब्द से डतरच् होता है।

एकतरः, एकतमः,—दो, वा अधिक में से एक के निर्धारण की स्थिति 'एकाच्च प्राचाम्' से डतरच्, एवं डतमच्, प्रत्यय होते हैं।

व्याकरणकः,—(व्याकरणेन गर्वितः) 'अवक्षेपणे कन्' से कन् होता है जिससे अपर की निन्दा हो वे इसके उदाहरण हैं, और जो स्वयं निन्दित हों 'कुत्सिते' के उदाहरण माने जाते हैं। प्रयोगाकार में अन्तर न होने पर स्वर में ('ञ्नित्यादेः' से आद्युदात्त) भेद होता है।

इति प्रागिवीय-प्रकरणम्

अथ स्वार्थिक-प्रकरणम्

अश्वकः,—(अश्व इव प्रतिकृतिः) 'इवे प्रतिकृतौ' से कन् प्र० होता है प्रतिकृति से भिन्न साक्षात् स्थल में गौरिव गवयः ही होता है। प्रतिकृति का अर्थ होता है, काष्ठादि से निर्मित प्रतिमा।

अश्वकः, उष्ट्रकः,—(अश्वसदृशस्य, उष्ट्रसदृशस्य वा संज्ञा) 'संज्ञायां च' से कन् होता है।

चञ्चा, वर्ध्रिका,—(चञ्चा-तृणमयः पुमान् इव पुरुषः आदिः) पूर्वविहि से आगत कन् का 'लुम्मनुष्ये' से लुप् होता है। 'लुपि युक्तवत्०' से द्वितीय प्रयोग में स्त्रीत्व का विधान होता है।

वासुदेवः, शिवः, स्कन्दः—(वासुदेवादि तुल्या जीविकार्थी-अविक्रे प्रतिकृतिः) उक्तार्थ में 'संज्ञायां च' से आगत कन् का 'जीविकार्थे चापण्ये' से लुक् होता है। 'अपण्ये' (जो वेची न जाय) ग्रहण के फलस्वरूप 'हस्तिका

विक्रीणीते' में लुप् नहीं होता है। इसप्रकार लुप् का विषय नियत हो जाने से :—

'रामं सीतां लक्ष्मणं जीविकार्थे विक्रीणीते यो नरस्तं च धिक्-धिक्।
अस्मिन् पद्ये योऽपशब्दं न वेत्ति व्यर्थप्रज्ञं पण्डितं तं च धिक्-धिक् ॥'

श्लोक विद्वानों की कसौटी के लिए अतीव प्रसिद्ध है। यहाँ पण्य-(विक्रय्य) -स्थिति होने से लुप् का विधान अनभिज्ञता का द्योतक है।

देवपथः, हंसपथः,—उक्तार्थ में आगत कन् का 'देवपथादिभ्यश्च' से लुप् होता है। यह आकृतिगण है।

वास्तेयम्, वास्तेयी—(वस्तिरिव) 'वस्तेर्ढञ्' से ढञ् होता है। 'टिड्ढाणञ्०' से द्वितीय प्रयोग में ङीप् होता है।

शिलेयम्-शैलेयम्,—(शिलेव) 'शिलाया ढः' से ढ होता है। किन्हीं विद्वानों के मतानुसार 'शिलायाः' विभक्त-योग है। जिसके फलस्वरूप ढञ् भी होता है।

शाख्यः, मुख्यः, जघन्यः, अग्र्यः, शरण्यः—(शाखेव-आदिः) 'शाखादिभ्यो यः' से य होता है। 'यस्येति च'।

द्रव्यम्—(द्रुरिव) 'द्रव्यं च भव्ये' से यत् प्रत्यय समुदाय से भव्यार्थ-प्रतीत्यवस्था में होता है। ओर्गुणः। 'वान्तो यि प्रत्यये'।

कुशाग्रीया-बुद्धिः—(कुशाग्रमिव) 'कुशाग्राच्छः' से छ होता है।

काकतालीयो-देवदत्तस्य वधः,—वृत्तिविषय (समासादिस्थल में) स्वक्रिया (काकागमन, तालपतन) परक काक और ताल का इवार्थक छ प्रत्यय (उल्लिख्यमान सूत्र से) के विषय में समास (प्रत्यय-विधायक शास्त्र के ज्ञापन से) होता है। समस्त काकताल से 'समासाच्च तद्विषयात्' से छ प्रत्यय (इवार्थ बोधक) होता है। 'छ्' को ईय्। सरल भाषा में इसका भाव होता है कि—स्वभावतः कौवा उड़कर जा रहा था, ज्यों ही ताल वृक्ष के नीचे से गुजरा उसी समय बड़ा सा ताल फल उसके ऊपर गिरा, जिससे उसका प्राणान्त हो गया। ठीक उसी तरह रात्रि में देवदत्त बाहर से घर की ओर आ रहा था, उसी समय मार्ग में चोरों ने उसे देखा, और रहस्य भेदन के भय से उसे मार दिया, तो

देवदत्त का चोरों द्वारा वध, काकतालीय-वध (आकस्मिक वध) कहलाता है। इसी प्रकार जो भी कार्य असम्भावित रूप से हो उसे काकतालीय कहा जाता है। यह एक न्याय (उक्ति) का रूप धारण करता है। इसी प्रकार 'अजाकृपाणीयः' प्रयोग की भी साधुता होती है।

शार्करम्,—(शर्करेव) 'शर्करादिभ्योऽण्' से अण् होता है।

आंगुलिकः, भारुजिकः—(अंगुलीव, भरुजेव) 'अङ्गुल्यादिभ्यष्ठक्' से ठक् होता है।

एकशालिकः ऐकशालिकः—(एकशालेव) 'एकशालायाष्ठजन्यतरस्याम्' से वै० ठच् होता है। पक्ष में पूर्वसूत्र से ठक् होता है।

कार्कीकः, लौहितीकः—(कर्कः–शुक्लोऽश्वः-इव-आदिः) 'कर्कलोहितादीकक्' से ईकक् प्रत्यय होता है।

लौहितध्वज्यः—(लोहितो ध्वजो यस्य संघस्य स एव) 'पूगाञ्ञ्योऽग्रामणीपूर्वात्' से 'ञ्य' प्रत्यय होता है। विभिन्न जाति एवं अनिश्चित व्यापार करने वाले अर्थकामप्रधान व्यक्तियों के संघ को 'पूग' कहते हैं।

कापोतपाक्यः, कौञ्जायन्यः, [illegible]ध्नायन्यः—'व्रातच्फञोरस्त्रियाम्' से ञ्य स्वार्थ में होता है। 'व्रात' उन व्यक्तियों के संघ की संज्ञा है, जो शारीरिक काम से जीविका निर्वाह करते हों। अत एव पूग से भिन्न। 'गोत्रे' से च्फञ्।

क्षौद्रक्यः, मालव्यः—(क्षुद्रकः,-मालवः-एव) 'आयुधजीविसंघाञ्ञ्यड्वाहीकेष्वब्राह्मणराजन्यात्' से 'ञ्यट्' प्रत्यय होता है। स्त्रीत्व की विवक्षा में टित्त्वात् ङीप् क्षौद्रकी, आदि।

यह ञ्यट् प्रत्यय, उन संघवाचक शब्दों से होता है, जो वाहीकदेशवासी ब्राह्मण और क्षत्रियों से भिन्न जातिवाले अस्त्रजीवियों का बोध कराते हैं। आयुधजीवी न होने से 'मल्लाः' में, संघबोधकताभाव के कारण 'सम्राट्' में, वाहीक भिन्न देशवासियों का होने से, 'शवराः' में एवं ब्राह्मण तथा क्षत्रियों का संघ होने से 'गोपालकाः,' 'शालङ्कायनाः' में ञ्यट् नहीं होता है। ब्राह्मण विशेषों का और राजन्य से स्वरूप का ग्रहण स्वीकृत किया गया है।

वार्केण्यः—(वृक एव) 'वृकाट्टेण्यण्' से 'टेण्यण्' प्रत्यय होता है। आयुधजीवित्वाभाव के कारण जातिवाचक से नहीं होता है।

दामनीयः, औलपीयः, कौण्डोपरथीयः, दाण्डकीयः,—(दामनिरेव-आदिः) 'दामन्यादित्रिगर्त्तषष्ठाच्छः' (दामन्यादिगणान्तर्गत, और त्रिगर्त्तषष्ठ—(जिन आयुधजीवि संघो का षष्ठवर्ग त्रिगर्त्त हो) से छ होता है से छ होता है। छ को ईय्। यस्येति च। त्रिगर्त्तषष्ठ निम्नांकित ६ हैं :—

"आहुस्त्रिगर्त्तषष्ठांस्तु कौण्डोपरथदाण्डकी।
क्रोष्टुकिर्जालमानिश्च ब्रह्मगुप्तोऽथ जालकिः" ॥

इनमें 'कौण्डोपरथ' और, ब्रह्मगुप्त, शब्द अणन्त (शिवादि से) हैं, तथा शेष इञन्त हैं। बहुवचन में 'तद्राजस्यबहुषु०' से लुक् होने के कारण दामनयः, कौण्डोपरथाः आदि होते हैं।

पार्शवः, यौधेयः—(पर्शुरेव आदिः) आयुधजीविसंघवाचक उक्त (पर्शु आदि) शब्दों से 'पर्श्वादियौधेयादिभ्योऽणञौ' से क्रमशः 'अण्' और 'अञ' होते हैं। बहुवचन में लुक्-पर्शवः। जनपदवाचि 'पर्शु' शब्द से 'द्व्यञ् मगध' से 'अण्' बहुत्व में लुक्, पुनः प्र. सू. से अण्, ब. व. में लुक्।

आभिजित्यः, वैदभृत्यः, शालावत्यः, शैखावत्यः, शामीवत्यः, और्णावत्यः, श्रौमत्यः,—(अभिजित एव—आदि) 'अभिजिद्विदभृच्छालावच्छिखावच्छमीवदूर्णावच्छ्रुमदणो यञ्' से अणन्त अभिजितादि शब्दों से यञ् होता है।

लोहितध्वजाः, कपोतपाकाः, कौञ्जयनाः, ब्राध्नायनाः—पूर्वरीति से साधित उक्त प्रयोगों के बहुवचन में (पुंलिङ्ग) ये प्रयोग हैं। यहाँ 'ञ्यादयस्तद्राजाः' से 'पुगाञ्ज्य' से अब तक विहित सभी प्रत्ययों की तद्राजसंज्ञा होने पर, 'तद्राजस्य बहुषु तेनैवास्त्रियाम्' से उक्त प्रत्ययों का लुक् होता है।

द्विपदिकाम्, द्विशतिकाम्—(द्वौ द्वौ पादौ ददाति आदि) 'पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च' से वुन् प्रत्यय एवं पाद-घटक अकार का लोप होता है। 'पादः पत्' से पदादेश। 'वु' को अक। स्त्रीत्व की विवक्षा (वुन्नन्तं

स्त्रियामेव) में टाप् 'प्रत्ययस्थात्' से इत्व । यहाँ 'तद्धितार्थ०' से समास होने प्रत्यय होता है ।

द्विमोदकिकाम्—(द्वौ द्वौ मोदकौ ददादि) वार्त्तिकमतानुसार (भी वुन् होता है । 'पादशतग्रहणमनर्थकमन्यत्रापि दर्शनात्' (वा०) । द्वौ माषौ ददाति आदि स्थलों में अनभिधानात् वुन् नहीं होता है ।

द्विपदिकाम् , द्विशतिकाम्—(द्वौ पादौ दण्डितः—द्वे शते व्यवसृ ददाति) 'दण्डव्यवसर्गयोश्च' से वुन् होता है । अवीप्सार्थ सूत्र है ।

स्थूलकः, अणुकः—(स्थूल -अणुरेव वा) 'स्थूलादिभ्यः प्रकारव कन्' से कन् जातीपर् प्रत्यय को बाधकर होता है । जातीपर् की तरह यह प्रकारवान् द्रव्यबोधक है ।

चञ्चत्कः, बृहत्कः —(चञ्चन्नेव-बृहद्विशेषः,अचञ्चन्नबृहन्नपि प्रमादि ञ्चन्निव बृहन्निव मणिविशेषो लक्ष्यते वा) 'चञ्चद्बृहतोरुपसंख्यानम्' (वा० से कन् होता है ।

सुरकः—(सुरावर्णोऽहिः) 'सुराया अहौ' (ग०सू०) से कन् होता है

छिन्नकम्, भिन्नकम् , अभिन्नकम् , (ईषच्छिन्नमित्यादिः) 'अनत्य गतौ क्तात् , से कन् होता है ।

सामिकृतम् , अर्धकृतम् ,—'न सामिवचने', से कन् का निषेध होता है यहाँ अनत्यन्तगति, (क्त-प्रकृतिवाच्य क्रिया से 'क' प्रकृतिवाच्य साधन का सम्बन्धाभाव) प्रकृति से ही (सामी अर्धशब्दोपस्थिति कारण) अवगत है के कारण, पूर्वसूत्र से कन्' की अप्राप्ति प्र०सूत्र सार्थकता के लिये एक अत्य स्वार्थिक कन् (ज्ञापकवश) भी स्वीकार किया जाता है । वही यहाँ निषिद्ध होता है । 'बहुतरकम् , आदि प्रयोगों में अत्यन्त स्वार्थिक 'ही कन् होता है ।

बृहतिका —आच्छादन अर्थ गम्यमान होनेपर बृहति शब्द से 'बृहत्या आच्छादने' से कन् होता है । लिखा भी है-'द्वौ प्रावारोत्तरासङ्गौ समौ बृहतिका तथा' । आच्छदनातिरिक्त स्थल में—बृहती छन्दः ।

अषडक्षीणो-मन्त्रः, आशितङ्गवीनमरण्यम्, अलंकर्मीणः,अलंपुरुषीणः ईश्वराधीनः,—(अविद्यमानानि षडक्षीणि, श्रोत्रेन्द्रियाणि यस्मिन् स षडक्षी

एव) 'अषडक्षाशितङ्ग्वलंकर्मालपुरुषाध्युत्तरपदात्खः,' से ख होता है। 'आशिता गावोऽस्मिन्, द्वितीय प्रयोग का विग्रह है। यहाँ निपातनातत् पूर्व पद को मुमागम होता है। यह 'ख' प्रत्यय उत्तरसूत्र-(विभाषाऽञ्चेः०) में विभाषा-ग्रहण के फल-स्वरूप नित्य है। भाष्यप्रमाणानुसार 'अतिशायने०, से 'अवक्षेपणे कन्' तक, पुगाञ्ज्यो०' से 'पादशतस्य०' तक, 'किमेत्तिङ०' से ,तत्प्रकृत०' तक, और 'बृहत्याः' एवं 'जात्यन्ताच्छः' से विहित प्रत्यय भी नित्य माने जाते हैं। 'अन्येऽपि केचित्स्वार्थिकाः 'प्रत्यया नित्यमिष्यन्ते' (इष्टिः)।

प्राक्-प्राचीनम्, प्रत्यक्-प्रतीचीनम्, अवाक्-अवाचीनम्,—'विभाषा-ऽञ्चेरदिक्स्त्रियाम्, से वै० ख होता है। इसी प्रकार-अर्वाक्—अर्वाचीनम्,। स्त्रीत्वबोधक दिग्वाचक (अदिक्स्त्रियाम्) का परित्याग होने से प्राचीदिक्,उदीची-दिक् में 'ख' नहीं होता है। व्यावर्त्य में दिग्ग्रहण फलस्वरूप और स्त्रीग्रहण फल स्वरूप 'प्राचीना ब्राह्मणी, प्राचीनं ग्रामादाम्राः' में ख हो जाता है।

ब्राह्मणजातीयः—(ब्राह्मणजातिरेव) 'जात्यन्ताच्छ बन्धुनि, से छ होता है समुदाय से बन्धु अर्थ द्योत्य होनेपर। ब्राह्मणजातिःशोभना में बन्धु अर्थ नहीं बोधित होता है, अतः 'ख' नहीं होता है।

पितृथानीयः—पितृस्थानः—(पितुरिव स्थानं पदमस्य पितृस्थानः स एव) 'स्थानान्ताद्विभाषा संस्थानेनेति चेत्' से छ होता है। वि० से। 'संस्था-नेन'–(तुल्यार्थक से) पद, सूत्र में न होता तो 'गोः स्थानम्'–(निवासभूमिः) में भी छ हो जाता।

आनुगादिकः, (अनुगदतीत्यनुगादी, स एव) 'अनुगादिनष्ठक्' से 'ठक्' होता है।

वैसारिणः (विसारी-एव) 'विसारिणो मत्स्ये' से समुदाय द्वारा मत्स्य अर्थ बोधित होने पर अण् होता है। आदिवृद्धिः मत्स्य-भिन्न अर्थ में—विसारी देवदत्तः।

पञ्चकृत्वो भुङ्क्ते (पञ्चवारं भुंक्ते) 'संख्यायाः क्रियाभ्यावृत्तिगणने कृत्वसुच्' से स्वार्थ में पञ्चन् शब्दों से क्रिया जन्म गणना स्थिति में कृत्वसुच् होता है। संख्यातिरिक्त स्थल (भूरिवारान् भुङ्क्ते) में कृत्वसुच् नहीं होता है।

द्विः, त्रिः, चतुर्वा भुङ्क्ते पूर्व-विधि से प्राप्त कृत्वसुच् को बाधक 'द्वित्रिचतुर्भ्यः सुच्' से सुच् होता है। अन्तिम प्रयोग में 'रात्सस्य' से अवर्शि प्रत्यय 'स' का लोप होता है। प्रथम २ प्रयोगों में प्रत्यय स् को रुत्व-वि होता है। अन्तिम में प्रकृतिघटक रेफ को विसर्ग होता है।

सकृद्भुंक्ते (एकवारम्) 'एकस्य सकृच्च' से एक के स्थान में सकृदादे और सुच् प्रत्यय का विधान होता है। 'संयोगान्तस्य०' से स् का लोप होता है 'हल्ङ्याप्०' से लोप करनेवाले प्राचीन अमार्ग पर थे, कारण विभक्तिसं के साहचर्य से विभक्तिघटक ही 'स्' लिया गया है। इसीलिए 'सिच्' का स् नहीं लिया जाता है।

बहुधा दिवसस्य भुङ्क्ते,–(बहुवारम्) 'विभाषाबहोर्धाऽविप्रकृष्टका से धा प्रत्यय होता है। 'अविप्रकृष्टकाले' से यह ज्ञात होता है कि क्रिया की सन्नि टता होनी चाहिये। ऐसी स्थिति न होने के कारण बहुकृत्वो मासस्य भुंक्ते धा नहीं होता है।

अपूपमयम्, यवागूमयी, अन्नमयम्––(प्रकृतोऽपूपो यवागूरन्नं वा) अन्नमयो यज्ञः, अपूपमयं पर्व-(प्रकृता अपूपा (प्रचूराः) यस्मिन्, प्रकृतं प्रचू मन्नं यस्मिन्) 'तत्प्रकृतवचने मयट्' से मयट् होता है। सूत्रपठित 'प्रकृतवच शब्द का विद्वानों के मतानुसार (वचन में भावार्थक, व अधिकरणार्थ ल्युट्) २ अर्थ हैं। १ प्रकृतस्य वचनमुक्तिः, २ प्रकृतं प्रस्तुतमुच्यतेऽस्मिन् प्रथम ३ उदाहरणों में प्रथम व्युत्पत्यनुसार मयट् होता है, अतः विशेष्यनिघ्न (विशेष्य के अनुसार लिंग प्रयोग) नहीं होती है। अन्तिम २ प्रयोगों में विशे (यज्ञादि) के अनुसार लिंग होता है।

मौदकिकम्, मोदकमयम्, शाष्कुलिकम्, शष्कुलीमयम्,– (मोदकाः प्रकृता आदि) 'समूहवच्च बहुषु' से अतिदिष्ट ठक् (अचित्तहस्तिधेनो ष्ठक् से) होता है। चकारात् मयट् भी होता है। पूर्ववत् अधिकरणप्रधान (वचन) अर्थ में मौदकिको यज्ञः, मोदकमयः आदि विशेष्यानुसार लिङ्गवाले प्रयोग भी होते हैं।

आनन्त्यम्, आवसथ्यनेम्, ऐतिह्यम्, भैषज्यम्,—(अनन्त एव-आदिः) 'अनन्तावसथेतिहभेषजाञ्ञ्य: से 'ञ्य' होता है।

अग्निदेवत्यम्, पितृदेवत्यम्—(अग्निदेवतायै, पितृदेवतायै वा-इदम्) 'देवतान्तात्तादर्थ्ये यत्' से यत् होता है।

पाद्यम्, अर्घ्यम्,—(पादार्थमर्घार्थं वोदकम्) 'पादार्घाभ्यां च' से यत् होता है।

नूत्नम्-नूतनम्-नवीनम्—(नव एव) 'नवस्य नूत्नप्तनप्खाश्च' (वा०) से नव के स्थान में 'नू' आदेश और स्वार्थे में त्नप्, तनप्, और ख (ईन्) प्रत्यय होते हैं।

प्रणम्, प्रत्नम्, प्रतनम्, प्रीणम्,—(प्रः-पुराण एव) 'नश्च पुराणे प्रात्' (वा०) से न, त्नप्, तनप्, एवं ख प्रत्यय होते हैं। यहाँ प्राचीनार्थक प्र (अनव्यय) शब्द है।

भागधेयम्, रूपधेयम्, नामधेयम् –(भाग एव–आदिः) 'भागरूप-नामभ्यो धेयः' (वा०) से धेय प्रत्यय होता है।

आग्नीध्रम्, साधारणम्—(आग्नीध्रमेवादिः) 'अग्नीधः शरणे रण् भंच' से (शैषिक में) निष्पन्न आग्नीध्र और (समानधारणमस्य) व्युत्पत्ति से निष्पन्न साधारण (वा० निपातन से सादेश को दीर्घ) शब्द से 'आग्नीध्र-साधारणादञ्' से अञ् होता है। रूपाकार में भेद न होनेपर भी स्वर में (आद्यु-दात्त) भेद, फल है। तथा स्त्रीत्वविवक्षा में अञन्तत्वात् ङीप्, एवं विभाषा-विकार के कारण अञभावपक्ष में टाप् होने से–आग्नीध्री, साधारणी और आग्नीध्रा, साधारणा प्रयोगसिद्धि भी फल है।

आतिथ्यम्— अतिथये-इदम्) 'अतिथेर्ञ्यः' से ञ्य' होता है।

देवता—(देव-एव) 'देवात्तल्' से तल् होता है। 'तलन्तं स्त्रियाम्'।

आविकः—(अविरेव) 'अवेः कः' से क होता है।

यावकः, मणिकः,—(यावो मणिरेव वा) 'यावादिभ्यः 'कन्' से कन् होता है।

लोहितकः—(लोहित एव मणिः) 'लोहितान्मणौ' से कन् होता है।

लोहितकः—(अनित्यो लोहितवर्ण एव) 'वर्णे चानित्ये से कन् होता है। कोपादि से क्षणिक लोहित होने की स्थिति में यह प्रयोग होता है। स्त्रीत्वविवक्षा में 'लोहिताल्लिङ्गबाधनं वा' (वा०) से वै० लिङ्गबाधा होने के फलस्वरूप लोहिनिका, लोहितिका दोनों प्रकार के प्रयोग साधु स्वीकार किए जाते हैं। 'सुबन्तात्तद्धितोत्पत्तिः' पक्षानुसार कन् प्रत्यय विधान से पूर्व ही 'वर्णादनु०' की प्रवृत्ति हो जाने की दशा में वार्तिक अनावश्यक है।

लोहितिका, लोहिनिका शाटी,—रक्तता (रंगना) अर्थ में 'रक्ते' से कन् होता है। लिंगबाधन भी पूर्ववत् वै० होता है।

कालकं मुखम्, कालकः पटः, कालका शाटी—'वर्णे चानित्ये' और 'रक्ते' के विषय में 'कालाच्च' से कन् होता है।

वैनयिकः, सामयिकः—(विनय एव आदिः) 'विनयादिभ्यष्ठक्' से ठक् होता है।

औपयिकः—(उपाय एव) 'उपायो ह्रस्वत्वं च' (ग. सू.) से ठक् एवं 'पा' को ह्रस्व (प) होता है।

वाचिकम्—(वागेव) 'वाचो व्याहृतार्थायाम्' से संदिष्टार्थक वाक् शब्द से ठक् होता है।

कार्मणम्,—(कर्मैव) 'तद्युक्तात्कर्मणोऽण्' से वाचिक (संदिष्ट) को सुनकर क्रियमाण कर्म का बोधक अण् होता है।

औषधम्—(ओषधिरेव) 'ओषधेरजातौ' से अण् होता है। जाति अर्थ में अण् नहीं होता है। ओषधयः क्षेत्रेरूढाः।

प्राज्ञः, दैवतः बान्धवः—(प्रज्ञ एव आदिः) 'प्रज्ञादिभ्यश्च' से अण् होता है। स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप्–प्राज्ञी आदिः।

मृत्तिका—(मृदेव) 'मृदस्तिकन्' से तिकन् होता है। स्त्रीत्वविवक्षा में टाप्। 'पञ्चमृत्तिकः पटः'–आदि प्रयोगों में इकार श्रवणार्थ प्रत्यय में इकारोच्चारण है। अन्यथा 'प्रत्ययस्थात्' से ही सिद्ध था।

मृत्सा, मृत्स्ना,—(प्रशस्ता मृत्) 'सस्नौ प्रशंसायाम्' से स, और स्न

प्रत्यय होते हैं। उत्तरसूत्र (वह्वल्पा०) में 'अन्यतरस्याम्' ग्रहण के फलस्वरूप ये प्रत्यय नित्य होते हैं।

बहुशः, अल्पशः – (बहूनि-अल्पानि वा ददाति) 'बह्वल्पार्थाच्छस्कारकादन्यतरस्याम्' से वै० 'शस्' होता है। 'बह्वल्पार्थान्मंगलामङ्गलवचनम्' (वा०) के अधिकारानुसार अधिक और अल्पार्थ, जब क्रमशः–मंगल एवं अमंगल बोधन स्थिति में हों तभी 'शस्' होता है। अतः 'बहूनि ददात्यनिष्टेषु' और अल्पं ददात्याभ्युदयिकेषु' में 'शस् नहीं होता है। यतः– आभ्युदयिकेषु बहुदानम्', और 'अनिष्ठेषु-अल्पदानं मंगलम्'–के अनुसार उक्त प्रयोगों में एतद्विपरीतता है।

द्विशः, माषशः, प्रस्थशः,–(द्वौ द्वौ ददाति) 'संख्यैकवचनाच्च वीप्सायाम्' से 'शस्' होता है। माष, प्रस्थादि परिमाण शब्द वृत्ति (समास तद्धितादि) में एकार्थक होते हैं। 'माषदाता' कहने से माषपरिमाणक सुवर्णादि दाता अर्थ प्रतीत होता है, न कि माषों का (माषाणाम्) दाता। 'घटं घटं ददाति' में जातिबोधक 'घट' शब्द होने से अनेक घटों का दाता अर्थ भी होता है, अतः 'संख्यैकवचनात्' का यह प्रत्युदाहरण सिद्ध होता है। 'द्वौ ददाति' में वीप्सा (द्विरुक्ति) के अभाव से 'शस्' नहीं होता है। 'द्वयोर्द्वयोः'–में वीप्सादि होनेपर भी 'बह्वल्पार्थात्' से कारकात् की अनुवृत्ति होने से और उक्त प्रयोग में 'द्वि' शब्द के कारक संज्ञा रहित होने से 'शस्' नहीं होता है।

प्रद्युम्नः कृष्णतः प्रति—'प्रतियोगे पञ्चम्यास्तसिः' से 'प्रति' के योग में कर्मप्र० संज्ञक कृष्ण से 'तसि' होता है।

आदितः मध्यतः, अन्ततः, पृष्ठतः, पार्श्वतः—'आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्' (वा०) से 'तसि' (आदि, मध्य आदि से) होता है।

ग्रामतः-आगच्छति—(ग्रामात्) 'अपादाने चाहीयरुहोः' से 'तसि' होता है। 'अहीयरुहोः' ग्रहण के फलस्वरूप 'स्वर्गाद्धीयते' और 'पर्वतादवरोहति' में 'तसि' नहीं होता है।

चरित्रतोऽतिगृह्यते—(चरित्रेण), वृत्ततो न व्यथते–(वृत्तेन), वृत्ततः क्षिप्तः–(वृत्तेन) 'अतिग्रहाव्यथनक्षेपेष्वकर्त्तरि तृतीयायाः' से 'तसि' होता है।

'अकर्त्तरि' ग्रहण के फलस्वरूप 'देवदत्तेन क्षितः' (कर्ता में तृतीया) में 'तसि' नहीं होता है।

वृत्ततो-हीयते पापो वा—(वृत्तेन) 'हीयमानपापयोगाच्च' से 'तसि' होता है। 'अकर्त्तरि' (अनुवृत्ति-लभ्य) के फलस्वरूप 'देवदत्तेन हीयते' में 'तसि' नहीं होता है।

देवा अर्जुनतोऽभवन्, आदित्याः कर्णतोऽभवन्—(अर्जुनस्य, कर्णस्य पक्षे) 'षष्ठ्या व्याश्रये' (नानापक्षसमाश्रय) से 'तसि' होता है। 'वृक्षस्य शाखाः' में नानापक्षसमाश्रयात्वाभाव (व्याश्रय) होने से 'तसि' नहीं होता है।

प्रवाहिकातः कुरु—(प्रवाहिकायाः—विसूचिकायाः प्रतीकारं कुरु) 'रोगाच्चापनयने' (निवारणे) से 'तसि' होता है। अपनयन (निवारण) अर्थ न होने के कारण 'प्रवाहिकायाः प्रकोपनं करोति' में 'तसि' नहीं होता है।

कृष्णीकरोति—(अकृष्णः कृष्णः सम्पद्यते, तं करोति), ब्रह्मी भवति (अब्रह्मः ब्रह्म सम्पद्यमानं भवति), गङ्गी स्यात्—(अगङ्गा गङ्गा सम्पद्यमानाऽस्ति) 'कृभ्वस्तियोगे संपद्यकर्त्तरि च्विः' से स्वार्थ में 'च्वि' होता है। (यह 'च्वि' 'अभूततद्भाव इति वक्तव्यम्' (वा०) के अनुसार 'अभूततद्भाव' अर्थ में होता है।) 'च्वि' परे 'अस्य च्वौ' से कृष्णादि के अवर्ण को इकारादेश होता है। 'च्वि' का सर्वापहारी लोप होता है। (इकार उच्चारणार्थक है।) च्व्यन्त की अव्ययसंज्ञा ('तद्धितश्च०' से) होने से समुदाय से आगत विभक्ति का लुक् होता है।

दोषाभूतमहः, दिवाभूता रात्रिः—पूर्ववत् सब कार्य ('च्वि' प्रत्यय आदि) होते हैं, केवल 'अव्ययस्य च्वावीत्वं नेति वाच्यम्' (वा०) से निषिद्ध होने के कारण ईत्व नहीं होता है।

गार्गीभवति—(अगार्ग्यो गार्ग्यः सम्पद्यमानो भवति) 'कृभ्वस्तियोगे' से 'च्वि' होनेपर 'क्यच्व्योश्च' से 'यञ्' प्रत्यय के यकार का लोप (सूत्रकरण सामर्थ्यात् ईकारके व्यवधान में भी) होता है।

शुची भवति, पटू स्यात्—'च्वि' परे 'च्वौ च' से पूर्ववर्ण को दीर्घ होता है। 'स्वस्ति स्यात्' आदि प्रयोगों में महाविभाषाधिकारात् 'च्वि' नहीं होता है।

'अव्यय को दीर्घ नहीं होता है'—ऐसी कल्पना निर्मूल है। 'स्वस्ति स्यात्' प्रयोग यदि अनभिप्रेत हो तो अनभिधानात् 'च्वि' का अभाव कहना चाहिए।

मात्रीकरोति—(अमाता माता सम्पद्यते तं करोति) पूर्ववत् 'च्वि' होनेपर 'रीङृतः से 'ऋ' के स्थान में रीङादेश होता है।

अरूकरोति, उन्मनीस्यात्, उच्चक्षूकरोति, विचेतीकरोति, विरही करोति, विरजीकरोति—'अरुर्मनश्चक्षुश्चेतोरहोरजसां लोपश्च' से 'च्वि' एवं सूत्रपठित शब्दों के अन्तिम अक्षरका लोप होता है।

अग्निसाद्भवति, अग्नीभवति,—(कृत्स्नं शस्त्रमग्निः सम्पद्यत इति) 'विभाषा साति कार्त्स्न्ये' से 'च्वि' के विषय में 'साति' होता है। 'सात्पदाद्योः' से षत्व का निषेध होता है। पदादि का उदाहरण 'दधि सिञ्चति' है। 'विभाषा' बलात् पक्ष में 'च्वि' होता है। महाविभाषा के कारण वाक्य भी। 'एकदेशेन शुक्ली भवति पटः' में समस्तता का बोध नहीं होता है, अतः 'कार्त्स्न्ये' ग्रहणके फलस्वरूप 'साति' नहीं होता है।

अग्निसात् सम्पद्यते, अग्निसाद्भवति शस्त्रम्—अग्नीभवति, जलसात् सम्पद्यते, जलीभवति—'च्वि'के विषय में 'अभिविधौ संपदा च' से सम्पूर्वक पद्धातु और कृ, भू, अस् के प्रयोग में (अभिविधि अर्थ की गम्य-मानता में) 'साति' वि० से होता है। पक्ष में 'च्वि' होता है। सम्पद् के योग में पाक्षिक वाक्य ही रहेगा। एक वस्तु के सर्वावयव परिवर्तन को कार्त्स्न्य और और अनेक वस्तुओं के कतिपय-अवयव-परिर्वन को यहाँ अभिविधि कहा जाता है।

राजसात्—करोतिसंपद्यते वा—(राजाधीनम्) 'तदधीनवचने' से 'साति' होता है।

विप्रत्राकरोति, सम्पद्यते वा—विप्रसात्करोति—(विप्राधीनम्) 'देये त्रा च' से 'त्रा' एवं 'साति' होता है। जहाँ देय (देने योग्य) अर्थ नहीं है वहाँ 'राजसाद्भवति राष्ट्रम्' में 'साति' ही होता है।

देवत्रा वन्दे, रमे वा (देवं, देवं वा) 'देवमनुष्यपुरुषपुरुमर्त्येभ्यो द्वितीयासप्तम्योर्बहुलम्' से 'त्रा' होता है। बहुलग्रहणात् 'बहुत्रा जीवतो मनः'—(बहुषु) में भी 'त्रा' होता है।

पटपटा करोति–अस्पष्ट ध्वनि का अनुकरण बोधक 'पटत्' शब्द से 'अव्यक्तानुकरणाद्‌द्व्यजवरार्धादनीतौ डाच्' से 'डाच्' प्रत्यय होता है। इस 'डाच्' प्रत्यय की विवक्षा में ही 'डाचि विवक्षिते द्वे बहुलम्' (वा०) से 'पटत्' को द्वित्व हो जाता है। द्वितीय 'पटत्' की 'तस्य परमाम्रेडितम्' से 'आम्रेडित' संज्ञा होनेपर 'नित्यमाम्रेडिते डाचीति वक्तव्यम्' (वा०) से पूर्व 'पटत्' के तकार और उत्तर 'पटत्' के पकार के स्थान में 'प' (पररूप) होता है। 'डाच्' के 'डित्' होने से विना भसंज्ञा के भी २तीय 'पटत्' के 'अत्' भाग (टि) का लोप होता है। समुदाय से आगत 'सु' आदि का अव्यत्वात् लुक् होता है। 'ईषत्करोति' में अव्यक्तानुकरण के अभाव से 'डाच्' नहीं होता है। 'श्रत् करोति' में 'द्वयजवरार्धात्'—(दो अच् वाला–कम से कम अर्धभाग जिसका अर्थात् अनेकाच्) ग्रहणके फलस्वरूप 'डाच्' नहीं होता है। कम से कम भाव सूचक 'अवर' शब्द न होता तो ३ अच् वाले 'खरटखरटा करोति' में डाजादि कार्य न होते। 'द्वयजर्धात्' कहने से ३अच् वाले का संग्रह नहीं हो पाता। त्रपटत्रपटा करोति। 'अनेकाच' कहने से सभी इष्ट प्रयोग सिद्ध हो सकते थे। 'पटितिकरोति' में 'इति' परत्व होने के कारण 'अनिति' ग्रहण के फलस्वरूप 'डाच्' नहीं होता है।

द्वितीयाकरोति, तृतीयाकरोति, शम्बाकरोति, बीजाकरोति–(द्वितीयं तृतीयं कर्षणं करोति, अनुलोमं कृष्टं क्षेत्रं पुनः प्रतिलोमं कर्षति, और बीजेन सह कर्षति–क्रमशः वि० वाक्य हैं) 'कृञो द्वितीयतृतीयशम्बबीजात्कृषौ' से 'डाच्' होता है। 'डाचि विवक्षिते०' में बहुलग्रहणात्–अस्पष्टानुकरणबोधक शब्द को ही द्वित्व होता है, अतः प्रकृत स्थल में द्वित्व नहीं होता।

द्विगुणाकरोति क्षेत्रम्—(द्विगुणं क्षेत्रं कर्षति) 'संख्यायाश्च गुणान्तायाः' से 'डाच्' होता है।

समयाकरोति—(कालं यापयति) 'समयाच्च यापनायाम्' से 'डाच्' होता है।

सपत्राकरोति मृगम्, निष्पत्राकरोति—(सपत्रं निष्पत्रं वा करोति) अतिव्यथन (अधिक कष्ट देना) अर्थ में 'सपत्रनिष्पत्रादतिव्यथने' से डाच् होता है। पत्र (पंखों) सहित बाण मृग को लगा देना, और पंखों सहित बाण को एक

ओर से दूसरी ओर पार कर देना क्रमशः प्रयोगाभिप्राय हैं। 'सपत्रं निष्पत्रं वा करोति भूतलम्'—भूतल निश्चेतन पदार्थ है, अतः अतिव्यथन सम्भव न होने से 'डाच्' नहीं होता है।

निष्कुला करोति दाडिमम्—(निर्गतं कुलमन्तरवयवानां समूहो यस्मात्)—इस प्रकार बहुव्रीहि समास से सिद्ध 'निष्कुल' शब्द से 'निष्कुलान्निष्कोषणे' से 'डाच्' होता है।

सुखाकरोति, प्रियाकरोति—वा गुरुम्—अनुकूलाचरणेन प्रीणयति—अर्थ में 'सुखप्रियादानुलोम्ये' से 'डाच्' प्रत्यय होता है।

दुःखाकरोति स्वामिनम्—विपरीताचरणेन पीडयति—अर्थ में 'दुःखात् प्रातिलोम्ये' से 'डाच्' होता है।

शूलाकरोति मांसम्—शूलेन पचति—अर्थ में 'शूलात्पाके' से 'डाच्' होता है।

सत्याकरोति भाण्डं वणिक्—क्रेतव्यमिति तथ्यं करोति—अर्थ में 'सत्यादशपथे' से 'डाच्' होता है। 'शपथ' (प्रतिज्ञा) की बोधनस्थिति में 'सत्यं करोति विप्रः' में 'डाच्' नहीं होता है।

मद्राकरोति, भद्राकरोति—माङ्गल्यमुण्डनेन संस्करोति—अर्थ में 'मद्रात्परिवापणे' सूत्र से प्रथम प्रयोग में और 'भद्राच्चेति वक्तव्यम्' (वा०) से द्वितीय प्रयोग में 'डाच्' होता है। 'परिवापण' (मुण्डन) ग्रहण के फलस्वरूप 'मद्रं करोति, भद्रं करोति' (मङ्गलं करोति) में 'डाच्' नहीं होता है।

इति स्वार्थिक-प्रकरणम्।

—❀—

अथ द्विरुक्त-प्रक्रिया

पचति-पचति, भुक्त्वा-भुक्त्वा—'सर्वस्य द्वे' के अधिकार में स्थित 'नित्यवीप्सयोः' से तिङन्त 'पचति' पद को और कृदन्ताव्यय 'भुक्त्वा' को आभीक्ष्य-(क्रिया की पुनरावृत्ति) द्योत्य होनेपर द्वित्व (द्विरुच्चारण) होता है।

वृक्षं-वृक्षं सिञ्चति, ग्रामो-ग्रामो रमणीयः - वीप्सा-(व्याप्ति-कार्त्स्न्यं) द्योत्य होने के कारण, पूर्वसूत्र से द्वित्व होता है 'वीप्सा' जिसका पर्याय व्याप्ति है—व्याप्ति, प्रतिपादन करनेवाले कर्त्ता की ईच्छास्वरूप है। यह ईच्छा सापेक्ष होती है, अतः 'वृक्षं वृक्षं सिञ्चति' से संसार भर के वृक्षों का सेचन अर्थ (असंभव होने से) बोधित न होकर, अपेक्षित वाटिकास्थ समस्त वृक्षों का सेचन बोधित होता है। प्रति वृक्षगत एकत्व भासित होने से बहुवचन की आपत्ति भी नहीं उठाई जा सकती। द्विरुक्त 'वृक्षं' से जात (समुदाय) की 'यत्र संघाते पूर्वो भागः पदं तस्य चेट् भवति तर्हि समासस्येव' ('कृत्तद्धित०' घटक समासपदज्ञापित-नियम) नियम के अनुसार 'प्रातिपदिक' संज्ञा न होने के कारण, विभक्त्युत्पत्ति की आपत्ति भी नहीं दी जा सकती।

परि परि वङ्गेभ्यो वृष्टो देवः —'परेर्वर्जने' से वर्जनार्थक 'परि' की द्विरुक्ति होती है। वार्त्तिकमतानुसार यह द्वित्व विकल्प से होता है। 'परेर्वर्जने वा वचनम्'—(वा०)। पक्ष में 'परि वङ्गेभ्यः'।

उपर्युपरि ग्रामम्, अध्यधिसुखम्, अधोऽधोलोकम्—'सामीप्य' अर्थ-बोध्य होनेपर 'उपर्यध्यधसः सामीप्ये' से 'उपरि, अधि' और 'अधस्' अव्यय को द्वित्व होता है। उपरिष्टात्, समीप देश सर्वत्र भासित है।

सुन्दर-सुन्दर वृथा ते सौन्दर्यम्—(असूया) देव-देव वन्द्योऽसि (संमति), दुर्विनीत-दुर्विनीत इदानीं ज्ञास्यसि-(कोप), धानुष्क-धानुष्क वृथाते धनुः—(कुत्सन), चोर-चोर घातयिष्यामि त्वाम्—(भर्त्सन) 'वाक्यादेरामन्त्रितस्याऽसूयासंमतिकोपकुत्सनभर्त्सनेषु' से द्वित्व होता है।

एकैकमक्षरम् - 'नित्यवीप्सयोः' से द्विरुक्त 'एकम्' की 'बहुव्रीहि' संज्ञा (बहुव्रीहिवत्) होती है। एतत्संज्ञा के (अतिदेशबलात्) फलस्वरूप 'प्रातिपदिक' संज्ञा और प्रातिपदिकत्वात् पूर्वोत्तर सुब्लुक् होनेपर समुदाय से पुनः विभक्ति आती है।

एकैकयाऽऽहूत्या—पूर्ववत् बहुव्रीहिवत्—अतिदेश होने से पूर्वभाग को 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुँवद्भावः' से पुँवद्भाव होता है। 'स्त्रियाः पुँवत्' से यदि पुँवद्भाव किया जाय तो भी पूर्वभाग को ही होगा, क्योंकि द्वितीयभाग का

समानाधिकरणत्व पर होना असंभव है। 'न बहुव्रीहौ' में 'बहुव्रीहि'-ग्रहण के फल-स्वरूप अतिदिष्ट-बहुव्रीहिस्थल में 'सर्वनाम' संज्ञा का निषेध नहीं होता है। भाष्य-मतानुसार तो सूत्र का अस्तित्व ही नहीं है। अतः 'एकैकस्मै देहि' में सर्वनाम-प्रयुक्त 'स्मै'-आदि भी होते हैं।

गतगतः—पीडा द्योत्य होने से 'आबाधे च' से द्वित्व (गतः को) और बहुव्रीहिवद्भाव होता है। अतिदेश के फलस्वरूप अवान्तर विभक्ति का लुक् एवं समुदाय से सुबुत्पत्ति होती है। स्त्रीत्वविवक्षामें 'गतगता' में 'स्त्रियाः पुंवत्' से पुँवद्भाव भी होता है। बहुव्रीहिवदतिदेश के बल से ही उत्तरार्ध 'गता' को उत्तर-पदके रूपमें स्वीकार किया जाता है।

पटुपट्वी—(पट्वी) 'प्रकारे गुणवचनस्य' से सादृश्य की द्योत्यता में द्वित्व एवं 'कर्मधारयवदुत्तरेषु' के अधिकार में स्थित होने से कर्मधारयवद्भाव होता है। जिसके फलस्वरूप आवान्तर विभक्ति का लोप,' पुँवत्कर्मधारय०' से पुँवद्भाव, 'समासस्य' से अन्तोदात्त एवं समुदाय से सुप् की उत्पत्ति होती है। प्रकृत बहुव्रीहिवद्भाव को त्यागकर विधान का फल 'कालककालिका' में पुँवद्-भावादि का विधान है। 'न कोपधायाः' से पुँवद्भाव के निषिद्ध होनेसे बहुव्रीहि-वद्भाव विधान से पुँवद्भाव अलभ्य हो जाता।

पटुपटु (पटुसदृशः), शुक्लशुक्लं रूपम् , शुक्लशुक्लः पटः—'प्रकारे गुणवचनस्य' से द्वित्व एवं कर्मधारयवद्भाव होता है। सूत्र में 'गुणवचन' शब्द से (गुणस्य प्रधानाप्रधानोभयथाऽपि वचनं यस्मात् - व्युत्पत्ति के अनुसार) मुख्यतया द्रव्यबोधक, गौणतया गुणवाचक—(यथा तृतीय प्रयोगमें) और मुख्यतया गुणवाचक—(जैसे द्वितीय प्रयोग में) दोनों प्रकारके संगृहीत होते हैं।

मूले मूले स्थूलः—आनुपूर्व्य (क्रमिक) की बोधकता की स्थिति में 'आनुपूर्व्ये द्वे वाच्ये' (वा०) से द्वित्व होता है। 'वीप्सा' (व्याप्ति) न होने से द्विर्भाव अप्राप्त था। 'अग्रे-अग्रे सूक्ष्माः'-आदि प्रयोगों में भी इसी वार्तिक से द्वित्व होता

है। मूल एवं उसके निकट २ के भाग में अग्रभाग एवं उसके निकट २ भा
में आपेक्षिक स्थौल्य एव सूक्ष्मता क्रमशः उन प्रयोगों से बोधित होते हैं।

सर्पः सर्पः बुध्यस्व२, सर्पः सर्पः सर्पः बुध्यस्व३--'सम्भ्रमेण प्रवृ
यथेष्टमनेकधा प्रयोगो न्यायसिद्धः' (वा०) से सम्भ्रम (घबड़ाहट) की बोध्यता
द्विरुक्ति, त्रिरुक्ति आदिकी साधुता बोधित होती है। भाषा भावबोध के लिए हो
है, अतः सर्पादि दर्शन से उत्पन्न घड़बड़ाहट में जितनी बार शब्दोच्चारण से श्रो
को भावबोध और जिससे उसकी प्राण रक्षा हो उतनो बार उच्चरित शब्द
की साधुता पाणिनि व्याकरण में उक्त वार्तिक द्वारा दी जाती है।

लुनीहि लुनीहीत्येवायं लुनाति—'क्रिया समभिहारे च' (वा०) से 'लुनी
हि' को द्वित्व होता है। 'क्रियासमभिहार' के पौनःपुन्य (बार-बार) और भृ
(अत्यन्त) ये दो अर्थ हैं, जिनमें पौनःपुन्य अर्थ में द्वित्व-विधायक शास्त्र 'नित्यवी
प्सयोः' पहिले से ही विद्यमान है। प्रकृत सूत्र भृशार्थक स्थल में द्वित्वार्थ है
पौनःपुन्यार्थक स्थलमें भी लोट् लकार के साथ ही क्रियासमभिहारद्योतकता प्रा
करने के लिए सूत्र आवश्यक है। उक्त व्यवस्था के अनुसार क्रियासमभिहारार्थ
'यङ्' प्रत्यय के साथ 'पापच्यते पापच्येत-आदि' में द्विर्वचन साधुता की कल्पना
करनी चाहिये, कारण 'लोट्' लकार समुच्चय अर्थ में भी होता है, केवल
क्रियासमभिहार में ही नहीं। अतः लोडन्त स्थल में द्विरुक्ति से ही क्रियासमभिहार
द्योतित हो सकता है। इसके विपरीत यङन्तस्थल में केवल यङ् से भी क्रिया
समभिहार निश्चित रूप से बोधित होता है, अतः वहाँ द्वित्व निरर्थकता के
भय से प्रवृत्त ही नहीं होता।

अन्योन्यं विप्रा नमन्ति, अन्योन्यौ, अन्योन्यान्, अन्योन्येन, अन्यो
न्यस्मै, अन्योन्येषां, (पुष्करैरामृशन्त इति माघः), परस्परम्, इतरेतरम्,
इतरेतरेण, अन्यम्, अन्यौ, अन्यान्, अन्येन, अन्यस्मै, अन्येषाम्
परम्, ईतरम् और इतरेण को 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नो द्वे वाच्ये समासवच्च
बहुलम्, (वा०) से क्रियाविनिमयद्योत्य की स्थिति में द्वित्व होता है। उक्त
वार्तिक में 'बहुल' शब्द है जो इस प्रकरण के इष्ट प्रयोगों की सिद्धि में
कामधेनु सरीखा बलप्रद है। सर्व प्रथम उसी के प्रभाव से आदि के सात प्रयोगों

में (अन्य और परघटित) समासवद्भाव (जो वार्त्तिक द्वारा ही विधेय है) नहीं होता है। अन्तिम २प्रयोगों में ('इतर' शब्द को) नित्य समासवद्भाव होता है। जिन स्थलों में समासवद्भाव नहीं होता है वहाँ 'असमासवद्भावे पूर्वपदस्थस्य सुपः सुर्वक्तव्यः' (वा०) से पूर्वपदस्थ अम्, टा, ङे. और आमादि को 'सु' आदेश होता है। जिसके फलस्वरूप रुत्व, उत्व, गुणादि होने से उक्ताकार में प्रयोग सिद्ध होते हैं। ७म प्रयोग (परस्परम्) में कस्कादित्वात् विसर्ग को 'स' होता है। 'इतर' शब्द को तो नित्य समासवद्भाव होता ही है, अतः अवान्तर-विभक्तियों का लुक् होकर समुदाय से विशेष्यानुसार विभक्ति आती है।

अन्योन्याम्—अन्योन्यम्, परस्पराम्—परस्परम्, इतरेतराम्—इतरेतम्, अन्याम्—अन्यम्, पराम्—परम्, इतराम्—इतरद् वा—(स्त्री-नपु-लिङ्ग) को 'कर्मव्यतिहारे०' से द्वित्व और समासवद्भाव (केवल 'इतर' शब्द को) होता है 'असमासवद्भावे०' से ('अन्य, पर' शब्दोत्तर) विभक्ति (अम् को) को 'सु' आदेश होता है। यह सुभाव पूर्वपदस्थ विभक्ति को ही होता है। उत्तरपदस्थ विभक्ति को 'स्त्रीनपुंसकयोरुत्तरपदस्थाया विभक्तेराम्भावो वा वक्तव्यः०' (वा०) से 'आम्' आदेश वै० होता है। पूर्वार्ध और उत्तरार्ध भाग में 'टाप्' निवृत्ति (स्त्रीलिङ्ग स्थल में) अदड्-विरह, (नपुंसक स्थल में) एवं 'सु' का अलुक् (अन्योन्येन संसक्तमाश्रयो वा-अन्योन्यसंसक्तमन्योन्याश्रयः—परस्पराक्षिसादृश्यम्-आदि स्थलों में) 'बहुल' शब्द के (कर्मव्यतिहारे०' वा० में) कामधेनु (इष्ट प्रयोग सिद्धिकारक) होने से होते हैं। इन्हीं सब को ग्रन्थकार ने अग्रिम पद्य द्वारा निर्दिष्ट किया है :—

"दलद्वये टाब्भावः क्लीवेचादीड्विरहः स्वमोः।
समासे सोरलुक् चेति सिद्धं बाहुलकात्त्रयम्॥"

(यह पूर्वार्ध की अन्तिम प्रसिद्ध फक्किका है।) 'अन्य' और 'पर' शब्द को (बहुलग्रहणात्) समासवद्भाव नहीं होता है, अतः 'सर्वनाम्नो वृत्तिमात्रे पुंवद्भावः' (वा०) से पुंवद्भाव (वृत्ति के अभाव से) असंभव होने के कारण उसके बलपर 'टाप्' के निवृत्तिस्वरूप बहुल फल को असंगत नहीं कहा जा सकता है। एकशेष की समस्त वृत्तियों (समासादि) में होनेपर भी द्विर्वचन की

गणना 'अकथितं च' सूत्र के भाष्यस्थ 'कारकश्चेद्विजानीयाद्यां यां मन्येत सा भवेत्' वाक्य में द्विरुक्ति 'यां 'यां' में पुंवद्भाव अदृष्ट होने से नहीं होती है। अतः 'यां यां प्रियः प्रेक्षत कातराक्षीं सा सा' (माघ-काव्य) आदि प्रयोग शुद्धों की गणना में आते हैं। कुछ विद्वानों के मत में 'स्त्रीनपुंसकयोः' से विहित आम्रेडित द्वितीया को ही होता है। इसमें प्रमाण भाष्यादि में द्वितीयान्त स्थलों का उदाहरण रूप से प्रदर्शित करना है। इनके अनुसार तृतीयादि विभक्तियों में (स्त्री, नपुं०) पुंवत् ही (टाबादि के अभाव से) प्रयोग सिद्ध होते हैं। विद्वानों का यह कहना कि 'असमासे०' से विहित सुभाव भी द्वितीया को ही होता है, सर्वथा निराधार है। बल्कि माघ और भारवि जैसे महाकवियों ने 'अन्योन्येषां पुष्करैरामृशन्ते,' 'क्षितिनभः सुरलोकनिवासिभिः कृतनिकेत-दृष्टपरस्परैः' आदि स्थलों में (द्वितीयातिरिक्त विभक्तियों को) सुभाव को प्रदर्शित किया है।

प्रियप्रियेण ददाति, प्रियेण वा, सुखसुखेन ददाति सुखेन वा 'प्रकृते प्रियसुखयोरन्यतरस्याम्' से द्वित्व और कर्मधारयवद्भाव वै० होता है। अवान्तर विभक्ति का लुक् तथा समुदाय से सुबुत्पत्ति आदि कार्य कर्मधारयवद्भाव के कारण होते हैं। पक्ष में केवल 'प्रियेण' 'सुखेन' ही होता है। अतिप्रिय पदार्थ को बिना कष्ट के देता है—प्रयोगार्थ है।

यथायथं ज्ञाता—'यथा' (अव्यय) को 'यथास्वे यथायथम्' से द्वित्व एवं समुदाय का नपुसकलिंग में विधान होता है। यह द्वित्व एवं क्लीबत्व 'यथा' (अव्यय) से यथास्व (स्वं स्वं प्रति आत्मानमात्मीयं वा प्रति) द्योत्य होने पर होता है। 'नित्यवीप्सयोः' में आगत 'वीप्सा' (व्याप्ति) से कार्त्स्न्य की बोधकता की स्थिति में द्वित्व निश्चित किए जाने से उक्त प्रयोग में जहाँ 'यथास्वभाव' 'यथात्मीय' हो अर्थ है वहाँ द्वित्व नहीं हो सकता था, अतः नवीन प्रकृत सूत्र का निर्माण करना आवश्यक हुआ। यदि यहाँ नपुंसक विधान न होता तो अव्यय (यथा के) होने से अलिंगता ही रहती। ज्ञाता में 'तृन्' प्रत्यय है, और उसके योग में 'नलोकाव्यय०' षष्ठी का निषेध होने के कारण द्वितीया ही होती है। तृजन्तत्व पक्ष में 'यथायथस्य' ज्ञाता ही होता है।

द्वन्द्वं मन्त्रयते—'द्वन्द्वं रहस्यमर्यादावचनव्युत्क्रमणयज्ञपात्रप्रयोगाभिव्यक्तिषु': 'द्वि' शब्द को द्वित्व, पूर्व 'द्वि' को ('इ'मात्र को) 'अम्' भाव, उत्तर 'द्वि' के इकार को अकार एवं समुदाय को निपातनात् नपुंसकत्व होता है। 'द्वौ द्वौ' विग्रहस्थ विभक्तियों को कर्मधारयवद्भाव (प्राकरणिक) से लोप होता है। यह नैपातनिक प्रयोग सिद्धि—रहस्य, मर्यादा, वचन व्युत्क्रमण, यज्ञपात्र और अभिव्यक्ति समुदाय से द्योत्य होने पर ही होती है। उक्त प्रयोग में रहस्यार्थ की प्रतीति है। अन्यों के क्रमशः ये उदाहरण हैं:—आचतुरं होमे पशवो द्वन्द्वं मिथुनायन्ते (मर्यादा–स्थिति का अनतिक्रमण), द्वन्द्वं व्युत्क्रान्ताः—(व्युत्क्रमणं पृथगवस्थानम्), द्वन्द्वं यज्ञपात्राणि प्रयुनक्ति, द्वन्द्वं संकर्षणवासुदेवौ। सूत्रस्थ 'द्वद्वं' खण्ड का भाष्यानुसार पृथक् योग स्वीकार किए जाने से—द्वन्द्वं प्रवर्त्तते, (वीप्सा–द्वयोर्द्वयोर्युद्धं प्रवर्त्तते) और 'द्वन्द्वानि सहते' (शीतमुष्णमेकं, सुख-दुःखे चापरं क्षुत्तृष्णे च)—आदि प्रयोग भी सिद्ध होते हैं।

इति द्विरुक्त-प्रकरणम्

पूर्वार्धं परिपूर्णम्

अथ उत्तरार्द्धम्

निखिलविश्वसुपालनतत्परा, प्रणतदाससमुद्धरणाग्रहा।
गुणगृहाऽप्यगुणा गुरुवन्दिता दिशतु सा सततं स्वसदाशिषः॥

भवति, भवतः—तिङन्त प्रकरण के ये प्रथम २ प्रयोग हैं। वै० सिद्धान्त-कौमुदी की रचना श्रीभट्टोजिदीक्षित ने अवरोह क्रम-(अर्थात् वाक्यसाधुता प्रदर्शन के बाद पदों की साधुता दिखलाना) से की है। इस ग्रन्थ में संज्ञाओं का परिचय देने के बाद सन्धिप्रकरण द्वारा वाक्य (पदसमूह वा एक 'तिङ्') में होने वाले कार्य ('हरिश्शेते'–आदि) दिखाये गए हैं। उन वाक्यों में आए हुए सुबन्त पदों की साधुता का प्रदर्शन सुबन्तप्रकरण (षड्लिंग, कारक, समास, तद्धित आदि सभी) द्वारा करने के बाद उत्तरार्ध (सि० कौ० का) का प्रथम

'भ्वादिप्रकरण' इन्हीं प्रयोगों से आरम्भ किया है। अब आगे 'धातु
शब्दों से प्रत्यय आवेंगे।'धातु' संज्ञा 'भूवादयो धातवः' से होती है। प्रकृत प्र
सत्तार्थक 'भू' धातु है। धातुसंज्ञक 'भू' से 'वर्त्तमाने लट्' द्वारा 'लट्' ल
विधान होता है। गमनादि व्यापार के आरम्भ से परिसमाप्ति तक का
समूह–वर्त्तमान कहलाता है। 'प्रारब्धाऽऽपरिसमाप्तत्वं वर्त्तमानत्वम्'।
'गच्छति' कहने से उन सभी व्यापारों (अवान्तर) का बोध होता है, जो
रम्भ (उठना, जूता पहिनना, छड़ी उठाना, पैरों को चलाना आदि)
अग्रिम स्थान तक पहुँचने के पूर्व २ किया जाता है। वे सब वर्त्तमान
के हैं। इस प्रकार के वर्त्तमान काल का बोधक 'लट्' लकार है। यह बो
कुछ विद्वानों के मत से द्योतक (प्रकाशक) रूप से है। वर्त्तमान
ज्ञान क्रियासामान्यार्थक (व्यापारवाचक) धातु की काल विशिष्ट (
आदि) में लक्षणा करने से (वर्त्तमान कालिक व्यापार) ही धातु द्वारा
है तो काल का लकार वाचक नहीं हो सकता। धातु से लभ्य होने के
द्योतकता मात्र है। अपर विद्वान् जहाँ 'लट्' रहता है वहीं वर्त्तमान अ
होता है, जहाँ नहीं वहाँ बोध भी नहीं। इस अन्वय-व्यतिरेक के बलपर ल
काल (भूतादि) का वाचक स्वीकार करते हैं। 'भू-लट्' ऐसी स्थिति है
अनुबन्धों (अ, और ट्) की इत्संज्ञा होनेपर 'ल्' मात्र (उच्चारण साम
अवशिष्ट रहता है। यह 'ल्' 'लः कर्मणि च भावे चाकर्मकेभ्यः' से प्रदत्त
(सकर्मक से कर्म और कर्त्ता में, अकर्मक से भाव और कर्त्ता में लट्, लिट्
लृट्, लेट् लोट्, लङ्, लिङ्, लुङ्, और लृङ् लकार होते हैं) के अनुसार
अर्थ का बोधक है। इस शास्त्र में कर्म (संज्ञातिरिक्त) का परिचय फला
रूप में दिया गया है। फल और व्यापार ये दो धातु के अर्थ हैं,
व्यापाराश्रय को कर्त्ता और फलाश्रय को कर्म माना जाता है। इस प्र
कर्म वाले को सकर्मक, और जिसे न हो वह अकर्मक कहलाता है। विद्व
'व्यापारव्यधिकरणफलाश्रयत्वं सकर्मकत्वम्' और 'व्यापारसमानाधि
फलाश्रयत्वम्–अकर्मकत्वम्' स्वीकार किया है। 'लस्य' के अधिकार
स्थित 'तिपतस्झिसिपथस्थमिब्वस्मस्तातांझथासाथांध्वमिड्वहिमहिङ्' से

स्थान में 'तिप्' होता है। 'तिप्' के होने में अग्रलिखित सूत्र योग देते हैं। सर्वप्रथम 'लः परस्मैपदम्' से लादेश, तिबादिकों की परस्मैपद' संज्ञा (अपवाद स्थल को छोड़कर) होती है। पूर्व सूत्रको बाध कर (अपवाद होने से) 'त' से 'महिङ्' तक के प्रत्ययों की 'तङानात्मनेपदम्' से 'आत्मनेपद' संज्ञा होती है । इन संज्ञाओं का फल यह हुआ कि 'अनुदात्तङित आत्मनेपदम्' से अनुदात्तेत् और ङित् धातुओं से आत्मनेपद संज्ञक ही प्रत्यय हों और 'स्वरितञितः कर्त्रभिप्राये क्रियाफले' से स्वरितेत्' और ञित् धातुओं से कर्तृगामी क्रियाफल होने पर परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय हों, तथा उक्त व्यवस्था से अवशिष्ट धातुओं से 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्, से परस्मैपदसंज्ञक प्रत्यय हों ऐसी व्यवस्था सम्भव हो सकी। 'तिङस्त्रीणि त्रीणि प्रथममध्यमोत्तमाः' से प्रत्येक त्रिक (तिप्, तस्, झि—आदि) की क्रमशः प्रथम, मध्यम और उत्तम संज्ञा होती है 'तान्येकवचनद्विवचनबहुवचनान्येकशः' से प्रत्येक प्रथम' मध्यम में से एक-एक की क्रमशः एकवचन, द्विवचन और बहुवचन संज्ञा होती है। (जैसे तिप् की एकवचन और 'तस्' की द्विवचन)। इस उपरोक्त व्ययस्था के अनुसार 'तिप्' परस्मैपदसंज्ञक प्रथम पुरुष का एकवचन कहलाया। 'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः' से 'तिङ्' बोध्य कारक की जब 'युष्मद्' (त्वम्, युवां, यूयम्) से प्रतीति हो तब मध्यम संज्ञक (सिप् और थास्—आदि) प्रत्यय होते हैं। इसी प्रकार 'अस्मद्युत्तमः' से 'अस्मद्' (अहम्, आवां, वयम्) के बोधक (तिङ्वाच्य कारक के) होने पर उत्तमसंज्ञक (मिप्, इट्—आदि) प्रत्यय होते हैं। उक्त व्यवस्था में 'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च' से कुछ स्थलों के लिये संशोधन किया जाता है। वह यह कि, जिस अपर धातु के 'मन्य' ('मन्' ज्ञाने दि०) धातु निकट में (प्रयुक्त) हो, उससे ('मन्य' से अपर) मध्यम पुरुष और 'मन्' से उत्तम पुरुष का एकवचन ही प्रयुक्त होता है, वशर्ते कि प्रहास (मजाक) गम्यमान होता हो। उपरोक्त व्यवस्था (मध्यम, उत्तम के लिए निर्धारित) से अवशिष्ट स्थलों में 'शेषे प्रथमः' से प्रथम (तिप्, तस्—आदि) संज्ञक प्रत्यय होते हैं।

उपरोक्त सूत्रों से स्वीकृत व्यवस्थानुसार ही 'भू-ति' ('ल्' के स्थान में कर्त्ता

अर्थ में) ऐसी दशा में 'तिङ्शित्सार्वधातुकम्' से 'ति' की सार्वधातुक संज्ञा पर 'कर्तरि शप्' से कर्त्रर्थक 'ति' परे 'भू' से 'शप्' का (विकरण) विधान है। अनुबन्धों (श् और प्) की इत्संज्ञादि होनेपर उसको निमित्त मानकर (शित्सार्वधातुक होने से) 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण ('भू' को भो) होकर अवादेश (एचोऽयवायावः) होने से 'भवति' (प्रथम पुरुष के एकवचन में) प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार द्वित्व की विवक्षा में 'भवतः' सिद्ध होता है।

भवन्ति—पूर्ववत् 'भू' धातु से प्रथम पुरुष के बहुवचन में 'झि' आने पर 'झोऽन्तः' से प्रत्ययावयव 'झ्' के स्थान में अन्तादेश होता है। 'अ-न्ति' में 'अतो गुणे' से पररूप होता है। पररूप होने के बाद 'अन्ति' के अकार को निमित्त मानकर 'सार्वधातुकमपित्' से 'अन्ति' के 'ङित्' होने से यद्यपि गुण में बाधा आ सकती है तथापि 'अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से 'शप' के अकार का स्थानिवद्भाव होने से तन्निमित्तक गुण होने में कोई बाधा नहीं है।

भवामि—(भव मि) 'अतो-दीर्घो यञि' से यञादि सार्वधातुक परे अदन्त अङ्ग 'भव' को दीर्घ (भवा) होता है। इसी प्रकार—भवावः भवामः 'अत आत् यञि' सूत्राकार न करके कृत दीर्घग्रहण के फलस्वरूप 'ननु भो: ' आदि स्थलों में 'अनन्त्यस्यापि प्रश्नाख्यानयोः' से प्लुत नहीं होता है।

एहि मन्ये—ओदनं भोक्ष्यसे—इति भुक्तः सोऽतिथिभिः, एतं मन्ये ओदनं भोक्ष्येथे, एत मन्ये-ओदनं भोक्ष्यध्वे—'प्रहासे च मन्योपपदे मन्यतेरुत्तम एकवच्च' से वाक्य द्वारा हास्याभिव्यक्तिस्थल में 'मन्य' धातु के प्रयोग के समभिव्याहार स्थल में 'मन्य' धातु से उत्तम पुरुष का एकवचन (द्वित्व बहुत्व की विवक्षा में भी) और अन्य धातु (जो भी वाक्य में प्रयुक्त हो) से वचनानुसार मध्यम पुरुष विहित होने से उक्त प्रयोगों में क्रमशः मन्यसे, मन्येथे मन्यध्वे के स्थान पर उत्तमपुरुष का एकवचन (मन्ये) हुआ। और उसके सन्नियोग में भुज् 'भुज्' धातु से मध्यम पुरुष (एकत्वादि-विवक्षानुसार) हुआ। एहि, एतम्, एत 'इण्' धातु के 'लोट्' लकार मध्यम पुरुष १, २ और बहुवचन के रूप हैं। प्रहास न होता तो 'एहि मन्यसे ओदनं भोक्ष्ये' (मन्येथे, मन्यध्वे) (भोक्ष्यावहे भोक्ष्यामहे) प्रयोगाकार श्रुत होते। उक्त परिवर्तन की युष्मद (त्वम्—

के अर्थतः सन्निहित होनेपर ही होता है, अतः जहाँ 'भवान्' आदि का सान्निध्य है—जैसे 'एतु भवान् मन्यते ओदनं भोक्ष्ये—इति भुक्तः सोऽतिथिभिः' आदि स्थलों में सामान्य व्यवस्था ही प्रामाणिक मानी जाती है। इसी प्रकार जहाँ मजाक न होकर सत्य कथन हो वहाँ 'एहिमन्यसे ओदनं भोक्ष्ये—इति भुक्तः सोऽतिथिभिः' आदि स्थलों में भी सामान्य नियम लागू होता है।

लिट् लकार

बभूव, बभूवतुः, बभूवुः—धातुसंज्ञक 'भू' शब्द से 'परोक्षे लिट्' द्वारा भूतानद्यतनपरोक्ष (जो अपने जन्म से पूर्वका काल हो) द्योतक 'लिट्' लकार का विधान होनेपर, अनुबन्धमुक्त 'ल्' के स्थान में पुरुष-वचनानुसार 'तिप्, तस्' झि' आते हैं। 'लिट् च' से तिबादिकों की 'आर्धधातुक' संज्ञा होने से 'शप्' (अग्रिम गणों में 'श्यन्' वगैरह) आदि विकरण नहीं होते हैं। 'परस्मैपदानां णलतुसुस्थलथुसणल्वमाः' से क्रमशः 'तिप्, तस्, झि' के स्थान में 'णल्' अतुस् उस् आदेश होने के कारण 'भू' 'अ' ऐसी स्थिति हो गई। 'भुवो-वुग्लुङ्लिटोः' से 'भू' को 'वुक्' का आगम लुङ् लिट् सम्बन्धी अच् (अ) परे होता है।

यह वुगागम नित्य (कृताकृत प्रसङ्गी) होने से गुण और वृद्धि को (जो जहाँ प्राप्त हो) बाधकर होता है। 'भूव्-अ' स्थिति में 'लिटि धातोरनभ्यासस्य' जिसमें 'एकाचो द्वे प्रथमस्य' और 'अजादेर्द्वितीयस्य' का अधिकार आता है, जिसका-हलादि धातु के अनभ्यास प्रथम 'एकाच्' को और अजादि धातु के द्वितीय 'अच्' को 'लिट्' परे द्वित्व होता है अर्थ है, से 'भुव्' को द्वित्व (भूव् भूव्) हो गया। 'पूर्वोऽभ्यासः' से प्रथम 'भूव्' की 'अभ्यास' संज्ञा होने से 'हलादिशेषः' द्वारा अभ्यास के आदि हल् 'भ्' का शेष और अन्त्य 'हल्' व् का लोप होता है। 'ह्रस्वः' से 'भू' को ह्रस्व 'भु' होनेपर 'भवतेरः' से भ के ऊकार के स्थान में 'अ' होने से 'भ भूव् अ' स्थिति हो गई। 'अभ्यासे चर्च' से ('झलां जशः खरां चरः' की व्यवस्था के अनुसार) 'भ्' को ब् हो जाने से 'बभूव' प्रयोग निष्पन्न होता है। यहाँ 'असिद्धवदत्राभात्' (६।४।२२ से पादसमाप्ति तक

आभीय कहलाते है, समानाश्रय आभीय की कर्त्तव्यता में पूर्वके प्रति पर असिद्ध होता है।) से वुक् के असिद्ध होने से 'अचिश्नुधातु' द्वारा 'उवङ्' प्राप्त हुआ था जिसको 'वुग्युटावुवङ्यणोः सिद्धौ वक्तव्यौ' (वा०) द्वारा 'उवङ्' कर्तव्यता में वुक् सिद्ध हो' व्यवस्था किए जाने से होने का सौभाग्य प्राप्त नहीं हुआ। 'बभूव' की ही तरह 'बभूवतुः' और बभूवुः प्रयोग भी सिद्ध होते हैं। विशेषता केवल इतनी ही है कि, क्रमशः द्वित्व और 'बहुत्व' की विवक्षा होने से तस् और झि के स्थान में अतुस्, और उस् आदेश होते हैं।

बभूविथ—पूर्ववत् 'भू' धातुसे परोक्षानद्यतनभूतार्थबोधनस्थिति में 'लिट्' आनेपर 'ल्' के स्थान में मध्यमपुरुषैकवचन 'सिप्' और उसके स्थान में 'थल्' एवं द्वित्वाभ्यासकार्यादि होनेपर 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से वलाद्यार्धधातुक 'थल' को 'इट्' का आगम होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है।

बभूव, बभूविव, बभूविम—उत्तमपुरुष में क्रमशः 'मिप्, वस्, मस्' के स्थान में 'णल्, व, म' होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होते हैं। अन्तिम २ प्रयोगों में 'आर्धधातु०' से 'इट्' होता है।

लुट् लकार

भविता—भविष्य-अनद्यतन (अर्धरात्रि से उत्तरकाल) कालवृत्ति 'भू' धातु से 'अनद्यतने लुट्' से 'लुट्' लकार आनेपर अनुबन्धेत्संज्ञक 'ल्' के स्थान में 'तिप्' ('तिप्तस्झि···' द्वारा) और उसके परे रहते शपादिको अपवादत्वात् बाधकर 'स्यतासी लृलुटोः' (लृ से लृङ् और लृट् दोनों का ग्रहण होता है) से 'तास्' विकरण होता है। 'भू-तास्-ति' इस अवस्था में 'आर्धधातुकं शेषः' से 'तास्' को 'आर्धधातुक' संज्ञा होनेपर 'आर्धधातुकस्येडवलादे.' से 'इट्' होता है। 'भू-इ-तास्-ति'।' लुटः प्रथमस्य डारौरसः'से 'ति' के स्थान में 'डा' आदेश होनेपर 'डा' के डित होने से डित्व सामर्थ्य से विना भसंज्ञा के भी 'टेः' से टि (आस्मात्र) का लोप होता है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से ('भू') को गुण (भो) होनेपर अवादेश होने से 'भवित्-आ' स्थिति में 'पुगन्तलघूपधस्य' से आपरे 'भवित्' के इकार को गुण प्राप्त होता है, जिसका 'दीधीवेवीटाम्' से निषेध होता है। 'त्' का 'आ' से संयोग होनेपर 'भविता' प्रयोग निष्पन्न होता है।

भविता—प्रयोग-निष्पति के प्रसंग में आगत 'पुगन्तलघूपधस्य च' के अर्थ के बारे में ग्रन्थकार ने अग्रलिखित विचार किया है —'इक्' और 'अङ्ग' में से यदि 'इक्' को प्रधान (सार्वधातुकार्धधातुकाव्यवहितपूर्वस्यपुगन्तलधूपधाङ्गावयवस्येको गुणः स्यात्) बनाया जाय तो, सार्वधातुकार्धधातुक का साक्षात् (अव्यवहितपूर्वत्व सम्बन्ध से) 'इक्' में अन्वय होगा। 'अङ्ग' की प्रधानता में अङ्गान्वित ये होंगे। प्रथमपक्ष में 'इक्' का अव्यवहितपूर्व (पुक् और उपधा का व्यवधान होने से) मिलना कठिन है। २ तीय पक्ष में इष्ट स्थलों में गुण सिद्धि होनेपर भी 'भिनत्ति' में इ को गुण होने लगेगा और व्यधिकरणान्वय (सार्वधातुकार्धधातुकाव्यवहितपूर्वं यत्तादृशमङ्गं तदवयवस्येको गुणः स्यात्) करना पड़ता है। अतः उभयथा कठिनाई प्रतीत होनेपर प्रथम पक्ष को ही (सामानाधिकरणगर्भ) उचित (वाक्यभेदादि दोषरहित) माना है। असम्भव दोष की निवृत्ति के लिए 'येन नाऽव्यवधानं यो विधिरारभ्यते तेन व्यवहितेऽपि स्यात्' वचन का आश्रय लेना आवश्यक है। उक्त वचन में सूत्र की व्यर्थता ही प्रमाण है। यदि 'भेत्ता, छेत्ता' आदि स्थलों में एक वर्ण (द्) के व्यवधान में सूत्र-प्रवृत्ति न स्वीकार की जाय तो, प्रकृत सूत्र ही व्यर्थ हो जाय, अतः सूत्र की चरितार्थता के लिए उतना व्यवधान सहन करना होगा। इसी तरह अन्यत्र भी। यदि कहीं वर्णव्यवधान के सहन किए विना सूत्र चरितार्थ न होता हो, तो उसे सहन करना चाहिये। अत्र यदि 'भिनत्ति, छिनत्ति' आदि अधिक वर्ण-व्यवधान में आप सूत्र को प्रवृत्त करने लगेंगे तो सूत्रप्रवृति के लिए आवश्यक निरवकाशता का बल तो 'भेत्ता, छेत्ता' आदि में गुण-विधान द्वारा क्षीण हो चुका है, अतः एकवर्णा—(आवश्यक) धिक-व्यवधान-स्थल में गुण नहीं होगा। इन्हीं सब बातों को मूलकार ने येन नाऽव्यवधानम्' आदि पङ्क्ति से कहा है।

भवितारौ, भवितारः—पूर्वप्रक्रियानुसार 'भवितास्-रौ' और 'रस्' होने पर 'रि च'–जिसमें 'तासस्त्योर्लोपः' (अस्ति-वज) की अनुवृत्ति आती है—से 'स्' का लोप होता है। द्वितीय प्रयोग में रुत्व विसर्ग होते हैं। इस लकार के शेष प्रयोग अग्रलिखित हैं —भवितासि, भवितास्थः, भवितास्थ, भवितास्मि, भवि-

तास्वः, भवितास्मः । यहाँ प्रथम प्रयोग में 'तासस्त्योर्लोपः' से तासूघटक 'स्' का लोप होता है ।

लृट् लकार

भविष्यति—भूधातु से सामान्यभविष्यार्थबोधन की स्थिति में (क्रियार्थक क्रिया हो या न हो) 'लृट् शेषे च' से लृट् का विधान होता है। 'स्यतासी लृलुटोः' से 'स्य' विकरण होता है। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से 'इट्' । 'आदेश-प्रत्यययोः' से 'षत्व' होने पर 'भविष्यति' प्रयोग निष्पन्न होता है। इस लकार के शेष प्रयोग अग्रलिखित हैं—भविष्यतः, भविष्यन्ति, भविष्यसि, भविष्यथः, भविष्यथ, भविष्यामि, भविष्यावः, भविष्यामः ।

लोट् लकार

भवतु,—भूधातु से विधि (छोटों को आज्ञा देना), निमन्त्रण (भोजनादि के लिए प्रार्थना करना), आमन्त्रण (इच्छानुसार कार्य करने के लिए आदेश देना), अधीष्ट (सत्कार पूर्वक व्यापार), संप्रश्न (पूछना) और प्रार्थना अर्थों में 'लोट च' से लोट् लकार का विधान होता है । 'आशिषि लिङ् लोटौ 'से आशीर्वाद अर्थ में भी लोट् और लिङ् का विधान होता है। इन्हीं सब अर्थों में अग्रिम लिङ् लकार भी विहित होगा । पूर्ववत् तिबादि होने पर (लट् में जिस प्रकार 'भवति' बनता है, उसी तरह 'भवति' निष्पन्न होने पर) 'एरुः' से 'इ' (ति) को 'उ' (तु) होने से 'भवतु' प्रयोग निष्पन्न होता है।

भवतात्—पूर्ववत् 'भवतु' निष्पन्न होने पर आशीर्वाद अर्थ में 'तुह्योस्ता-तङ्ङाशिष्यन्यतरस्याम्, से 'तु' के स्थान में 'तातङ्' होता है । अन्तिम 'अ' और 'ङ्' की अनुबन्धित्वेन निवृत्ति होने से 'भवतात्' प्रयोग निष्पन्न होता है ।

यहाँ तातङादेश ङित् होने से 'तु' के उकार के स्थान में क्यों नहीं होता ? जब कि 'ङिच्च' सूत्र 'अनेकाल् शित्सर्वस्य' का अपवाद है । इस आशंका का उत्तर है कि, 'ङिच्च' अनन्यार्थ (जिन स्थलों में ङकार का अन्त्यादेश के अतिरिक्त कोई प्रयोजन नहीं) ङित्, अनङ् और अवङादि स्थलों में चरितार्थ होने से निरवकाशत्वमूलक अपवादपन से हाथ धो बैठा है, अब यदि गुण (इतात्)

वृद्धि (युतात्, रुतात् 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से) निषेध, सम्प्रसारण, (उष्टात् और छिन्तात् में) श्नमाकारलोपफलक ङित्, तातङ् के ङित् होने से प्रवृत्त तो अवश्य हुआ, पर निरवकाशत्वबलक नष्ट होने से परत्वात् 'अनेकाल् शित् सर्वस्य' के द्वारा बाधित होता है। इसी अभिप्राय को व्यक्त करने के लिए ग्रन्थकार ने यद्यपि 'ङिच्चेत्ययमपवादः'......आदि फक्किका लिखी है।

भवताम्—प्रथमपुरुष के द्विवचन में 'लोटो लङ्वत्' से लोट् को लङ्वत् (अतिदेश) होनेपर 'तस्थस्थमिपां तान्तन्तामः' से 'तस्' के स्थान में 'ताम्' आदेश होता है। यह 'ताम्' अनेकाल् है अतः समस्त 'तस्' के स्थान में होता है। व्याख्यानानुसार 'म्' की इत्संज्ञा नहीं होती है।

भवन्तु—'भवन्ति' निष्पन्न होनेपर 'एरुः' से उत्व होता है।

भव, भवतात्—मध्यमपुरुष एकवचन में 'भवसि' होने पर 'सेर्ह्यपिच्च' से 'सि' के स्थान में 'हि' (अपित्) होता है। हि के अपित् होने से 'प्रणुहि' आदि में गुण-निषेध, और 'जहि शत्रून्' आदि में उदात्त स्वर होता है। 'अतो हेः' से 'हि' का लुक् होता है। आशीर्वाद अर्थ में 'तुह्योस्तातङ्०' से 'तातङ्' होने से 'भवतात्' होता है। 'थस' और 'थ' के स्थान में क्रमशः 'तम्' और त ('तस्थस्थमिपां०' से) होने से 'भवतम्', भवत होते हैं।

भवानि - उत्तमपुरुष एकवचन में मेर्निः' से ('तस्थस्थ०' को बाधकर) मिप्' के 'मि' के स्थान में 'नि' आदेश होता है। 'आडुत्तमस्य पिच्च' से 'नि' को आडागम होता है यहाँ 'नि' के इकार को 'एरुः' से उत्व इसलिए नहीं होता है कि, उत्व होने से 'मेर्निः' में इकारोच्चारण व्यर्थ हो जाता। इसी तरह मध्यमपुरुष के एकवचन 'हि' को भी उत्व नहीं होता है। 'वस्' और 'मस्' के 'स्' का 'नित्यं ङितः' से लोप ('अलोऽन्त्यस्य' के सहयोग से) होने के कारण, और आडागम होने से 'भवाव, भवाम' प्रयोग होते हैं।

लङ् लकार

अभवत्—अनद्यतनभूतार्थवृत्ति 'भू' धातु से 'अनद्यतने लङ्' द्वारा लङ् आने पर (अनुबन्ध निवृत्ति) 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से'भू' को 'अट्' का आगम

होने के कारण 'अभवति' स्थिति (शब्रादि होने से) होती है। 'इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होता है। अभवत्। इस लकार के शेष प्रयोग —अभवताम्, अभवन्, ('इतश्च' से इलोप, 'सयोगान्तस्य' से तलोप, उसके असिद्ध होने से न् का लोपाभाव) अभवः, अभवतम्, अभवत, अभवम्, अभवाव, अभवाम।

लिङ् लकार

भवेत्—'विधिनिमन्त्रणामन्त्रणाधीष्टसंप्रश्नप्रार्थनेषु लिङ्' से विध्यादि अर्थों में 'भू' धातु से लिङ् होता है। अनुबन्धनिवृत्ति होने पर शप्, गुण, अवादेश होने से 'भवति' स्थिति होती है। 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' से 'ति' को 'यासुट्' का आगम होता है और उदात्त एवं ङित् (यासुट् को) समझने की आज्ञा प्राप्त होती है। लिङ् के स्थान में जायमान 'ति' को आगम रूप से होने वाले 'यासुट्' को 'स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ' सूत्र और 'पदागमास्तद्गुणी-भूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्ते' परिभाषा के रहते हुए ङिद्विधान की आवश्यकता इसलिए हुई कि, 'अनुबन्धकार्य में भी कहीं २ 'अनल्विधौ' से निषेध प्रवृत्त होता है, ज्ञापन, 'वक्ष्यमाणा' आदि में 'ङीप्' की निवृत्ति के लिए प्राप्त हो सके। अन्यथा 'प्रदाय, प्रधाय' आदि में 'घुमास्था०' से प्राप्त इत्व के निषेध के लिए कृत-'न ल्यपि' से 'अनुबन्ध कार्यों में 'अनल्विधौ' से निषेध प्रवृत्त नहीं होता है, ज्ञापित हो चुका है, जिसके कारण यहाँ 'ति' में ङित्व धर्म लाने में 'अनल्विधौ' बाधा दे ही नहीं सकता था, अतः स्वतः 'यासुट्' ङित् (स्थानिवद्भाव से) हो जाता। यद्यपि 'गाङ्कुटादि०' से 'ङित्' शब्द, और 'सार्वधातुकमपित्' से 'अपित्' शब्द को लेकर भाष्यकारने 'ङिच्च पिन्न, पिच्च ङिन्न', ऐसा व्याख्यान किया है, जिसके अनुसार 'ति'-जो पित् है वह स्थानिवद्भाव से ङित् नहीं होगा, तब उसके आगम 'यासुट्' को ङित् करने के लिए ङिद्विधान सार्थक है। अतः ज्ञापन असम्भव है। तथापि 'हलः श्नः शानज्झौ' में 'श्ना' के स्थान में होने वाले (जो कि स्वयं शित् है) 'शानच्' में शकार योग उक्त ज्ञापन में प्रमाण अवश्य है। 'भव-यास् ति' होनेपर 'सुट् तिथोः' से 'ति' के त् को सुट् का आगम होता है। यहाँ विशेष विहित 'सुट्' से सामान्य विहित 'यासुट्' का विषय भिन्न (लिङ् स्थानिक-

परस्मैपद को 'यासुट्', लिङ् सम्बन्धी तकार थकार को 'सुट्') होने से युगपत् (एक साथ) प्राप्ति नहीं है, अतः बाधित नहीं होता, अपितु दोनों ही होते हैं। 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से सकारद्वय (तकारावयव 'सुट्' का 'स्' भी 'अवयवावयव भी समुदायावयव होता है' सिद्धान्तानुसार, लिङ्सम्बन्धी सकार होता है) का लोप होता है। 'सुट्' के 'स्'का श्रवण आशीर्लिङ् में होता है। 'अतो येयः' से 'या' के स्थान में 'इय्' होता है। गुण और 'लोपो व्योर्वलि'से 'य्' का लोप, तथा 'इतश्च' से 'ति' के इकार का लोप होने से 'भवेत्' सिद्ध होता है। 'अतो येयः' में 'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' की अनुवृत्तिक्रम से यदि 'सार्वधातुके' का सम्बन्ध न होता तो, प्रकृत सूत्र की आर्धधातुक, सार्वधातुक सभी जगह प्रवृत्ति हो जाती। सार्वधातुक स्थल में 'अतो दीर्घो यञि' प्राप्त है, और आर्धधातुक स्थल में 'अतो लोपः' प्राप्त है अतः निरवकाश होकर 'अतो येयः मध्ये पठिता अपवादा अनन्तरान् विधीन् बाधन्ते नोत्तरान्' नियमानुसार, निकटस्थ 'अतो लोपः' का बाधक हो जाता और 'चिकीर्ष्यात्'–आदि स्थलों में 'इय्' होकर अनिष्ट प्रयोग होने लगता। इस प्रकार 'भवेत्' के स्थान पर 'भवायात्' होने लगता इन सब अव्यवस्थाओं से मुक्ति के लिए 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति आवश्यक है। प्रथमपुरुष के द्विवचन 'तस्' के स्थान में 'तस्थस्थ०' से 'ताम्' आदेश होने से 'भवेताम्' प्रयोग होता है।

भवेयुः—'भव-या-झि' स्थिति में 'झेर्जुस्' से 'झि' के स्थान में 'जुस्' होता है। 'चुटू' से 'ज्' की इत्संज्ञा और 'या' को 'इय्' (अतो येयः से) एवं 'स्' को रुत्व-विसर्ग होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। यहाँ 'पर' और 'नित्य' 'अतो येयः' को अन्तरङ्गत्वात् बाधकर 'उस्यपदान्तात्' से पररूप प्राप्त था, किन्तु 'अतो येयः' में 'यास्-इय्' ऐसा छेद (सौत्रत्वात् सन्धिः) मानकर 'स' लोप से पूर्व ही 'इय्' विधान स्वीकार किए जाने से पररूप की आपत्ति उदित ही नहीं होती है। इस लकार के शेष प्रयोग—'भवेः, भवेतम्, भवेत, भवेयम्, भवेव, भवेम' हैं।

आशीर्लिङ्

भूयात्—'आशिषि लिङ्लोटौ' से आशीर्वाद अर्थ में विहित 'लिङ्' के

स्थान में 'तिंप्' होनेपर 'लिङाशिषि' से 'ति' (आदि) की 'आर्धधातुक' संज्ञा होती है; जिसके कारण शबादि नहीं होते हैं। 'यासुट्' होनेपर 'किदाशिषि' से उसको किद्विधान होता है। 'भू-यास्-स्-त्' अवस्था में 'स्कोः संयोगाद्योः' से पदान्त संयोगादि होने से 'यासुट्' के 'स्' का और 'सुट्' के 'स्' का लोप होता है। 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त गुणका 'क्ङिति च' से निषेध होने से 'भूयात्' प्रयोग निष्पन्न होता है। इस लकार के शेष प्रयोग—'भूयास्ताम्, (झल्परे संयोगादि होने से केवल 'यासुट्' के 'स्' का लोप होता है) 'भूयासुः, भूयाः, भूयास्तम् , भूयास्त, भूयासम् , भूयास्व भूयास्म, होते हैं।

लुङ् लकार

अभूत्—भूतार्थवृत्ति 'भू' धातु से 'लुङ्' सूत्र से 'लुङ्' और 'तिप्तस्झि' से तिबादेश होनेपर 'लुङ्लङ्लृङ्क्ष्वडुदात्तः' से अडागम एवं 'ति' परे 'च्लि लुङि' से अपवादत्वात् शबादि को बाधकर 'च्लि' विकरण होता है, जिसके स्थान में 'च्लेः सिच्' से 'सिच्' आदेश होता है। इ और च् की इत्संज्ञा होनेपर 'गातिस्थाघुपाभूभ्यः सिचः परस्मैपदेषु' से 'सिच्' के 'स्' का लुक् होता है। सिज्लुक्-विधायक शास्त्र में इणादेश 'गा' और रक्षणार्थक 'पा' (जिसे 'पिब' आदेश होता है) गृहीत (व्याख्यान से) होता है। 'अभू-त्' ('इतश्च' से इलोप) स्थिति में प्राप्त गुण ('सार्व०' से) का 'भूसुवोस्तिङि' से निषेध होता है। 'सिच्' का लुक् हो जाने से 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' (विद्यमान 'सिच्' और 'अस्' धातु से परे अपृक्तहल् को ईडागम होता है।) से ईडागम की सम्भावना ही नहीं उठती है, अतः 'अभूत्' प्रयोग अपने रूप में निष्पन्न हो गया।

'अस्तिसिचोऽपृक्ते' में 'हलि' की अनुवृत्ति ('उतो वृद्धि०' से) के कारण 'ऐधिषि' में और सूत्र में 'अपृक्ते' ग्रहण के कारण 'ऐधिष्ट' में 'ईट्' नहीं होता है। प्रथमपुरुष के द्विवचनमें 'अभूताम्', (तस् को ताम्)।

अभूवन्—प्रथमपुरुष के बहुवचन में 'झि' को 'अन्ति', अडागम (समुदाय को) सिज्लुक् , 'इतश्च' से इलुक् , संयोगान्त लोप आदि—कार्य होते हैं। 'झि' के स्थान में 'जुस्' विधान करने के लिए 'सिजभ्यस्तविदिभ्यश्च' प्रवृत्त अवश्य होता

है, पर 'आतः' (सिज्लुक् होनेपर आदन्त से ही 'झि' को 'जुस्' होता है।) से निर्धारित होने के कारण अवरुद्ध हो जाता है। इस लकार के शेष प्रयोग— 'अभूः, अभूतम् , अभूत, अभूवम् , ('भुवो वुग्लुङ्लिटो.' से वुगागम) अभूव, अभूम' ('नित्यं ङितः' से 'स्' लोप) होते हैं।

मा भवान्-भूत्—'मा' (निषेधार्थक-अव्यय 'माङ्') के योग में 'माङि लुङ्' के द्वारा समस्त लकारों (काल विवक्षा के अनुसार प्राप्त) को बाधकर 'लुङ्' होता है। 'न माङ्योगे' से अडागम का निषेध होने से 'मा' के योग में 'भूत्' (अन्य कार्य पूर्ववत्) प्रयोग निष्पन्न होता है।

मास्म भवत्, भूद्वा—'स्मोत्तरे लङ् च' से 'माङिलुङ' को बाधकर 'लङ्' एवं 'लुङ्' का विधान (स्मोत्तर 'माङ्' के योग में) होता है। 'न माङ्योगे' से उभयत्र अडागम का निषेध।

अन्य वचनों में भी इसी प्रकार जानें। 'मा भवतु'–आदि प्रयोग निषेधार्थक ङकार रहित 'मा' अव्यय के योग में होते हैं।

लृङ् लकार

अभविष्यत्—'लिङनिमित्ते लृङ् क्रियातिपत्तौ' ('हेतुहेतुमतोर्लिङ्' से हेतुहेतुमद्भाव, लिङ् का निमित्त निर्धारित किया गया है, वही स्थिति यदि भविष्य काल के लिए हो और दोनों क्रियाओं का न होना निश्चित हो तो लृङ् लकार होता हैं) से लृङ् आनेपर तिबादि, 'स्यतासी लृलुटोः' से 'स्य'विकरण, इडागम, अडागम, ('लुङ्लङ्०' से) गुणावादेश और 'इतश्च' से इलोप होने से 'अभविष्यत्' ('आदेशप्रत्यययोः' से षत्व) प्रयोग निष्पन्न होता है। इस लकार के शेष प्रयोग— अभविष्यताम् , अभविष्यन् , अभविष्यः, अभविष्यतम् , अभविष्यत, अभविष्यम् , अभविष्याव, अभविष्याम, हैं। इनका प्रयोग वाक्य में) इस प्रकार करना चाहिये :—'सुवृष्टिश्चेदभविष्यत्तदा सुभिक्षोऽपि- अभविष्यत् ।' यहाँ सुवृष्टि का न होना ज्यौतिषादि से निश्चित है, अतः क्रियातिपत्ति की स्थिति है।

लकारों के निर्दिष्ट अर्थों के अतिरिक्त अग्रलिखित अर्थ भी शास्त्र सिद्ध हैं :—

लट् लकार

लिट् के विषय में ('स्मोत्तर' होनेपर)
अपरोक्ष भूत में " "
भूतमात्र में ('ननु' के योग में)
" " विकल्प से (न और 'नु' के योग में)
भूतानद्यतन में वै० ('पुरा' के योग में)
'यावत्' और 'पुरा' के योग में
भविष्यकाल के लिए ('कदा' और 'कर्हि' के योग में)
" " ('किम्' शब्द के योग में)
" " वै० ('ऊर्ध्वमौहूर्त्तिक' की स्थिति में)
भूत और भविष्यकाल में ('वर्तमान समीपता' की स्थिति में)
संभावना में (भविष्यकाल में)
'निन्दा' बोधन की स्थिति में। (सब लकारों के विषय में 'अपि' और 'जातु' के योग में)
वर्त्तमान के समीप काल में।
इच्छार्थक धातुओं से (लिङ् के विषय में)

लिट् लकार

लङ् के विषय में ('अतिगोपन' स्थिति में।)

लृट् लकार

'क्षिप्र' और उसके पर्याय वाचक शब्दों के योग में
(लुट् के विषय में)
'स्मृति' बोधक धातु के योग में
(अन्य धातु से लङ् के विषय में)
'किम्' शब्द के योग में (निन्दा-बोधकता में)

लिङ् के विषय में (किच्चित और अस्त्यर्थ के प्रयोग में)
,, ,, (यच्च, यत्रातिरिक्त शब्दप्रयोग और आश्चर्य की स्थिति में)

लोट् लकार

क्रिया-समभिहार और समुच्चय की द्योत्यता में।
(परस्मैपदी से 'हि मात्र'
आत्मनेपदी से 'स्व मात्र')
इच्छार्थक धातु के योग में (अन्य धातुओं से)
लिङ् के विषय में (मुहूर्त्त से अधिक काल-बोधन में)
'स्म' के प्रयोग में ('लिङ्' और 'कृत्य' प्रत्ययों को बाधकर)

लङ् लकार

लिट् के विषय में ('ह' और 'शश्वत्' के योग में)
,, ,, (आसन्न कालिक प्रश्न की स्थिति में)

लिङ् लकार

मुहूर्त से अधिक काल-द्योतन स्थिति में (लोडर्थलक्षणक धातु से)
'आशंसा' वाचक धातु के योग में (अन्य धातु से लृट् के विषय में)
'किम्' शब्द के योग में (,, ,,)
यच्च, यत्र, जातु, यदा, और यदि के योग में (,, ,,)
आश्चर्य बोधन स्थिति में (,, ,,)
समानार्थक 'उत' और 'अपि' के योग में
स्वाभिप्रायावेदन की स्थिति में (लट् के विषय में)
हेतुहेतुमद्भाव में
इच्छार्थक धातु के योग में (अन्य धातु से)
इच्छार्थक धातुओं से (लट् के विषय में)
शक्ति-द्योतन की स्थिति में

लुङ् लकार

अनद्यतनभूतकाल में ('पुरा' शब्द के योग में)

सम्भावना में (भविष्यत्काल के लिए)

लृङ् लकार

लिङ् के निमित्त में (क्रियातिपत्ति की दशा में)

(भूतकाल के लिए भी)

प्रभवाणि—'ते प्राग्धातोः' ('गति' और 'उपसर्ग' संज्ञक धतु से पूर्व ही प्रयुक्त होते हैं।) से उपसर्ग-सन्नियोग व्यवस्था नियत होती है। 'आनि लोट्' से णत्व होता है।

दुःस्थितिः, दुर्भवानि,—'दुरः षत्वणत्वयोरुपसर्गत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः' (वा०) से षत्व और णत्व की कर्तव्यता में 'दुर्' का उपसर्गत्व निषिद्ध किए जाने से प्रथम प्रयोग में 'उपसर्गात् सुनोति०' से प्राप्त षत्व, और द्वितीय में 'आनि लोट्' से प्राप्त णत्व नहीं होता है।

अन्तर्धा, अन्तर्धिः, अन्तर्भवानि,—'अन्तः शब्दस्याङ्किविधिणत्वेषूपसर्गत्वं वाच्यम्' (वा०) से 'अन्तर्' शब्द को उपसर्गत्व का प्रमाणपत्र प्राप्त हो जाने से प्रथम में 'आतश्चोपसर्गे से 'अङ्', द्वितीय में 'उपसर्गे घोः किः' से 'कि' प्रत्यय और तृतीय में 'आनि लोट्' से णत्व होता है।

प्रणिभवति, प्रनिभवति 'शेषे विभाषाऽकखादावषान्त उपदेशे' से 'नि' के 'न' को विकल्प से णत्व होता है। प्रकृत सूत्र में 'संहितायाम्' का अधिकार आता है, अतः संहिता की विवक्षा में णत्व और अविवक्षा में णत्वाभाव होने से रूपद्वय सम्भव था ही सूत्र में 'विभाषाग्रहण' व्यर्थ है ? इस आशंका के उत्तर में मूलकार ने बतलाया है कि—

> "संहितैकपदे नित्या, नित्या धातूपसर्गयोः।
> नित्या समासे वाक्ये तु, सा विवक्षामपेक्षते॥"

'प्रणिभवति' आदि स्थलों में एक ही पद है, अतः संहिता नित्य ही होगी। रूपद्वय-निर्माणार्थ 'विभाषा' ग्रहण सार्थक है।

धातुओं का अर्थ-निर्देश उपलक्षणमात्र (निर्दिष्ट अर्थों से अतिरिक्त अर्थ भी दृष्ट होने से) है। 'यागात्स्वर्गो भवति'—आदि स्थलों में 'भवति' का 'उत्पद्यते' अर्थ सर्वसिद्ध है। 'प्रभवति, पराभवति, संभवति; अनुभवति, अभिभवति, उद्भवति परिभवति' आदि में विभिन्न अर्थ देखे जाने से 'धातु' ही विभिन्नार्थक (अनेकार्था हि धातवः) हैं। उपसर्ग अर्थविशेष के द्योतकमात्र होते हैं। इसी आशय का यह श्लोक भी है—

"उपसर्गेण धात्वर्थो बलादन्यः प्रतीयते।
प्रहाराहारसंहारविहारपरिहारवत् ॥"

एधते—वृद्ध्यर्थक 'एध' (अनुदात्तेत् होने से आत्मनेपदी) धातु से वर्तमानार्थक 'लट्' (पुरुषवचनानुसार 'त') आनेपर शब्विकरण और 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से 'एत्व' होने पर उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

एधेते—'एध-आताम्' (प्रथमपुरुष,'द्विवचन' में) स्थिति में 'सार्वधातुकमपित्' से 'आताम्' को ङिद्वद्भाव होने से 'आतो ङितः' के द्वारा 'आताम्' के आकार को 'इय्' होता है। 'य्' लोप और गुण होने से तथा 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से 'आम्' भाग को 'एत्व' होने पर प्रयोग सिद्ध होता है। बहुवचन में—एधन्ते।

एधसे— एध-थास' (म० पु० १ वचन में) अवस्था में 'थासः से' से 'थास्' के स्थान में 'से' आदेश होता है। 'से' तथा 'एश्' में (लिटस्त-झयोरेशिरेच्) एकारोच्चारण-सामर्थ्यात् 'तङ्' स्थानिकों की टि को एत्व नहीं होता है। अतः 'एधिता'—आदि में एत्व प्रवृत नहीं होता है। इस लकार में अन्य प्रयोग—'एधेथे' एधध्वे, एधे (अतो गुणे) 'एधावहे, एधामहे।

एधांचक्रे—'एध' धातु से परोक्षानद्यतनभूतकालबोधनेच्छा होने पर 'लिट्' आता है। उसके परे रहते 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' से 'आम्' (एध् से) होता है। 'आम्' के मकार की 'हलन्त्यम्' से इत्संज्ञा इसलिए नहीं होती है कि, 'दयायासश्च' से 'आस्'धातु को और 'कासप्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' से 'कास्' धातु को 'आम्' प्रत्यय विहित होता है। जो 'आम्' के 'मित्'होने से 'मिदचोऽन्त्यात्परः' द्वारा 'कास् और 'आस्' के आकार से परे ही आवेगा और सवर्ण दीर्घ होने से धातु के स्वरूप के अवगत न होने से व्यर्थ हो जायगा। 'आम्' को अदन्त

इसलिए नहीं माना जा सकता कि 'आमः' और 'आममन्त्रे' में क्रमशः उत्सृष्टानुबन्ध निर्देश और शकन्ध्वादित्वात् पररूप की कल्पना व्यर्थ ही करनी होगी। 'एधाम्' से परे 'लिट्' का 'आमः' से लुक् होता है। 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से लिट् परक 'कृ' का अनुप्रयोग होता है। प्रकृतसूत्र द्वारा 'कृ' के अतिरिक्त 'भू' और अस् का भी अनुप्रयोग होता है, जिसमें प्रमाण—'आम्प्रत्ययवत्कृञोऽनुप्रयोगस्य, में 'कृञ्' का अनुप्रयोगस्य' विशेषण प्रदान करना है। केवल 'कृ' का ही यदि अनुप्रयोग होता तो, व्यावर्त्याभाव से विशेषण सर्वथा व्यर्थ हो जाता। 'कृभ्वस्तियोगे सम्पद्यकर्त्तरि च्विः' के 'कृ' से 'कृञो' द्वितीयतृतीयशम्बबीजात्कृषौ ५।४।५८ के 'ञ्' तक 'कृञ्' प्रत्याहार स्वीकार किए जाने से 'कृ' के अतिरिक्त 'भू' और अस् का भी अनुप्रयोग होता है। अन्य किसी धातु का नहीं, यह बात ज्ञात होती है। यद्यपि उक्त प्रत्याहार में 'सम्' पूर्वक 'पदि' (पद धातु) भी आता है, पर उसके (सम्पद) के अर्थ के साथ आमन्त के अर्थ का सामानाधिकरण्य (जिस प्रकार 'कृ, भू, अस्' के साथ सामान्यविशेषभाव होता है) सम्भव नहीं, अतः प्रत्याहारान्तर्गत होने पर भी, अनुप्रयोग नहीं होता है। 'एधाम्-कृ-लिट्' होने पर 'कृ' के उभयपदी होने से परगामिक्रियाफल की स्थिति में प्राप्त परस्मैपद का 'आम्प्रत्ययवत् कृञोऽनुप्रयोगस्य' से नियन्त्रण होने के कारण आत्मनेपद (जो 'आम्' की प्रकृति 'एध्' से प्राप्त है) ही होता है। प्रकृत सूत्र में 'पूर्ववत्' की अनुवृत्ति और उसका वाक्यभेद से सम्बन्ध होने के कारण 'इन्दाञ्चकार' में 'आम्' की प्रकृति 'दि (परमैश्वर्ये)' से (जो कि नित्य परस्मैपदी है) कर्तृगक्रियाफल की स्थिति में भी परस्मैपद ही होता है। 'एधाम्-कृ त' स्थिति में 'लिटस्तझयोरेशिरेच्' से 'त' के स्थान में एशादेश होता है। सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से प्राप्त 'कृ' को गुण 'असंयोगाल्लिट् कित्' से लिट् (ए) के कित् किए जाने से 'क्ङिति च' से निषिद्ध हो जाता है। द्वित्व को परत्वात् बाधकर 'इको यणचि' से 'ऋ' को 'यण्' प्राप्त होता है, जिसका 'द्विर्वचनेऽचि' (द्वित्वनिमित्त अच् परे द्वित्व की कर्तव्यता में अच् के स्थान में आदेश नहीं होता है।) से अवरोध होता है। 'पुनः प्रसंगविज्ञान' के आधार पर द्वित्व होने पर प्रथम अभ्याससंज्ञक 'कृ' के 'ऋ' के स्थान में 'उरत्' से 'अ' (रपर) होता है। 'हलादि शेष' से 'र' का लोप और

'कुहोश्चुः' से अभ्यास ककार को चकार होनेपर 'एधाम् चकृ ए' स्थिति में 'कृ'को 'क्र' होता है। 'म्' को अनुस्वार और परसवर्ण (विकल्प से) होने पर 'एधाञ्चक्रे' और 'एधांचक्रे' प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'अनचि च' से 'ञ' अनुस्वार और 'क' को द्वित्व, (विकल्प से) तथा 'अणोऽप्रगृह्यस्य०' से 'ए' को अनुनासिक विकल्प से होने के कारण १६ प्रयोग होते हैं।

प्रत्यये किं वव्रश्च – 'उरत्' सूत्र में अङ्गाधिकार के कारण प्रत्ययाक्षेप का फल यह हुआ कि,अ विधान परनिमित्तक होता है और उसके परनिमित्तिक होनेसे 'वव्रश्च'–(जिसकी सिद्धि 'ओव्रश्चू छेदने' से 'लिट् , त, णल् ,द्वित्व, सम्प्रसारण, (अभ्यासघटक 'र' को 'ऋ') अत्व ('उरत्' से रपर) और अन्यान्य अभ्यास कार्य होने से होती है ।)में 'नसम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' से अभ्यास के वकार को सम्प्रसारण इसलिए निषिद्ध हो सका कि, उससे परे 'अ' को स्थानिवद्भाव द्वारा ('अचः परस्मिन् पूर्वविधौ' से 'उरत्' द्वारा विहित 'अत्व' पर निमित्तक होने से) सम्प्रसारण (ऋ) समझ लिया जाता है। यदि 'उरत्' में 'अङ्गस्य' के अधिकार के फलस्वरूप प्रत्यय का आक्षेप ('यस्मात्प्रत्ययविधिः' से प्रत्यय परे ही अङ्गसंज्ञा होती है ।) न होता तो 'उरत्' सें विहित 'अत्व' परनिमित्तक न कहलाता और 'वव्रश्च' में प्रथम वकार को सम्प्रसारण करने में (तदुत्तर अकार में 'ऋ' बुद्धि न होने से) 'न सम्प्रसारणे०' अवरोधक नहीं हो पाता और सम्प्रसारण होकर अनिष्ट प्रयोग हो जाता । अतः आक्षेप (प्रत्यये) आवश्यक है। एधांचक्राते। एधांचक्रिरे । 'झ' को 'इरेच्' ।

एधांचकृषे—लिट् लकार के मध्यमपुरुष, एकवचन में 'एधाम्-चकृ-से' ('थासःसे' से होता है) स्थिति में 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से 'इट्' प्राप्त होता है, जिसका 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्, से निषेध होता है। इण्निषेधक सूत्रमें 'एकाच्'ग्रहण के कारण इण्निषेध यङ्लुङन्त स्थल में (वेभेदिता—आदि में) प्रवृत्त नहीं होता है । इसी आशय का एक प्राचीन श्लोक भी है :—

'श्तिपाशपाऽनुबन्धेन निर्दिष्टं यद्गणेन च।
यत्रैकाज्ग्रहणं चैव पञ्चैतानि न यङ्लुकि ॥"

कारिका निर्दिष्ट ५ कार्यों के यङ्लुङन्त स्थल में वर्जित होने से 'प्रत्यजङ्-

घंनीत्, में णत्वाभाव ('नेर्गद०' से प्राप्त) 'बर्भरिषति' (यङ्लुङन्त से सन्) में इड्विकल्पाभाव ('सनीवन्तर्ध' से प्राप्त) 'शेशीतः, देदीतः' और 'पास्पर्धीति' में क्रमशः गुणाभाव ('शीङः सार्वधातुके' से प्राप्त), युडभाव ('दीङो युडचि' से प्राप्त) और आत्मनेपदाभाव (अनुदात्तङितः से प्राप्त), 'वेभिदीति' में श्नमभाव (रुधादित्वात्प्राप्त) और 'वेमेदिता, चेच्छेदिता' में इडभाव सिद्ध होता है। उक्त कारिका प्रकृत सूत्र में 'एकाच्' ग्रहण से प्रमाणित है। 'अवधीत्' में 'हन्' स्थानिक 'वध' के उपदेशावस्था में अनेकाच् होने से इण्निषेध नहीं होता है। प्रकृत सूत्र में 'अच्' के साथ 'एक' शब्द के योग से औपदेशिक 'एकाच्' ही गृहीत होता है। एधांचक्राथे।

एधांचकृढ्वे—एधांचकृध्वे इस स्थिति में 'इणः षीध्वं लुङ्लिटां धोऽङ्गात्' से मूर्धन्य (ध् को ढ्) होता है। अन्य प्रयोग—एधांचक्रे, एधांचकृवहे, एधांचकृमहे।

एधांबभूव—'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' से 'भू' का अनुप्रयोग होता है।

एधामास—'कृञ्चानु०' से 'अस्' का अनुप्रयोग होता है, जिसके स्थान में अस्तेर्भूः' से 'भू' आदेश इसलिए नहीं होता है कि, 'भू' भाव होने से 'अस्' का अनुप्रयोग ही व्यर्थ हो जाता। यदि 'भू'भाव सूत्रकार को इष्ट होता तो, वे 'कृश् चानुप्रयुज्यते' अथवा 'कृभूचानुप्रयुज्यते' ही पढ़ते। 'अस्' को द्वित्व (अ-अस्) होने पर 'अत आदेः' से अभ्यास के अकार को दीर्घ (आ) पररूप को बाधकर होता है। 'एधामासतुः'—आदि।

एधिता—लुट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'त, इट्, डा आदि होने से प्रयोग सिद्ध होता है। अन्य प्रयोगः—एधितारौ, एधितारः, एधितासे, एधितासाथे, एधिताध्वे ('धि च' से 'स्' लोप), एधिताहे ('ह एति' से 'तास्' के 'स्' को 'ह्'), एधितास्वहे, एधितास्महे होते हैं।

एधिष्यते—लृट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में त, स्य, इट्, एत्व, और मूर्धन्यादि होने से प्रयोग सिद्ध होता है। इस लकार के अन्य प्रयोगः—एधिष्येते, एधिष्यन्ते, एधिष्यसे, एधिष्येथे, एधिष्यध्वे, एधिष्ये, एधिष्यावहे, और एधिष्यामहे होते हैं।

एधताम्—लोट् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'एधते' होने पर 'आमेतः' से 'ए' के स्थान में 'आम्' होता है। इस लकार के अन्य प्रयोगः—एधेताम्, एधन्ताम्, एधस्व—(सवाभ्यां वामौ' से 'ए' के स्थान में 'अ' होता है) एधेथाम्, एधध्वम्, एधै—'एत ऐ' से 'ए' के स्थान में 'ऐ' आदेश होता है) एधाव है, एधाम है-(दोनों में 'एत ऐ' से ऐ-आदेश) होते हैं।)

ऐधत—लङ् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'आडजादीनाम्' से 'अट्' को बाधकर 'आट्' होने से 'आ-एध्-अ-त' स्थिति में 'आटश्च' से वृद्धि (आ-और ए को) होती है। इस लकार के अन्य प्रयोगः—ऐधेताम्, ऐधन्त, ऐधथाः, एधेथाम्, ऐधध्वम्, ऐधे, ऐधावहि, ऐधामहि।

एधेत—लिङ् (आशीर्वादातिरिक्तार्थक) लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'एध-त' स्थिति में 'लिङः सीयुट्' से सीयुडागम ('त' को) होता है। अनुबन्ध-लोप होने पर 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से 'स्' का लोप होता है। गुण, और 'य्' लोप (लोपो व्योः० ' से) होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। एधेयाताम्।

एधेरन्—'झस्य रन्' से 'झ' को रनादेश होता है। 'लोपो व्योर्वलि' से 'य्' लोप। एधेथाः, एधेयाथाम्, एधेध्वम्।

एधेय—'इटोऽत्' से उत्तमपुरुष एकवचन 'इ' के स्थान में 'अ' होता है। एधेवहि, एधेमहि।

एधिषिष्ट—आशीर्लिङ् के प्रथमपुरुष एकवचन में 'त' की 'लिङाशिषि' से 'आर्धधातुक' संज्ञा होने के कारण, 'लिङः सलोपोऽनन्त्यस्य' से 'सीयुट्' एवं 'सुट्' ('सुट् तिथोः' से विहित) के 'स्' का लोप नहीं होता है। दोनों ही के सकार का प्रत्ययावयवत्वेन ग्रहण होता है, अतः 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होता है। इस लकार के अन्य प्रयोगः—एधिषीयास्ताम्, एधिषीरन्. एधिषीष्ठाः, एधि-षीयास्थाम, एधिषीध्वम्, एधिषीय, एधिषीवहि, एधिषीमहि।

ऐधिष्ट—लुङ् लकार के प्रथमपुरुष एकवचन में 'आट्, इट्' सिच्, के 'स्' को मूर्धन्य, वृद्धि (आ-ए को)—आदि कार्य होने से 'ऐधिष्ट' प्रयोग निष्पन्न होता है। ऐधिषाताम्।

ऐधिषत—'आत्मनेपदेष्वनतः' से 'झ' के स्थान में 'अत्' आदेश होता है। मूर्धन्य, ('सिच्' के 'स्' को) व्यञ्जन-संयोग—आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। इस लकार के अन्य प्रयोगः—ऐधिष्ठाः, ऐधिषाथाम्।

ऐधिढ्वम्—'इणः षीध्वंलुङ्लिटां धोऽङ्गात्' से 'ध्' को 'ढ' होता हैं। 'इणः षीध्वं०' से उत्तर सूत्र 'विभाषेटः' में अनुवृत्त 'इण्' शब्द के द्वारा इट्-भिन्न 'इण्' का ग्रहण, (गोबलीवर्दन्याय से) होता है, अतः 'इणः षीध्वं०' में 'इट्' भिन्न ही 'इण्' लिया जाना चाहिये, इस मत के अनुसार ढत्व न होने के कारण 'ऐधिध्वम्' प्रयोग होता है। ढ, ध्, ('अनचि च' से) व्, ('यणोमयः०' से) और म्, ('अनचि च' से) के द्वित्व विकल्प के कारण, १६ प्रयोग होते हैं। ('इट् भिन्न ही 'इण्' लिया जाता है) यह मत भाष्य सम्मत नहीं है। ऐधिषि, ऐधिष्वहि और ऐधिष्महि, होते हैं।

ऐधिष्यत—लृङ्कार प्रथमपुरुष एकवचन में 'त' 'ष्य' इट् और षत्व होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। इस लकार के अन्य प्रयोग :—ऐधिष्येताम्, ऐधिष्यन्त, ऐधिष्यथाः, ऐधिष्येथाम्, ऐधिष्यध्वम्, ऐधिष्ये, ऐधिष्यावहि और ऐधिष्यामहि होते हैं। सर्वत्र 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से 'इट्' होता है।

अनुदात्त धातु—जिनसे वलाद्यार्धधातुक परे 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से 'इट्' का निषेध होता है निम्नांकित हैं—

दीर्घ ऊकारान्त, दीर्घ ॠकारान्त, यु, रु, क्ष्णु, शी, स्नु, नु, क्षु, श्वि, डी, श्रि, वृङ्, और वृञ् से अतिरिक्त सभी एकाच्, अजन्तों में अनुदात्त (अनिड्) हैं। कान्तों में 'शक्लृ' १, चान्तों में पच्, मुच्, रिच्, वच्, विच्, और सिच् ६,—यहाँ 'पच्' से पाकार्थक् 'डुपचष्' और व्यक्तीकरणार्थक पचि, दोनों ही संगृहीत होते हैं। छान्तों में प्रच्छ' १ जान्तों में त्यज्, निजिर्, भज्, भञ्ज, भुज्, भ्रस्ज्, मस्ज्, यज्, युज्, रुज्, अञ्ज्, विजिर्, सञ्ज्, और सृज् १५, दान्तों में अद्, क्षुद्, खिद्, छिद्, तुद्, नद्, पद्, विद्य, विनद्, शद्, सद्, स्विद्य, स्कन्द और हद् १५, धान्तों में क्रुध्, बुध्, बध्य, बन्ध्, युध्, रुध्, राध्, व्यध्, क्षुध्, साध्, और सिध्य ११, नान्तों में, मन्य हन्, २ पान्तों में, आप्, क्षिप्, क्षुप्, तप्, तिप्, तृप्य, दृप्य,

क्षिप्, लुप्, वप्, शप्, स्वप् और सृप् १३, भान्तों में—यभ्, रभ् और लभ् ३, मान्तों में—गम्, नम्, यम् और रम् ४, शान्तों में—क्रुश्, दंश्, दिश्, दृश्, मृश्, रिश्, रुश्, लिश्, विश् और स्पृश् १०, षान्तों में—कृष्, त्विष्, तुष्, द्विष्, दुष्, पुष्य, पिष्, विष्, शिष्, शुष् और श्लिष्य ११, सान्तों में—घस्लृ और वसति २, हान्तों में—दह्, दिह्, दुह्, निह्, नह्, रुह्, लिह्, और वह् ८, हलन्तों में उपरोक्त १०२ धातु अनुदात्त (अनिट्) हैं। यहाँ 'श्यन्' निर्देश, (श्लिष्य आदि) शब्विशिष्ट निर्देश (वसति) और शब्लुक् निर्देश अन्य गणों में आए तत्समानाकार धातुओं की निवृत्ति के लिए है। अनुबन्ध निर्देश (शक्लृ—आदि में) भी इसी उद्देश्य से किया गया है। लाभार्थक 'विद्लृ' धातु, चान्द्र, दौर्गादि और भाष्यमत से अनुदात्त (अनिट्) स्वीकार किया गया है। 'व्याघ्रभूत्यादि' आचार्य इससे सहमत नहीं हैं। रञ्ज्, मस्ज्, अद्, पद्, तुद्, क्षुध्, शुष, पुष्, और शिष्—धातुओं का उल्लेख भाष्यसम्मत न होते हुए भी 'व्याघ्रभूति' आचार्य के मतानुसार किया गया है।

पस्पर्धे—संघर्ष (दूसरे को पराजित करने की भावना) अर्थवाले 'स्पर्ध्' (अनुदात्तेत्) धातु से लिट्लकार प्रथमपुरुषके एकवचन में त, द्वित्व (स्पर्ध्, स्पर्ध्) एश् (त के स्थानमें) आदिकार्य होते हैं। 'शर्पूर्वाः खयः' से 'हलादिः शेषः' द्वारा प्राप्त आदि-सकारातिरिक्त अन्य अभ्यासघटक हल् वर्णों के लोपसम्बन्धिनी व्यवस्था को बाधकर शरपूर्वक 'खय्' (पकार) के शेष रहने की, तथा तदतिरिक्त अन्य हलों के लोप होने की व्यवस्था स्वीकृत होने से 'पस्पर्धे' प्रयोग सिद्ध होता है। 'स्पर्ध्' धातु के वर्त्तमान (लट् लकार) में 'स्पर्धते'—आदि प्रयोग होते हैं।

उक्त धातु के अन्य लकारों के आदि-प्रयोग :—'स्पर्धिता, स्पर्धिष्यते, स्पर्धताम्, अस्पर्धत, स्पर्धेत (विधिलिङ्), स्पर्धिषीष्ट (आशीर्लिङ्), अस्पर्धिष्ट और अस्पर्धिष्यत' होते हैं।

नाथते 'आशिषि नाथ इति वाच्यम्' (वा०) से आशीर्वाद अर्थ में ही 'नाथ्' (याञ्चा, उपताप, ऐश्वर्य और आशीर्वादार्थक) धातु से आत्मनेपद होने

के कारण आशीर्वाद अर्थ में 'नाथते' और तदतिरिक्त अर्थ में 'नाथति' होता है।

द्देधे—धारणार्थक 'दध्' धातु से लिट्लकार प्रथमपुरुषके एकवचन में 'अत एकहल्मध्येऽनादेशादेर्लिटि' से (द-दध्-ए की स्थिति में) अभ्यासलोप एवं दकार के अकार को एत्व होने के कारण 'देधे' प्रयोग सिद्ध होता है। यहाँ आदेश पद से वही आदेश गृहीत होता है, जो विरूपता सम्पादक हो। यथा—चकणतुः। अतः अभ्यासकार्य के अनुसार जश्त्वादि आदेश पद से गृहीत नहीं होते हैं। इसमें प्रमाण 'न शसददवादिगुणानाम्' ६।४।१२६ से एत्वाभ्यास लोप का विधान करना है। (अभ्यास कार्य सम्बन्धी आदेश गृहीत होने से शस, और दद में प्राप्ति ही नहीं होती) 'अत एकहल्मध्ये०' में 'अतः' ग्रहणके फलस्वरूप 'दिदिवतुः' में, तपरकरण के ('अतः' में) फलस्वरूप, 'रासे' में, 'एकहल्मध्ये' ग्रहण के फलस्वरूप 'तत्सरतुः' में और 'अनादेशादेः' ग्रहणके फलस्वरूप 'चकणतुः' में एत्वाभ्यासलोप नहीं होता है। आदेश भी लिट्निमित्तक वर्जित किया गया है, अतः 'नेमिथ' ('णोनः' नत्व) विरूपतापादक आदेश होने पर भी एत्वाभ्यासलोप (थलि च सेटि' से) होता ही है।

स्कुन्दते—उत्प्लवन वा उद्धरणार्थक 'स्कुद्' (इदित्) से लट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन में 'इदितो नुम् धातोः' से 'नुम्' (स्कु से परे) होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। यह 'नुम्' सर्वत्र होने से धातु के अन्य लकारों के प्रथम २ प्रयोगः—चुस्कुन्दे, स्कुन्दिता, स्कुन्दिष्यते, स्कुन्दताम्, अस्कुन्दत, स्कुन्देत, स्कुन्दिषीष्ट, अस्कुन्दिष्ट, और अस्कुन्दिष्यत होते हैं।

ददृदे—दानार्थक 'दद्' धातु से लिट्लकार प्रथमपुरुष एकवचन में 'अत एकहल्मध्ये' से प्राप्त एत्वाभ्यास लोप का 'न शसददवादिगुणानाम्' से निषेध होने के कारण उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

अनुस्वदते—आस्वादनार्थक 'ष्वद्' धातु के आदि मूर्धन्य 'ष' को 'धात्वादेः षः सः' से दन्त्यसकार होता है। लट्, त, शबादि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

ऊर्दते—मान और क्रीड़ार्थक (आत्मनेपदी) 'उर्द' धातु से लट्, त, शबादि

होने से 'उर्दते' होता है। 'उपधायां च' से दीर्घ होने के कारण 'ऊर्दते' होता है। लिट्लकार में दीर्घोपध होने से 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' से 'आम्' होने के कारण 'ऊर्दांचक्रे' होता है।

आतीत्—'एध' से आरब्ध ३६ आत्मनेपदी धातुओं के कथनानन्तर, २८ तवर्गीयान्त परस्मैपदी धातुओं के कथनप्रसंग में आगत निरंतरगमनार्थक 'अत्' धातु से ('अतति'-लट्, 'आत' लिट्) लुङ्लकार प्रथमपुरुष एकवचन में ति, सिच्, (च्लि के स्थान में) इट् (सिच् के स् को), ईट् ('इतश्च' से इलोप होनेपर ति के त् को), आडागम आदि होने पर 'इट ईटि' से दोनों इटों के बीच में आगत 'सिच्' के 'स्' का लोप होता है। दोनों इकारों के स्थान में सवर्णदीर्घ करने में प्राप्त सलोपासिद्धत्व 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' (वा०) से निषिद्ध होने से निष्कंटक सवर्णदीर्घ होता है।

मा भवानतीत्—'न माङ्योगे' से आडागम का निषेध होता है। 'वदव्रज-हलन्तस्याचः' से प्राप्त वृद्धि का 'नेटि' से निषेध होने के कारण उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। शेषकार्य पूर्ववत्। अतिष्टाम्, अतिषुः—आदि।

अच्युतत्, अच्योतीत्—आर्द्रीकरणार्थक 'च्युतिर्' धातु से लुङ्. ति, अडागम, (धातु को) च्लि आदि कार्य यथावसर होते हैं। 'इर इत्संज्ञा वाच्या' (वा०) से उपदेशावस्था में ही धातुघटक 'इर्' भाग की 'इत्संज्ञा' (लोप) होने से 'इरितो वा' से 'च्लि' के स्थान में अङादेश विकल्प से होता है। अङादेश पक्ष में ङित्वात् गुणाभाव, 'अच्युतत्' और अभावपक्ष में 'च्लि' को सिच्, दोनों इट्, (ईट्) सलोप, दीर्घ और गुण ('च्युत' को) होने से 'अच्योतीत्' प्रयोग सिद्ध होता है।

निषेधति—गत्यर्थक षोपदेश निपूर्वक होने से निषेधार्थक 'षिध्' ('धात्वादेः षः सः' से सादेश) धातु से लट्, तिप्, शप् और गुण ('पुगन्त०' से) आदि होने पर 'उपसर्गात्सुनोतिसुवतिस्यतिस्तौतिस्तोभतिस्थासेनयसेधसिच-सञ्जस्वञ्जाम्' से धातु के दन्त्य 'स्' को मूर्धन्य (ष्) होता है। इस अवसर पर कथित अन्य षत्वविधायक शास्त्र—'सदिरप्रतेः'. ('प्रति'भिन्न उपसर्ग से परे 'सद्' के 'स्' को 'ष्' होता है।) 'स्तन्भेः' (सौत्र 'स्तन्भ' धातु के 'स्' को 'ष्'

होता है) योगविभाग, 'अवाच्चालम्बना०' में 'स्तन्भ' का ही सन्बन्ध होने के लिए, और 'व्राहुप्रतिष्टम्भविवृद्धमन्युः' में 'प्रति'के योग में भी षत्व विधानार्थ है। 'अवाच्चालम्बनाविदूर्ययोः' (आश्रयण, और समीप अर्थ में 'अव' से परे 'स्तन्भ' के 'स्' को 'ष्' होता है।) 'वेश्च स्वनो भोजने' ('वि' और 'अव' से परे 'स्वन्' के 'स्' को 'ष्' होता है, भोजन अर्थ में।) और 'परिनिविभ्यः सेवसितसयसिवुसहसुट्स्तुस्वञ्जाम्' (परि, नि और वि से परे सेवादि धातुओं के 'स्' को 'ष्' होता है।) हैं। षोपदेश धातुओं की जानकारी के लिए अग्रलिखित कारिका स्मरणीय है :—

"सेक्-सृप्-सृ-स्तृ-सृज् स्तृ-स्त्यान्ये दन्त्याजन्तसादयः।
एकाचः षोपदेशाः ष्वष्क-स्विद्-स्वद्-स्वञ्ज-स्वप्-स्मिङः ॥"

सेक्-आदि ७ धातुओं से भिन्न दन्त्युत्तर एवं अजुत्तर सकारादि (वर्त्तमान में) एकाच् धातु उपदेशकालिक षोपदेश जानने चाहिये। कारिकानुसार ष्वष्क, स्विद्, स्वद्, स्वञ्ज्, स्वप् और स्मिङ् भी षोपदेश माने जाते हैं। ष्वष्कादि के पृथग्ग्रहण सामर्थ्य से यहाँ दन्त्य से केवल दन्त्यस्थानिक ही लिए जाते हैं। अन्यथा दन्त्युत्तरत्वेन ही इनका (ष्वष्कादि का) संग्रह हो जाता।

न्यषेधत् – 'प्राक्सितादड्व्यवायेऽपि' से षत्व होता है। न्यषेधीत्, न्यषेधिष्यत्।

निषिषेध, निषिषिधतुः—प्रथम सकारको 'उपसर्गात्सुनोति०' से द्वितीय को 'स्थादिष्वभ्यासेन चाभ्यासस्य' से षत्व होता है।

गंगां विसेधति—'उपसर्गात्सुनोति०'से प्राप्त षत्व का 'सेधतेर्गतौ' से निषेध होने से उक्त रूप में दन्त्य सकार श्रुत होता है।

सिषेद्ध—शासन और माङ्गल्यार्थक 'षिधू' (दीर्घ ऊदित्) से लिट्, सिप्, थल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य आदि यथावसर होते हैं। 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से प्राप्त नित्य 'इट्' को बाधकर 'स्वरतिसूतिसूयतिधूञूदितो वा' से वैकल्पिक 'इट्' होता है। उक्त प्रयोग इडभाव पक्ष का है। 'झषस्तथोर्धोऽधः' से 'थल्' के 'थ्' को 'ध्' होनेपर 'जश्त्व' के द्वारा धातु के 'ध्' को 'द्' होने से

उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। 'इट्' पक्ष में 'सिषेधिथ' होता है। अन्य लकारों में—सेद्धा–सेधिता, सेत्स्यति–सेधिष्यति, और असैत्सीत्–आदि प्रयोग होते हैं।

असैद्धाम्—'झलोझलि' से 'स्' का (सिच् के) लोप होता है। इट् पक्ष में 'असेधीत्, असेधिष्टाम्'–आदि।

चखाद—हिंसा और भक्षणार्थक 'खद्' धातु से लिट्, तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य यथावसर होनेपर 'अत उपधायाः' से ('चखद अ' स्थिति में) उपधासंज्ञक 'ख' के 'अ' को वृद्धि (आ) होती है।

चखाद-चखद—'खद्' धातु से लिट्लकार, उत्तमपुरुष, एकवचन में मिप्, णल् द्वित्व, अभ्यासकार्य आदि होते हैं। 'णलुत्तमो वा' से 'णल्' को वैकल्पिक णित्व होने से 'अत उपधायाः' से णित्वपक्ष में वृद्धि–चखाद। तदभाव पक्ष में ह्रस्वोपध 'चखद' होता है।

अखादीत् - अखदीत्—'खद्' धातु से लुङ्लकार प्रथमपुरुष, एकवचन में 'तिप्, सिच्, अडागम, इट्, ईट्, स् लोप, दीर्घ' और 'अतो हलादेर्लघोः' से वैकल्पिक वृद्धि होने के कारण, उक्त दो प्रकार के प्रयोग होते हैं।

प्रणिगदति व्यक्तोच्चारणार्थक 'प्र, नि' पूर्वक 'गद्' धातु से 'लट्, तिप्, शप्' आदि कार्य होनेपर 'नेर्गदनदपतपदघुमास्यतिहन्तियातिवातिद्रातिप्सातिवपतिवहतिशाम्यतिचिनोतिदेग्धिषु च' से 'नि' के 'न' को 'ण' होता है।

प्रणदति, प्रणिनदति—अव्यक्तशब्दार्थक 'प्र' पूर्वक 'णद्' से 'लट्' तिप्, शबादि होनेपर, उपदेश काल में 'णोनः' से हुए णस्थानिक 'न' को 'उपसर्गादसमासेऽपि णोपदेशस्य' से 'ण' होता है। 'नर्द, नाटि, नाथ्, नाध्, नन्द्, नक्क, नॄ और नृत्' को छोड़कर शेष सभी नकारादि धातु णोपदेश स्वीकृत किए गए हैं। कुछ विद्वानों के मत से 'नाध्, नॄ, और नन्द्' णोपदेश ही माने जाते हैं। णोपदेश धातुओं के ही नकार को उपसर्गस्थ निमित्त से परे 'उपसर्गादसमासेऽपि०' से 'णत्व' होता है। द्वितीय प्रयोग में 'नेर्गद०' से 'नि' के 'न' को 'ण' होता है।

आनर्द—गति और याचनार्थक 'अर्द्' धातु से 'लिट्, तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, दीर्घ' ('अत आदेः' से) आदि कार्य होने पर 'तस्मानुड-

द्विहलः' से 'नुट्' ('आ-अद्-अ' की स्थिति में 'आ' से परे) होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। लुङ्लकार में—आर्दीत्।

नन्दति—समृद्धि-अर्थक 'टुनदि'—'आदिर्ञिटुडवः' से 'टु' की इत्संज्ञा—'उपदेशेऽजनु०' से इकार की इत्संज्ञा—पश्चात् 'लट्, तिप्, शबादि' यथावसर होते हैं। 'इदितो नुम् धातोः' से 'नुम्' होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। 'नन्द्यात्'—इदित् होने से 'अनिदिताम्०' से 'न्' का लोप नहीं होता है।

ववृके—कवर्गीयान्त आत्मनेपदी ४२ धातुओं में से आदानार्थक 'वृक्' से 'लिट्, त, एश्, द्वित्व' आदि कार्य याथानियम होने पर 'पुगन्त०' से प्राप्त गुण का 'ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्वं गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन' (वा०) से 'लिट्' (तत्स्थानिक-एशादि) को कित्व विधान के कारण 'क्ङिति च' से निषेध होता है। यहाँ गुण और कित्व विधायक शास्त्र (असंयोगाल्लिट् कित्) का विरोध प्राप्त होनेपर, उक्त वार्तिक से 'असंयोगात्०' की बलवत्ता प्राप्त होती है।

ष्वष्कते—गत्यर्थक'ष्वष्क्' धातु के मूर्धन्य-षकार के स्थान में 'धात्वादेः षः सः' से प्राप्त 'सत्व' का 'सुब्धातुष्ठिवुष्वष्कतीनां सत्वप्रतिषेधो वक्तव्यः' (वा०) से निषेध होने से मूर्धन्यादि से लट्, त, शप्, आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

उवोख—फक्कादि ५० परस्मैपदी धातुओं के अन्तर्गत-गत्यर्थक 'उख्' धातु से लिट्, तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, गुणादि होने पर 'अभ्यासस्यासवर्णे' से अभ्याससंज्ञक 'उ' को 'उवङ्' 'यण्' को बाधकर होता है। यहाँ 'वार्णादाङ्गं बलीयः' (प०) के सहयोग से 'उ-उख्-अ' अवस्था में प्राप्त सवर्णदीर्घ को बाधकर गुण के प्रवृत्त होने से, असवर्ण 'अच्' परत्र सम्भव हो सका। 'द्विर्वचनेऽचि' से निषेध होने के कारण द्वित्व से पूर्व गुण प्रवृत्त नहीं होता है। 'सन्निपातलक्षणो विधिरनिमित्तं तद्विघातकस्य' (प०) से स्वीकृत व्यवस्था (जिसको निमित्त मानकर जो कार्य हुआ रहता है, उसके सहारे ऐसा नहीं होता है, जो अपने सहारे वाले कार्य को निमित्त को ही समाप्त कर दे। प्रकृत में 'णल्' को निमित्त मानकर गुण होने से 'उ-ओख' गुरुमान् हुआ है, अब यदि 'आम्' हो जाय तो गुण के निमित्त 'णल्' का 'आमः'

से लुक् होने के कारण सन्निपात विघात स्पष्ट ही हो जायगा ।) के अनुसार 'इजादेश्च०' से 'आम्' नहीं होता है। कुछ विद्वानों के मत से 'इजादेश्च०' सूत्र में आगत 'गुरुमतः' शब्द में नित्ययोगार्थक 'मतुप्' है, अतः उक्त सूत्र से वहीं 'आम्' होता है जो स्वभावतः गुरुमान् हैं। यथा 'एध वृद्धौ'। 'उख्' धातु के कृत्रिम गुरुमान् होने से 'आम्' की प्राप्ति हो नहीं है।

ऊखतुः—'उख्' धातु से लिट्, तस्, अतुस्, द्वित्व, 'उख् उख् अतुस्' स्थिति में 'असंयोगाल्लिट् कित्' से 'अतुस्' की कित् संज्ञा होने से गुण नहीं हुआ, अतः 'उवङ्' (असवर्ण—अच् परत्वाभाव से) भी नहीं हुआ। 'पर्जन्यवल्लक्षणप्रवृत्तिः' के सहयोग से प्रथम 'उ' को ह्रस्व होने पर 'हलादिशेषः' से 'ख्' का लोप, एवं सवर्णदीर्घ होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव प्रवर्त्तते न तु वारं वारम्' (न्या०) के अनुसार सवर्णदीर्घ के बाद 'पर्जन्यवत्' के अनुसार प्रथम प्रवृत्त 'ह्रस्वः' शास्त्र पुनः प्रवृत्त नहीं होता है।

'वार्णादाङ्गं बलीयः' (न्या०) के जागरूक होने से ह्रस्व से पूर्व दीर्घ प्रवृत्त नहीं हो पाता है। इयेष, 'उवोष' में अन्तरङ्गत्वात् सवर्णदीर्घ के प्रवृत्त होने से व्यर्थ 'अभ्यासस्यासवर्णे' सूत्रस्थ 'असवर्णे' पद को यदि अन्तरङ्ग परिभाषा के अनित्यत्व ज्ञापक मान लिया जाय तो, 'ह्रस्व.' सूत्र की दीर्घ से पूर्वप्रवृत्ति परत्व के बलपर कहनी चाहिये। 'ऊखतु:' की तरह 'ऊखुः' आदि प्रयोग भी सिद्ध करने चाहियें।

अम्रुचत्, अम्लुचत्—वर्चादि २१ चवर्गीयान्त आत्मनेपदी धातुओं के कथनानन्तर कथित शुचादि ७२ परस्मैपदी धातुओं में से अन्यतम गत्यर्थक 'म्रुचु, म्लुचु' (उदित्) धातुओं से लुङ् लकार, प्रथमपुरुष के एकवचन में तिप्, च्लि, अडागमादि होनेपर 'जॄस्तम्भुम्रुचुम्लुचुग्रुचुग्लुचुग्लुञ्चुश्विभ्यश्च' से 'च्लि' के स्थान में विकल्पेन सिजादेश को बाधकर 'अङ्' होने से 'अम्रुचत्, अम्लुचत्', (ङित्वात् गुणाभाव) और अङभाव पक्ष में 'च्लि' को सिच्, इट्, ईट्, ('अस्तिसिचो०' से) सलोप-आदि होनेपर गुण होने से 'अम्रोचीत्, अम्लोचीत्' प्रयोग सिद्ध होते हैं।

आञ्छ—आयामा (विस्तार) र्थक इदित् 'आछि' धातु से लिट्, तिप्, द्वित्व, अभ्यासकार्यादि होनेपर 'अ-आञ्छ्-अ' स्थिति में 'अत आदेः' से अभ्यास-अकार को दीर्घ इस लिए नहीं होता है कि, वहाँ तपरकरण है, और तपरकरण का फल यही है कि, स्वाभाविक ह्रस्व ही गृहीत हो, कृत्रिम ('ह्रस्वः' आदि से विहित) नहीं। प्रकृत में 'ह्रस्वः' से विहित ही ह्रस्व है, अतः सूत्र के प्रवृत्त न होने से 'नुट्' (तस्मान्नुट्) भी नहीं होता है; सवर्णदीर्घ होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। कुछ विद्वानों के मत में 'अत आदेः' में तपरकरण मुख-सुखार्थ है, अतः दीर्घ होने से 'नुट्' होकर 'आनाञ्छ' भी होता है।

विवाय—गति और क्षेपणार्थक 'अज्' धातु से लिट्, तिप्, णल् के विषय में 'अजेर्व्यघञपोः' से 'अज्' के स्थान में 'वी' आदेश होता है। द्वित्व, अभ्यासकार्यादि होनेपर 'अचो ञ्णिति' से वृद्धि आयादेश ('एचोऽयवायावः' से) होनेपर उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

विव्यतुः, विव्युः—अतुस् और उस् परे 'अज्' के स्थान में 'वी' आदेश होनेपर द्वित्व, अभ्यासकार्य, यणादि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'वि' के इकार को 'उपधायां च' (वकार के हल्पर होने से) से दीर्घ प्राप्त होता है किन्तु 'अचः परस्मिन्०' से स्थानिवद्भाव ('य' को 'ई' बुद्धि) होने से हल्परत्व न रहने से नहीं होता है। स्वरदीर्घयलोपेषु लोपाजादेश एव न स्थानिवत्' (वा०) से नियन्त्रित होने के कारण 'न पदान्त०' से स्थानिवद्भाव का निषेध नहीं होता है।

विवयिथ-विवेथ—'अज्'स्थानिक 'वी' से लिट्, सिप्, थल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य-आदि होने पर, 'वि-वी थ' स्थिति में प्राप्त 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' (इडागम) का 'एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' से निषेध होता है। 'कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि' से ज्ञापित नियम द्वारा प्राप्त 'इट्' का 'ऋतो भारद्वाजस्य' से 'भारद्वाज'मत में निषेध होने से 'पाणिनि' मतानुसार 'विवयिथ' (इट्, गुण, अयादेश) 'भारद्वाज' मतानुसार 'विवेथ' (इडभाव, गुण) प्रयोग होता है। 'कृसृभृवृ०' से सूत्रपठित ८ धातुओं को लिट् परे 'इट्' का निषेध होता है जो 'एकाच उपदेशे०' से सिद्ध है, अतः व्यर्थ होकर 'प्रकृत्याश्रय (एकाचः०)

और प्रत्ययाश्रय (श्युकः किति) सभी तरह के 'इट्-निषेध' लिट् परे यदि प्रवृत्त होते हैं तो 'कृ'— आदि ४ धातुओं से ही' ऐसा नियम 'कृ' आदि ४ धातुओं ने व्यर्थ होकर ज्ञापित किया। शेष धातुओं का सूत्र में पाठ 'थल्' परे भारद्वाजमतानुसार प्राप्त, वस्मसादि में क्रादिनियम से प्राप्त (क्रादिभिन्न सभी धातु लिट् में 'सेट्' स्वीकार किए जाने से) 'इट्' के निषेधार्थ (विध्यर्थ) है। इसी प्रसङ्ग में कथित क्रादिनियम से प्राप्त 'इट्' का 'थल्' परे 'अचस्तास्वत्थल्यनिटो नित्यम्' (उपदेशावस्था में अजन्त जो धातु 'तास्' में नित्य-'अनिट्' उससे परे 'थल्' में 'इट्' नहीं होता है।) से निषेध होता है। उपदेशावस्थामें अकारवान् 'तासि' परे नित्य 'अनिट्' धातुओं से 'थल्' परे इण्निषेधक 'उपदेशेऽत्वतः' भी इसी प्रसङ्ग में कहा गया है। प्रकृत में 'ऋतो भारद्वाजस्य' (तासिपरे जो नित्य-'अनिट् - ऋदन्त' उसी से 'थल्' परे 'इट्' नहीं होता है; अन्य से होता है।) से 'भारद्वाज'मतानुसार 'वी' के ऋदन्त-भिन्न होने से 'इट्' होने के कारण, तथा अन्यमत से इडभाव स्वीकृत किए जाने के कारण, उक्त २ रूप निष्पन्न होते हैं। 'अचस्ता०' से इण्निषेध सिद्ध होने के कारण 'ऋतो भारद्वाजस्य' सूत्र भी व्यर्थ होकर 'भारद्वाजमत से ऋदन्त को ही इण्निषेध होता है' नियम ज्ञापित करता है। इस प्रकरण के आशय को अन्तर्गर्भित करके जो कारिका दीक्षित जी द्वारा लिखी गयी है, वह यह है :—

"अजन्तोऽकारवान्वा यस्तास्यनिट् थलि वेडयम्।
ऋदन्त ईदृङ्नित्यानिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड्भवेत्॥"

'अनन्तरस्य विधिर्भवति प्रतिषेधो वा' नियमानुसार 'ऋतो भारद्वाजस्य' द्वारा ज्ञापित नियम 'स्तु, द्रु' आदि धातुओं में प्रवृत्त न होकर 'अचस्ता०', 'उपदेशे०' से प्राप्त इण्निषेध का व्यावर्त्तक (ऋदन्त-भिन्न धातुओं से) होता है अतः 'स्तु,द्रु' आदि ४ धातुओं से 'थल्' परे सभी के मत में 'इट्' नहीं होता है। इस प्रकार संक्षेप में क्रादिनियम (जो कठोरता में बहुत ही प्रसिद्ध है) जानना चाहिये।

आजिथ—'वलादावार्धधातुके वेष्यते' (वा०) से 'वी' आदेश की विकल्पता

बोधित किए जाने से 'वी' आदेश के अभाव पक्ष में तत्तत् कार्यों से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

अवैषीत्—'अज्' धातु से लुङ्, तिप्, अडागम, च्लि (उसके स्थान में सिच्) आदि कार्य, 'अजेर्व्यघञपोः' से 'अज्' के स्थान में 'वी' आदेश होनेपर होते हैं। 'सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु' से वृद्धि ('वी' को) होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

क्षीयात्—क्षयार्थक 'क्षि' धातु से 'आशीर्लिङ्, तिप्, यासुट्' आदि होनेपर 'अकृत्सार्वधातुकयोर्दीर्घः' से 'क्षि' के इकारको दीर्घ होता है। लुङ् में— अक्षैषीत्। 'सिचि वृद्धि.०' से वृद्धि।

अकटीत्—टवर्गीयान्त अनुदात्तेत् (आत्मनेपदी) २६ धातुओं के प्रदर्शनानन्तर, ८७ टवर्गीयान्त परस्मैपदी धातुओं में से अन्यतम, वर्षा और आवरणार्थक एदित् 'कट्' धातु से लुङ्, अडागम, तिप्, च्लि, सिच्, सिच् के स् को और तिप् के त् को ('इतश्च' से इलोप) क्रमशः 'इट्' और 'ई' होने पर, 'इट ईटि' से सलोप होता है 'सिज्लोप एकादेशे सिद्धो वाच्यः' (वा०) के सहयोग से सवर्णदीर्घ होता है। 'अतो हलादेर्लघोः' से प्राप्त वृद्धि का 'ह्मयन्तक्षणश्वसजागृणिश्व्येदिताम्' से निषेध होता है।

कटति—गत्यर्थक 'इट, किट, कटी' धातुत्रय समुदायान्तर्गत दीर्घ ईकारेत् 'कट्' से लट्, तिप्, शबादि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। ईकारानुबन्ध का फल 'श्वीदितो निष्ठायाम्' से निष्ठासंज्ञक प्रत्यय परे इण्निषेध है। कुछ विद्वानों के मत में ह्रस्व-इकारेत् होने से 'कण्टति' भी होता है। 'कटि-ई' प्रश्लेष के अनुसार उत्तर 'ई' में भी 'इ-ई' प्रश्लेष स्वीकार किए जाने से, ह्रस्व के 'अयति, इयाय, इयतुः, इययिथ, इयेथ'—आदि, और दीर्घ के 'अयाञ्चकार, अयामास' आदि प्रयोग भी पूर्वोक्त विद्वानों के मत में होते हैं।

तिप्सीष्ट—अनुदात्त ऋकारेत् (स्तोभत्यन्त ३४ में से) 'तिप्' (क्षरणार्थक) धातु से आशीर्लिङ्, त, सीयुट्, सुट् आदि कार्य होने पर 'पुगन्त०' से प्राप्त गुण का 'लिङ्सिचावात्मनेपदेषु' से 'सी' के कित् किए जाने से 'क्ङिति च' से निषेध होता है। लुङ् में 'अतिप्त'—'झलो झलि' से सलोप।

त्रेपे—लज्जार्थक दीर्घ ऊकारेत्संज्ञक 'त्रप्' धातु से लिट्, त, एश्, द्वित्व, अभ्यासकार्य आदि होने पर संयुक्त हल्मध्यस्थ होने से 'अत एकहल्मध्ये०' से अप्राप्त एत्वाभ्यासलोप 'तॄफलभजत्रपश्च' से होता है। वलाद्यार्धधातुक परे 'स्वरतिसूति०' से वैकल्पिक 'इट्' होने से 'त्रपिषिष्ट, त्रप्सीष्ट'—आदि प्रयोग होते हैं।

विस्तम्भते—प्रतिबन्धार्थक'ष्टभि' (इदित्) धातु से लट्, त, शप्, आदि होते हैं। 'धात्वादेः षः सः' से उपदेशावस्था में ही 'ष' के स्थान में सकार विधान के कारण, 'निमित्तापाये नैमित्तिकस्याप्यपायः' नियम के अनुस्वार 'ट्' की निवृत्ति होकर 'त्' श्रवण होता है। इदित् होने से 'नुम्'। अनुस्वार, परसवर्ण (म्)। प्रकृतधातु के पवर्गीयोपध (म्) होने से और षत्वविधायक 'स्तन्भेः' में तवर्गीयोपध (न्) पाठ होने से, 'माधव'मतानुसार प्रकृत प्रयोग में 'षत्व' नहीं होता है। 'माधव' के मत में 'उदः स्थास्तम्भोः' में पवर्गीयोपध पाठ ही प्रमाण सम्पन्न है। 'उत्' उपसर्ग के योग में पूर्वसवर्ण होने से 'उत्तम्भते' होता है। किन्हीं विद्वानों के मत में यहाँ औपदेशिक टकार है, अतः 'ष्टम्भते, विष्टम्भते'—आदि प्रयोग भी होते हैं।

जम्भते—गात्रविनामा (जंभाई-अंगड़ाई) र्थक दीर्घ ईकारेत् 'जभ्' धातु से लट्, त, शप्, एश् आदि होने पर 'रधिजभोरचि' से 'नुम्' होता है। अनुस्वार, परसवर्ण होने से उक्त प्रयोग होता है। अन्य लकारों में—'जजम्भे, जम्भिता, अजम्भिष्ट'—आदि।

गोपायति—रक्षणार्थक दीर्घ उकारेत्संज्ञक 'गुप्' धातु से 'गुपूधूपविच्छिपणिपनिभ्य आयः' से स्वार्थ में 'आय' प्रत्यय होता है। 'पुगन्त०' से गुण (गोपाय) होने पर 'सनाद्यन्ता धातवः' से आयान्त की धातुसंज्ञा होने पर 'गोपाय' से लट्, तिप्, शप्, पररूप—गोपायति।

गोपायांचकार—आयान्त 'गोपाय' से लिट् आने पर 'कास्प्रत्ययादाममन्त्रे लिटि' से लिट् को निमित्त मानकर 'आम्' प्रत्यय होता है। 'आमः' से लिट् का लुक् होने पर 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' से लिट् परक 'कृ' का अनुप्रयोग,

तथा 'आर्धधातुके' के अधिकार में स्थित 'अतो लोपः' से 'गोपाय' के अन्तिम अकार का लोप आर्धधातुक प्रत्यय की विवक्षा में होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। वार्त्तिककार के मत से 'कास्यनेकाजग्रहणं कर्त्तव्यम्' (वा० के अनुसार, 'कासूप्रत्ययात्' की प्रवृत्ति समस्त अनेकाज्जिशिष्टों में होती है। 'भू' और 'अस्' का अनुप्रयोग होने से 'गोपायाम्बभूव' और 'गोपायामास' भी होते हैं।

जुगोप—'आयादय आर्धधातुके वा' से 'आय' प्रत्यय की लिडादि में विकल्पता बोधित किए जाने से 'आय' प्रत्ययाभाव स्थल में 'गुप्' से लिट्, तिप् णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, गुणादि होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। धातु के ऊदित् होने से वलाद्यार्धधातुक परे 'स्वरति०' से वैकल्पिक 'इट्' होने से 'जुगोपिथ-जुगोप्थ, गोपायिता-गोपिता-गोप्ता, गोपाय्यात्, गुप्यात्, अगोपा-यीत् - अगोपीत् - अगौप्सीत्'— आदि प्रयोग होते हैं।

प्रस्तुम्पति गौः—हिंसार्थक ('प्र'पूर्वक) 'तुम्प' धातु से लट्, तिप्, शबा दि होने पर पारस्करादिगणान्तर्गत 'प्रात्तुम्पतौ गवि कर्त्तरि' (ग. सू.) से सुडागम होता है। सुडागम विधायक शास्त्र में 'तम्पति' श्तिपानिर्देश के कारण 'श्तिपाशपाऽनुबन्धेन ......' निथमानुसार 'प्रतोतुम्पीति' आदि स्थलों में 'सुट्' नहीं (यङ्लुङन्तस्थल में) होता है।

चक्षण्वहे—सहनार्थक 'क्षमूष्' (षकार एवं ऊदित्) आत्मनेपदी धातु से लिट्, वहिङ्, द्वित्व, इडिवकल्प (ऊदित होने से) आदि कार्य होने पर, इडभाव पक्ष में 'म्वोश्च' से धातुके मकार को नकार होता है। णत्व होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। 'इट्' पक्ष में—चक्षमिवहे। इसी प्रकार अन्यत्र भी 'चक्षमिमहे, चक्षण्महे' आदि। क्षमिष्यते, क्षंष्यते, क्षंसीष्ट, अक्षमिष्ट, अक्षंस्त— आदि प्रयोग यथा लकार होते हैं।

कामयते—इच्छार्थक 'कमु' (उदित्) धातु से 'कमेर्णिङ्' द्वारा स्वार्थ में 'णिङ्' प्रत्यय (णित्वात्-वृद्धि होकर 'कामि') होने पर 'सनाद्यन्ता धातवः' से 'कामि' की धातु संज्ञा, और धातुत्वात् लट्, त, शप्, गुण, ('कामि' के इकार को) अयादेश, एत्वादि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

कामयांचक्रे——लिट् परे 'कामि' से 'कास्यनेकाच्०' द्वारा 'आम्' होनेपर 'णेरनिटि' से प्राप्त णिलोप को बाधकर 'अयामन्ताल्वाय्येत्न्विष्णुषु' से 'णि' को ('कामि'के 'इ' को) अयादेश होनेपर 'कामयाम्' से लिट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग 'कृञ्चानुप्रयुज्यते०' से होता है। द्वित्व, अभ्यासकार्य, एशादि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। 'आयादय आर्धधातुके वा' से 'णिङ्' की विकल्पता बोधित किए जाने से णिङभाव पक्ष में 'चकमे' आदि। अन्यत्र——'कामयिता' 'कमिता कामयिष्यते कमिष्यते'—आदि प्रयोग होते हैं।

अचीकमत——'कम्' धातु से स्वार्थ में (कमेर्णिङ्) से 'णिङ्' करने पर 'अत उपधायाः' से वृद्धि होती है। 'सनाद्यन्ताः०' से 'कामि' की धातु संज्ञा होने से भूतकाल की विवक्षा में लुङ्, त और अडागम (अकाम्-इ-त्) किए जाने पर 'णिश्रिद्रुस्रुभ्यः कर्तरि चङ्' से कर्त्ता-अर्थवाले 'त' परे 'चङ्' होता है। 'अकाम्-इ-अ त' स्थिति में प्राप्त यणादेश (इको यणचि) को बाधकर 'णेरनिटि' से णिलोप प्राप्त होता है, जिसे 'एरनेकाचः' वाला 'यण्' परत्वात् बाधने की चेष्टा करता है, किन्तु 'ण्यल्लोपावियङ्यण्गुणवृद्धिदीर्घेभ्यः पूर्वविप्रतिषेधेन' (वा०) से पूर्वविप्रतिषेधकृतबलवत्ता 'णेरनिटि' को प्राप्त हो जाने से णिलोप ही होता है। 'पाक्ति' (णिजन्त पच् से क्तिच्) आदि स्थलों में 'तितुत्र०' से इण्निषेध किए जाने से णिलोप चरितार्थ है, अतः अपवादत्वात् इयङादि को लोप नहीं बाध सकता। सिद्धान्तमतानुसार णिलोप इयङादि का अपवाद ही है। यतः इयङादि अपने स्थलों में परत्वात् बाध ही लेंगे परिशेषात् पाक्ति' आदि में ही णिलोप की प्रवृत्ति होगी तो सूत्र में 'अनिटि' पद व्यर्थ है। वही ज्ञापित करता है कि, णिलोपकी आर्धधातुकमात्र में प्रवृत्ति होती है, अतः अपवाद पक्ष उचित है। अकाम् अ त' स्थिति में 'णौ चङ्युपधाया ह्रस्वः' से ह्रस्व ('काम्' को 'कम्') होता है। 'चङि' से द्वित्व (कम् कम्) होता है। 'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' से चङ्परक णिपरे 'अङ्ग' को सन्वद्भाव ('सन्' परे जो कार्य होते हैं, वे चङ्परक णिपरे भी होते हैं।) होता है। सन्वद्भाव होने से 'सन्यतः' से 'इत्व' (अचिकमत) होता है। 'दीर्घो लघोः' से दीर्घ (अचीकमत) होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। 'सन्वल्लघुनि०' में

स्थित 'चङ्परे' और अनुवृत्ति द्वारा लब्ध 'अङ्गस्य' की आवृत्ति किए जाने से अङ्गसंज्ञानिमित्त जो चङ्पर, ('चङ्' है परे जिससे अर्थात् 'णि') उसके परे जो लघु, उसके परे रहते जो अङ्गावयव अभ्यास उसको सन्‌निमित्तक सभी कार्य हों, ऐसा अर्थ 'सन्वल्लघुनि०' का। चङ्पर अर्थात् 'णि' का लघु में साक्षादन्वय) स्वीकार किए जाने से और 'कार्यकालं संज्ञापरिभाषम्' ('माधव'मतानुसार–जब कार्य हो तभी संज्ञा प्रवृत्त हो) के अनुसार जहाँ पूरे 'अंग' को द्वित्व हुआ हो वहीं सन्वद्भाव आदि की प्रवृत्ति स्वीकार किए जाने से उक्त सूत्र की प्रवृत्ति एकाच् धतुओं में ही (वहीं पूर्ण अंग को द्वित्व किए जाने से) होगी, अनेकाच् 'ऊर्णु दरिद्रा' आदि में अङ्गावयव के द्वित्व किए जाने से नहीं होगी। सिद्धान्तमतानुसार 'अङ्गस्य' की आवृत्ति अस्वीकृत किए जाने से चङ्परे (अर्थात् 'णि' परे) जो अङ्ग, तदवयव जो लघुपरक अभ्यास, (अथवा अङ्ग) उसको सन्वद्भाव हो' ऐसा अर्थ स्वीकार किए जाने से (यथोद्देश पक्षानुसार) 'ऊर्णु' में दीर्घ और 'अर्थापि'(ण्यन्त)में इत्व, दीर्घ दोनों और 'चकास्' से 'णिच्' लुङ् परे (चङ्पर का साक्षात् 'अङ्ग' में अन्वय पक्ष में) भी उभय 'कैयट' मतानुसार सिद्ध होते हैं। चङ्पर का लघु में अन्वय पक्ष में 'अचचकासत्' (दीर्घ 'का' के 'णि' पूर्व होने से) ही होगा। इन्हीं सब आशयों से मूल में कारिका लिखी है: —'संज्ञायाः कार्यकालत्वात् अङ्गं यत्र द्विरुच्यते·········आदि।

अचकमत—णिङभाव पक्षमें (आयादय आर्धधातुके वा) 'कमेश्च्लेश्चङ् वक्तव्यः' (वा०) से 'चङ्' होने के कारण (सन्वद्भावादि न होने से) उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

सायात्, सन्यात्–संभक्त्यर्थक 'षण' (धात्वादेःषःसः) धातु से आशी र्लिङ्, तिप्, यासुट् आदि होनेपर 'ये विभाषा' से 'सन्' के 'न्' को वैकल्पिक 'आत्व' होने से उक्त दोनों प्रयोग सिद्ध होते हैं।

आचामति–अदन (भक्षणार्थक) 'चमु' (उदित्) धातु से लिट्, तिप्, शप् आदि होनेपर 'आङि चम इति वक्तव्यम्' (वा०) के सहयोग से 'ष्ठिवुक्लमुचमां शिति' से दीर्घ ('च' के अकार को) होता है। 'आङ्' रहित 'चमति, विचमति'—आदि प्रयोगों में दीर्घ नहीं होता है।

क्राम्यति, क्रामति—पादविक्षेप (गति) अर्थक 'क्रमु' (उदित्) धातु से लट्, तिप् होनेपर 'वा भ्राशभ्लाशभ्रमुक्रमुक्लमुत्रसित्रुटिलषः' से 'शप्'को बाधकर वैकल्पिक 'श्यन्' होता है। 'क्रमः परस्मैपदेषु' से 'शित्' सार्वधातुक परे दीर्घ (दोनों जगह) होता है।

अक्रमीत् - 'क्रम्' धातु से लुङ् , तिप् , च्लि, सिच् , अडागम, इट्, ईट् , सलोप आदि कार्य यथावसर होते हैं। 'स्नुक्रमोरनात्मनेपदनिमित्ते' से निर्धारित (परस्मैपदपरे ही 'इट्' हो) होने से उक्त प्रयोग में 'इट्'(सिच् के स् को) होता है। 'ह्ययन्तक्षण०' से 'अतो हलादेः०'द्वारा प्राप्त वृद्धि का निषेध होता है।

अयांचक्रे—आत्मनेपदी गत्यर्थक 'अय्' धातु से लिट्, आने पर 'दयाया-सश्च' से आम्' होता है। 'आम्' प्रत्ययान्त 'अयाम्' से 'कृ' का अनुप्रयोग (लिट् परक) द्वित्व, अभ्यासकार्य, 'उरत्', 'हलादिः शेषः' आदि से तत्तत् कार्य होने पर 'अयांचकृ-ए' स्थिति में 'यण्' होनेपर उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। अयेत। अयिषीष्ट।

अयिषीढ्वम् , अयिषीध्वम्—'अय्' धातु से आशीर्लिङ् मध्यमपुरुष बहुवचन 'ध्वम्' परे सीयुट्-आदि कार्य होनेपर 'आर्धधातुकस्येड् वलादेः' से 'इट्' होता है। 'विभाषेटः' से 'ध्वम्' के 'ध्' को 'ढ्' होता। सूत्र में 'विभाषा' पद होने से पक्ष में 'अयिषीध्वम्' होता है। इसी प्रकार लुङ् में आयिढ्वम्, आयिध्वम्'—आदि।

प्लायते, पलायते,—'प्र' और 'परा' उपसर्गयुक्त 'अय्' धातु से लट् , त, शप्, एत्व होने पर 'उपसर्गस्यायतौ' से उपसर्गान्तर्गत रेफ को 'ल्' होने से उक्ताकार में प्रयोग सिद्ध होते हैं। 'निरयते, दुरयते' में 'निस्' और 'दुस्' सान्त उपसर्ग हैं जिनके 'स्' को 'ससजुषो रुः' से'रु' (र) होता है, जो 'लत्व' विधायक प्रकृतशास्त्र की दृष्टि में 'पूर्वत्रासिद्धम्'द्वारा असिद्ध होने से रेफघटित प्रयोग सिद्धि का प्रयोजक होता है। रेफान्त 'निर् , दुर्' उपसर्ग युक्त 'निलयते, दुलयते'—आदि में प्राकृतिक रेफ होने से 'लत्व' होता है।' प्रत्यय' शब्द की साधुता 'अय्' धातु से न होकर 'इण्' धातु से) 'एरच्' से 'अय' होने पर होती है, अतः 'लत्व' होने की

आशंका नहीं। 'उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जौ' (माघ का प्रयोग) में 'अयति' (परस्मैपद) की साधुता 'इट, किट, कटी गतौ' में प्रश्लिष्ट 'इ' से (अय् धातु के आत्मनेपदी होने से) अथवा (प्रश्लेषविरोधी) 'चक्षिङ्' के अनुदात्तेत् होते हुए भी ङकारानुबन्ध विधान से प्रतीत होने वाली 'अनुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्यम्' परिभाषा से 'अय्' के अनुदात्तेत् लक्षण आत्मनेपद के अनित्य बोधित होने से प्रकृत 'अय्' धातु से ही लडादि होने पर होती है।

पिप्ये–वृद्धयर्थक 'ओप्यायी' (ओदित् प्याय्) धातु से लिट् आने पर (वास्तव में तो विषय सप्तमी स्वीकार किए जाने से, लिडुत्पत्ति के पूर्व ही) 'लिड्यङोश्च' से 'प्या' के स्थान में 'पी' आदेश द्वित्व को बाधकर होता है। 'पुनः 'प्रसङ्गविज्ञानात् सिद्धम्' के सहयोग से 'पी' को द्वित्वयणादि किए जाने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

अप्यायि, अप्यायिष्ट—'प्या' धातु से लुङ् , त, च्लि अडागमादि होने पर 'दीपजनबुधपूरितायिप्यायिभ्योऽन्यतरस्याम्' से 'च्लि' के स्थान में 'सिच्' को बाधकर 'चिण्' होता है। 'चिणो लुक्' से 'त' का लुक् होता है। चिणादेश के वैकल्पिक होने से पक्ष में सिच् , इट् आदि होने से 'अप्यायिष्ट' होता है।

मा भवानालीत्–भूषण, पर्याप्ति और धरणार्थक परस्मैपदी 'अल्' धातु से लुङ्, तिप्, च्लि, सिच्, 'न माङ्योगे' से अडागम का निषेध, इट्, ईट्, स्-लोप, दीर्घ आदि कार्य यथावसर होने से, तथा 'अतो ल्रान्तस्य' से 'नेटि' द्वारा प्राप्त निषेध और 'अतो हलादे.' से प्राप्त विकल्प को बाध्यसामान्य चिन्तापक्ष के आधार पर बाधकर नित्य वृद्धि होने से उक्ताकार में प्रयोग सिद्ध होता है। 'भवान्' परक 'मा' का संनियोग वृद्धि की स्पष्ट प्रतिपत्ति प्रयोग में दिखलाने के लिए किया गया है। अन्यथा (वृद्धि के अभाव में) 'मा भवान् अलीत्' होता। कुछ विद्वानों के मत में 'अल्' के स्वरितेत् होने से 'अलते' भी होता है।

जिगाय––जयार्थक परस्मैपदी 'जि' धातु से लिट्, तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य आदि होने पर 'सन्लिटोर्जेः' से द्वितीय जकार को गकार किए जाने पर उक्त प्रयोग (वृद्धि, आयादेश) सिद्ध होता है।

धिनोति,—प्रीणनार्थक, परस्मैपदी 'धिवि' (इदित्) धातुसे लट्, तिप् किए जानेपर 'धिन्विकृण्व्योरच, से 'नुम्' के नकार से युक्त 'धिन्व' के व कारको अकार और 'शप्' को बाधकर 'ति' परे 'उ' प्रत्यय होता है । 'अतो लोपः' से पूर्वसूत्र विहित 'अ' का लोप होता है । अलोप के स्थानिवद्भाव ('अचः परस्मिन्०' से) होनेपर 'धि' के इकार को गुण ('पुगन्त०' से) नहीं होता है । प्रत्ययसंज्ञक 'उ' को गुण ('सार्वधातु०' से) होने के कारण 'धिनोति' प्रयोग सिद्ध होता है ।

धिन्वः,—'धिन्विकृण्व्योः' से 'अ' आदेश, उप्रत्यय होनेपर 'वस्' परे 'लोपश्चास्यान्यतरस्यां म्वोः' से 'उ' का लोप ('अलोन्त्यस्य' की सहायता से) विकल्प से होता है । पक्ष में—धिनुवः । इसी प्रकार अन्यत्र भी 'धिन्मः', धिनुमः'—आदि । 'मिप्' परे लोप को परत्वात् बाधकर गुण होने से 'धिनोमि' होता है ।

'धिव्' इदित् धातुसे लोट, सिप, हि 'अ' आ देश, ('उप्रत्यय') आदि होने पर 'उतश्च प्रत्ययादसंयोगपूर्वात्' से 'हि' का लुक् होता है । 'धिनवानि, धिनवाव, धिनवाम' में नित्य (कृताकृतप्रसंगी) होने से उकारलोप को बाधकर 'आट्' ('आडुत्तमस्य पिच्च' से) होता है । 'सकृद्गतौ०' के अनुसार लोप की पुनः प्रवृत्ति का अभाव, और गुणावादेश होते हैं ।

गाढा,—विलोडना-(अवगाहन) थर्क आत्मनेपदी 'गाहू' (ऊदित्) धातु से लुट्, तिप्, तास्, डा आदि कार्य होनेपर 'गाह्ता' की स्थिति में 'हो ढः' से 'ह्' को 'ढ्' और 'झषस्तथोः०' से 'त्' को 'ध्' और 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व (ध् को ढ्) होनेपर 'ढो ढे लोपः' से पूर्व 'ढ्' का लोप होता है । ऊदित् होने से 'स्वरति सूति०' से 'इट्' के वैकल्पिक किए जाने से उक्त प्रयोग में इडभाव दृष्टि गोचर हो सका है । पक्ष में—गाहिता ।

जगृहिषे—गर्हणार्थक आत्मनेपदी 'गृहू' (ऊदित) धातु से लिट्, थास्, (से) द्वित्व, अभ्यासकार्य ('उरत्', 'हलादिशेषः') इट्—आदि होने पर, परत्वात् प्राप्त गुण (लघुपध) की 'ऋदुपधेभ्यो लिटः कित्व गुणात्पूर्वविप्रतिषेधेन'

प्रतिषेधेन' (वा०) के सहयोग से 'असंयोगाल्लिट् कित्' द्वारा इडादि के कित् किए जाने से अप्रवृत्ति फल स्वरूप गुण रहित उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

अघृक्षत—'गृहू' (ऊदित्) धातु से लुङ्, त, अडागम, च्लि, (ऊदित् होने से पाक्षिक इडभाव) आदि कार्य होने पर 'शलइगुपधादनिटः क्सः' से 'च्लि' के स्थान में 'क्स' आदेश होता है। अनुबन्ध-निवृत्ति होनेपर तत्पूर्ववर्ती 'ह्' को 'हो ढः' से 'ढ्' और 'षढोःकः सि' से 'ढ् को 'क्', और तदुत्तर 'स् को 'आदेश प्रत्यययोः' से 'ष्' किए जानेपर 'क्-षूसंयोगे क्षः' के अनुसार 'क्ष' का उच्चारण होने से तथा ढावस्था में ही 'एकाचो बशो भष्०' से भष्भाव (ग् को घ्) होने से 'अघृक्षत' प्रयोग सिद्ध होता है। जहाँ 'इट्' होता है, वहाँ 'अगर्हिष्ट' होता है।

अघृक्षाताम्—'गृह्' (ऊदित्) धातु से लुङ्, आताम्, अडागम, च्लि, क्स—आदि कार्य यथावसर किये जाने पर 'क्सस्याचि' से ('अलोन्त्यस्य' के सहयोग से) अलोप होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है।

अक्ष्णोति—व्याप्त्यर्थक परस्मैपदी 'अक्षू' (ऊदित्) धातु से लट्, तिप्, आने पर 'अक्षोऽन्यतरस्याम्' से तिपरे वैकल्पिक 'श्नु'* प्रत्यय होता है। अनुबन्धनिवृत्ति होनेपर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। 'रषाभ्यां०' से 'न' 'को ण'। पक्ष में—अक्षति। लिट् में 'आनक्ष, ('तस्मान्नुट्०' से 'नुट्') आनक्षिथ, आनष्ठ आदि। लुट् में—अक्षिता, अष्टा (ऊदित् होने से वै. इट्)। लृट् में—अक्षिष्यति, अक्ष्यति ('स्कोः'० से क्-लोप, 'षढोःकः सि' से 'ष्' को 'क्'—कृषसंयोगे क्षः)। लुङ् में-अक्षीत् ('नेटि' से वृद्धिनिषेध) वृद्ध्यभाव की स्पष्ट प्रतिपत्ति के लिए मूल में 'मा भवान्' का अनुप्रयोग किया गया है। आक्षीत्—('इट्' के वैकल्पिक होने से इडभावपक्ष में वृद्धि) मा भवान्' के अनुप्रयोग से आडाभाव, अतः वृद्धि की स्पष्ट प्रतिपत्ति। आष्टाम् ('स्कोः' से क्लोप, ष्टुत्व) अक्षुः—आदि।

तक्ष्णोति—तनूकरणा-(ह्रस्वकरण) र्थक 'तक्षू' (ऊदित्, आ. प.) धातु से 'तनुकरणे तक्षः' से लट्, तिप् आने पर 'शप्' को बाधकर 'श्नु' (शित्) होता है। गुण, णत्वादि कार्य होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। 'श्नु' के

वैकल्पिक होने से पक्ष में--तक्षति। तनूकरणातिरिक्त अर्थ में 'वाग्भिः संतक्षति' (शप्-मात्र) होता है। भर्त्सन करना अर्थ है।

रोषिता—हिंसार्थक 'रुष्' धातु से लुट्, तिप्, तास्. डा--आदि होने पर 'तीषसहलुभरुषरिषः' से वैकल्पिक 'इट्' होने से उक्त प्रयोग (लघुपध-गुण-युक्त) सिद्ध होता है। पक्ष में--रोष्टा।

ओषांचकार—दाहार्थक 'उष्' धातु से लिट् आनेपर 'उषविदजागृभ्योऽन्यतरस्याम्' से वै० 'आम्' होने से लिट् का लुक्, धातु को गुण, 'कृञ्चानुप्रयुज्यते' से लिट् परक 'कृ' का अनुप्रयोग आदि कार्य होते हैं। द्वित्व, अभ्यासकार्य, ('उरत्' 'हलादिःशेषः' आदि) वृद्धि आदि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। पक्ष में--'उवोष' आदि।

घत्स्यति—अदना-(भक्षण) र्थक 'घस्लृ' (लृदित्) धातु से लृट्, तिप्, स्य, होनेपर 'सःस्यार्धधातुके' से धातु के 'स्' को 'त्' होता है। अनिट (अनुदात्त) होने से इट नहीं होता है। 'लिट्यन्यतरस्याम् २।४।४० से 'अद्' धातु के स्थान में 'घस्लृ' आदेशविधान किए जाने से उक्त धातु का वहीं प्रयोग होता है, जहाँ कोई लिङ्ग या वचन (आचार्य का) हो जैसे सार्व-धातुक (लट, लोट, लङ्, विधिलिङ् परे भ्वादिगण में पाठ के बलपर, लृदित् करण सामर्थ्यात् लुङ परे प्रयोग होता है। अन्यथा ये सब व्यर्थ हो जावेंगे। 'सुघस्यदः क्मरच्' ३।२।१६०। में प्रतिपदोक्त रूप से 'घस्' का पाठ होने से उक्त धातु का प्रयोग होता है। सारांश में उक्त धातु सार्वत्रिक नहीं है। आशीर्लिङ् में प्रयोग के लिए कोई प्रमाण न होने से प्रयोग नहीं होता है। लङ् में—

अघसत्—'पुषादिद्युताद्यॢदितः परस्मैपदेषु' से च्लि को अङ् होता है।

दिद्युते—दीप्त्यर्थक आत्मनेपदी 'द्युत्' धातु से लिट् त, द्वित्व, अभ्यास कार्य, यथावसर होने पर, 'द्यु-द्युत् ए' अवस्था में द्युतिस्वाप्योः संप्रसारणम्' से अभ्यासघटक 'य्' को सम्प्रसारण (इ) होता है। 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। अन्य लकारों में—द्योतिता, द्योतिष्यते, द्योतता अद्योतत आदि।

अद्युतत्—'द्युत्' धातु से लुङ्, 'द्युद्भ्यो लुङि' से वैकल्पिक परस्मैपद विधान के कारण, तिप्, और तिप् परे 'च्लि' आनेपर 'पुषादि द्युतादि०' से च्लि के स्थान में अङ् होता है। अङ् के ङित् होने से गुण नहीं होता है। अन्यकार्य (अडागमादि) यथाविधि होने से उक्त प्रयोग की साधुता सम्पन्न होती है। पक्ष में अद्योतिष्ट।

मिमिदे—स्नेहनार्थक ञिमिदा (अनुदात्तेत् एवं ञिदित्) धातु से लिट् त, एश्, द्वित्व, अभ्यासकार्य आदि कार्य होनेपर 'असंयोगाल्लिट् कित्' से लिट के कित् किए जाने के कारण, गुण नहीं होता है। 'मिदेर्गुणः' में 'ष्ठिवुक्लमुचमाम्०' से शिति की अनुवृत्ति (आदिशकारेत्संज्ञकार्थक) आने से और लिट् स्थानिक एश् के अन्त्यशकारेत् होने से गुण नहीं होता है। मिदेर्गुणः' की चरितार्थता मेद्यते (श्यन् परे) आदि स्थलों में है। लुङ् में अमिदत् अमेदिष्ट।

वर्त्स्यति—वर्त्तना-(सत्ता) र्थक 'वृतु' (अनुदात्तेत्) धातु से लृट्, स्य, ('स्यतासी०' से) होनेपर 'वृद्भ्यः स्यसनोः' से वैकल्पिक परस्मैपद के विधान से तिप् आने पर (ल् के स्थान में) 'न वृद्भ्यश्चतुर्भ्यः' से वलादिलक्षण प्राप्त 'इट्' का निषेध, और लघूपधलक्षण गुण (रपर) होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। परस्मैपदविधानाभाव पक्ष में इण्णिषेधक सूत्र की प्रवृत्ति न होने से 'वर्तिष्यते' प्रयोग होता है। लुङ् में 'अवृतत्, अवर्तिष्ट'—आदि।

स्यन्त्स्यति—प्रस्रवणार्थक 'स्यन्दू' (ऊदित्) धातु से लृट्, स्य आने पर 'वृद्भ्यः स्यसनोः' से परस्मैपद (तिप्) ऊदित्त्वादन्तरङ्गत्वेन प्राप्त वै० 'इट्' का चतुर्ग्रहणसामर्थ्य से 'न वृद्भ्यः' से निषेध होता है। पक्ष में—स्यन्दिष्यते। लुङ् में 'अस्यदत्' ('द्युद्भ्यो लुङि' प. विधान पक्ष में 'पुषादि०' से 'च्लि' को 'अङ्' 'अनिदिताम्०' से 'न्' लोप)। अस्यन्दिष्ट आदि।

अनुष्यदन्ते—(जलम्)—अनुपूर्वक स्यदन्ते के सकार को 'अनुविपर्यभिनिभ्यः स्यदन्तेरप्राणिषु' से षकार होता है। विकल्प से। पक्ष में 'अनुस्यन्दते जलम्'। प्राणी की कर्तृता में 'अनुस्यन्दते हस्ती'। 'अप्राणिषु' में 'नञ्' का पर्युदास अर्थ स्वीकार किए जाने से (प्राणी भिन्न प्राणीसदृश) 'मत्स्योदके-अनुष्यन्दते' में प्राण्यप्राणी-उभयकर्तृता का अप्राणि कर्तृत्वरूप से ग्रहण होने के

कारण षत्व होता है। सूत्र में 'प्राणिषु न' पाठ से असमर्थ समास, वाक्यभेद आदि दोष भी होते, और उक्त प्रयोग में षत्व भी नहीं हो पाता।

कल्पते--सामर्थ्यार्थक 'कृपू' (ऊदित्) धातु से लट्, त, शप्, गुण, एत्व आदि कार्य यथावसर होने पर 'कृपो रोलः' ('कृप' के रेफ को तथा 'कृप्' की 'ऋ' में रेफ सदृश वर्ण को 'ल्' होता है) से रेफ को 'ल्' होने से उक्ताकार में प्रयोग सिद्ध होता है। लिट् में--चक्लृपे।

कल्प्तासि,—'कृपू (ऊदित्)धातु से लुट्, आनेपर 'लुटि च क्लृपः' से वै० परस्मैपद होने से सिप्, (मध्यमपु० ए० व० में) तास्, 'स्वरति सूति' से प्राप्त 'इट्' का 'तासि च क्लृपः' से निषेध आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। परस्मैपदाभाव पक्ष में कल्प्तासे। इडभाव-पक्ष में (ऊदित्वात्)--कल्तासे। लृट् में--कल्प्स्यति, कल्पिष्यते, कल्प्स्यते। लुङ् में—अक्लृपत्, अकल्पिष्ट, अक्लृप्त (झलोझलि')। लृङ् में 'अकल्प्स्यत्, अकल्पिष्यत, अकल्प्स्यत'--आदि।

घटते—चेष्टार्थक 'घट' (अनुदात्तेत्) धातु से लट्, त, शप्, एत्वादि कार्य होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। भ्वाद्यन्तर्गत-घटादिगणान्तर्गत ('घट' प्रभृति) धातुओं को 'घटादयो मितः' (ग० सू०) से मिद्विधान फलस्वरूप 'घट्' से 'णिच्' आनेपर 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व (घाटि को घटि) होनेसे घटयति-आदि प्रयोग होते हैं। इसी प्रकार अघाटि-अघटि--शामिता-शमिता में चिण्णमुलोः०' से वै० दीर्घ होता है। घटादि के मित्संज्ञक होते हुए भी 'कमल वनोद्घाटनं कुर्वते ये' और 'प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव' पद्यान्तर्गत 'उद्घाटनम्' और 'प्रविघाटयिता' प्रयोगों की साधुता ('मितां ह्रस्वः' के रहते हुए) चौरादिक 'घट संघाते' से 'णिच्' करके जाननी चाहिये। संघातार्थक चौरादिक 'घट' धातु का ही चेष्टा अर्थ में स्थित प्रकृत धातु को अनुवादमात्र क्यों न मान लिया जाय! आशंका का उत्तर यह है कि, 'नान्येमितोऽहेतौ' (ग० सू० स्वार्थ 'णिच्' परे ज्ञपादि पञ्चक (ज्ञप्, यम, चह, रह, और बल) से अतिरिक्त चुरादि 'मित्' नहीं होते हैं) से मित्संज्ञा के निषिद्ध होने से अर्थभेद में मित्कल्पन से कार्य नहीं चल सकता, अतः स्वतन्त्र धातु का उपन्यास

समुचित है। ये घटादि 'षित्' भी है जिसके फलस्वरूप 'घटा' ('षिद्भिदादिभ्यश्च' से अङ्, ततष्टाप्) आदि प्रयोगों की सिद्धि होती है।

विव्यथे—भय और संचलनार्थक 'व्यथा' (अनुदात्तेत्) धातु से लिट्, त एश्, द्वित्व होने पर 'हलादिशेषः' को अपवादत्वात् बाधकर 'व्यथो लिटि' से 'अभ्यासघटक' य को सम्प्रसारण (इ) होने पर पुनः प्रसंगविज्ञान के आधार पर 'हलादि शेषः' से 'थ्' की निवृत्ति होती है। 'संप्रसारणाच्च' से पूर्वरूप होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

नटति,—नृत्ति-(गात्रविक्षेप) अर्थक 'नट' धातु से लट् 'तिप् शप्' आदि होने पर उक्त प्रयोग होता है। 'नट' धातु का घटादि गण में पाठ किए जाने से 'नटयति'। (णिच् 'परे 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व आदि प्रयोग सिद्ध होता हैं। नृत्तार्थक 'नट' धातु का इसके पूर्व टान्तों में भी पाठ आ चुका है, उसी का मित्वार्थ यहाँ पाठ है। केवल इतना ही अन्तर है कि पूर्वपठित का नाट्य अर्थ है। जिसके (नाट्यके) कर्त्ताको 'नट' कहा जाता है। वाक्यार्थ (काव्यादि) के अभिनय को नाट्य कहते हैं। घटादिपठित 'नट' का नृत्य और नृत दोनों ही अर्थ हैं जिसके (नृत्य के नृत्तके) करनेवालों को नर्तक कहा जाता है। पदार्थाभिनय को नृत्य और गात्रविक्षेपमात्र को नृत्त कहते है। कुछ विद्वानों के मतानुसार 'नट नृत्तौ न होकर, 'नट नतौ' है अथवा गतौ है। इस मत के अनुसार यहाँ (घटादि में) यह (नट) अपूर्व धातु है।

श्रापयति,—पाकार्थक 'श्रा' धातु से णिच्, लट, तिप्, शप्, पुक ('अर्तिह्रीव्ली०' से) घटाद्यन्तर्गत होने से 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व गुण, अयादेश आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। घटादिपाठफलप्रदर्शनार्थ ही भ्वादि में णिजन्त प्रयोग दिया गया है।

'लुग्विकरणालुग्विकरणयोरलुग्विकरणस्य' प०। ('स्वरतिसूति' में 'सूङ्' न कह कर 'सूतिसूयति' पाठकरण से ज्ञापित) के अनुसार पाकार्थक अग्रिम 'श्रै' का आत्व करने पर, अथवा न्यायसिद्ध 'लक्षणप्रतिपदोक्त' परिभाषा के बलपर आदादिक 'श्रा' का घटादि में अनुकरण (ह्रस्वादिकार्यार्थ) हैं। जहाँ पाक से भिन्न अर्थ है वहाँ 'श्रापयति' (स्वेदयति) ही होगा।

ज्ञपयति—मारण, तोषण और निशामनार्थक 'ज्ञा' धातु से णिच्, लट् तिप्, शप्, पुक्, ह्रस्व (मितां ह्रस्वः) गुण और अयादेश आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है माधवाचार्य के मत में 'निशामन' का अर्थ चाक्षुषज्ञानहोता है। औरों के मत में ज्ञापन (बतलाना) मात्र अर्थ है। निशामनके स्थान में 'निशान' पाठ स्वीकार किए जाने पर, 'निशान' का अर्थ तीक्ष्णीकारण होने से उस अर्थ में धातु की वृत्तिता स्वीकृत होती है। अवबोधनार्थक क्र्यादि गणपठित 'ज्ञा' धातु ही उक्त अर्थों में मित् कहलाता है। चुरादि में भी 'ज्ञप मिच्च' होने से उसका भी 'ज्ञपयति' ही होता है। ऐसी स्थिति में 'विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति' 'तज्ज्ञापयत्याचार्यः' आदि स्थलों में दीर्घपाठ की साधुता, माधवमतानुसार अचाक्षुषज्ञान अर्थ में मित् न होने से, और अन्य मत (ज्ञानमात्र) में नियोगार्थक 'ज्ञा' (चौरादिक) धातु का ('धातूनामनेकार्थत्वात्' सिद्धान्तानुसार) प्रयोग स्वीकार किए जाने से होती है। हरदत्ताचार्य के मतामुसार 'निशान' पाठ स्वीकार किए जाने से तो कोई अनुपपत्ति ही नहीं उपस्थित होती है।

ज्वालयति—'ज्वलह्वलह्मलनमामनुपसर्गाद्वा' (ग० सू०) से 'ज्वल' धातु को विकल्पेन मित् किए जाने से उक्त प्रयोग में ह्रस्व नहीं होता है। पक्ष में-ज्वलयति। उपसर्ग संयोगस्थिति में नित्य ह्रस्व होने से प्रज्वलयति। ऐसी स्थिति में 'प्रज्वालयति' 'उन्नामयति' आदि प्रयोगों की साधुता घञन्त से 'णिच्' (तत्करोति तदाचष्टे०') करने पर होती है। नित्य ह्रस्वविधायक 'मितां ह्रस्वः' और 'जनीजृष्क्नसुरञ्जोऽमन्ताश्च' के होते हुए 'संक्रामयति' प्रयोग की साधुता, 'वा चित्तविरागे' से 'वा' की अनुवृत्ति 'मितां ह्रस्वः' में स्वीकार किए जाने से और व्यवस्थितविभाषा (इष्ट स्थल में विधान अनिष्ट स्थल में अविधान) मानने से होती है। यह वृत्तिकार के मतानुसार उत्तर हुआ। सिद्धान्ततः घञन्त क्रम शब्द से प्रज्ञादित्वात् 'अण्' किए जाने पर, 'क्राम' से णिच्, (तत्करोति०') करने पर होती है। 'घञ्' परे तो 'नोदात्तोपदेशस्य' से वृद्धि निषेध हो जायगा, पर 'अण्' आने पर वृद्धि का अवरोध करनेवाला कोई

शास्त्र नहीं है। वृत्तिकार के मतानुसार 'रजो विश्रामयन् राज्ञाम्' धुर्यान्विश्रामयेति सः' आदि प्रयोग अनायास ही साधु माने जा सकते हैं।

कामयते, आमयति, चामयति—'जनीजृष्' से प्राप्तमित्व का (अमन्तत्व प्रयुक्त) 'नकम्यमि चमाम्' (ग० सू०) से निषेध होने के कारण उक्त प्रयोगों में 'मितां ह्रस्वः' से ह्रस्व नहीं होता है।

निशामयति (रूपम्)—'शमोदर्शने' (ग० सू०) से दर्शन अर्थ में मित्संज्ञा का निषेध होने से ह्रस्व नहीं होता है। दर्शनातीतिरिक्त अर्थ 'प्रणयिनो निशमय्य वधूः कथाः' आदिस्थलों (निशमय्य) में ह्रस्व होता है।

'शमो दर्शने' से दर्शन (देखना) अर्थ में ही मित्व का निषेध किए जाने से श्रवणाद्यर्थों में दीर्घोपध पाठ 'निशामय तदुत्पत्तिं विस्तराद्गदतो मम' (दु० स० श० अ० १ श्लो० २) आदिकों की साधुता, 'धातूनामनेकार्थत्वात्' के अनुसार आलोचनार्थक 'शम' धातु की श्रवणार्थ में वृत्ति स्वीकार करके की जाती है। 'नाऽन्ये मितोऽहेतौ' से मित्व का निषेध हो जाता है।

अवस्खादयति, परिस्खादयति,—'स्खदिरवपरिभ्यां च' से मित्संज्ञा का निषेध होने से ह्रस्व नहीं होता है। न्यासकारके मत में 'अपावपरिभ्यः' पाठ है। आचार्य क्षीरस्वामी के मतानुसार 'न कम्यमिचमाम्' से अग्रिम ३ सूत्रों में (शमोऽदर्शने, यमोऽपरिवेषणे', स्खदिरवपरिभ्यां च) 'न' की अनुवृत्ति न होने से, और त्रिसूत्री का उक्त पाठ स्वीकार किए जाने से उदाहरण प्रत्युदाहरणों में सर्वथा विपर्यय हो जाता है, जो वृत्तिकार और न्यासकार के विरोध से सर्वथा उपेक्ष्य है। स्वामिमतानुसार, 'अदर्शन में ही 'शम्' मित् हो, अपरिवेषण में ही 'यम्' मित् हो और 'अव' परिपूर्वक ही 'स्खदि' मित् हो' ऐसा उक्त तीनों सूत्रों का अर्थ होता है।

फेणतुः, फेणिथ—गत्यर्थक 'फण' धातु०—प० से लिट्, तप्, अतुस्, द्वित्व, आदि कार्य होने पर 'फणां च सप्तानाम्' से वै० एत्वाभ्यासलोप होने से 'फेणतुः', पक्षमे 'पफणतुः' होता है। सेट्थल् परे भी एत्वाभ्यासलोप प्रकृत सूत्र से होने के कारण 'फेणिथ, पफणिथ' होते हैं। घटादि पाठ के फलस्वरूप-फणयति। घटादि की समाप्ति 'फण' से पूर्व ही माननेवालों के मत में फाणयति।

रेजतुः, रेजे--दीप्त्यर्थक 'राजृ' (स्वरितेत्) धातु से लिट्, तस्, अतुस् द्वित्व आदि कार्य होनेपर, 'अतः' की अनुवृत्ति आनेपर भी 'सप्त' ग्रहण सामर्थ्य से 'फणां च सप्तानाम्' द्वारा एत्वाभ्यासलोप होता है। आत्मनेपद में-रेजे।

अपप्तत्--गत्यर्थक 'पत्लृ' (लृदित्) धातु से लुङ् अडागम, तिप्, च्लि आनेपर 'पुषादिद्युतादि०' से लृदित्वात् 'च्लि' को 'अङ्' होता है। 'पतः पुम्' से 'अङ्' परे पुम्' (अन्त्याच् से परे) होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। 'प्रण्यपप्तत्' में 'नेर्गद०' से णत्व होता है।

भ्रेमतुः, बभ्रमतुः—चलनार्थक 'भ्रम्' धातु से लिट्, तस्, अतुस्, द्वित्व आदि कार्य होनेपर 'वाजॄ भ्रमुत्रसाम्' से वै० एत्वाभ्यासलोप होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होते हैं। लुङ् में-अभ्रमीत्। 'ह्मयन्त०' से वृद्धि निषेध।

परिसोढा,—मर्षणा—(क्षमा) र्थक परिपूर्वक 'षह' (अनुदात्तेत्) धातु से लुट्, त, तास्, डा आदि कार्य होनेपर वलादिलक्षण नित्य 'इट्' को बाधकर 'तीषसह०' से 'इट्' विकल्पत्व बोधित किए जाने से इडभाव पक्ष में 'होढः' से ढत्व, झषस्तथोःसे' धत्व, 'ष्टुनाष्टुः' से ष्टुत्व, 'ढोढे लोपः' से ढ्लोप होनेपर, 'सहिवहोरोदवर्णस्य' से अकार को ओकार होता है। 'सोढः' द्वारा षत्व निषेध होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

पर्य्यसहत, पर्य्यषहत—परिपूर्वक 'षह' धातु सेलुङ् में निष्पन्न 'पर्य्यसहत' में 'सिवादीनां वाड्व्यवायेऽपि' से वै० षत्व होने से 'पर्य्यषहत भी होता है।

सीदति—विशरण, (बिखरना) गति और अवसादन (नाश) अर्थक 'षद्लृ' (लृदित्) धातु से लट्, तिप्, शप् होनेपर, 'पाघ्राध्मास्था-म्नादाण्दृश्यर्तिसर्तिशदसदां पिबजिघ्रधमतिष्ठमनयच्छपश्यर्च्छधौशीयसीदाः' से 'सद्' के स्थान में 'सीद्' आदेश होता है। 'शप्' के अकार में दकारसंयोग से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। लिट् में-ससाद, सेदतुः 'सेदुः' ('अत एकहल०' से एत्वाभ्यासलोप) सेदिथ, ससत्थ--आदि। लुङ् में-असदत् (लृदित्वादङ्)। निषीदति, न्यषीदत् ('सदिरप्रतेः' से षत्व)।

निषसाद —'स्थादिष्वभ्यासेन' से प्राप्त षत्व का 'सदेः परस्य लिटि' से निषेध होता है।

शीयते--शातन— विशीर्णता) अर्थक 'शदॢ' (ॡदित्) से लट् आनेपर 'शदेः शितः' से आत्मनेपदसंज्ञक प्रत्यय 'त' (आदि) होता है। 'पाघ्राध्मा०' से 'शीय' आदेश एवं शबादि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

चख्नतुः.—अवदारणार्थक 'खन्' धातु लिट्, तस्, अतुस्, द्वित्व आदि कार्य होनेपर, 'गमहनजनखनघसां लोपः क्ङित्यनङि' से उपधा (अ) का लोप होता है। लिट्-निमित्तक आदेशवान् होने से एत्वाभ्यासलोप नहीं होता है। आशीलिङ् में-खायात्, खन्यात् 'ये विभाषा' से वैकल्पिक आत्व।

गूहति--संवरणार्थक 'गुहू' (ऊदित्) धातु से उभयपदी होने से लट्, तिप्, शबादि होनेपर 'ऊदुपधाया गोहः' से गुण को बाधकर उपधा उ) को 'ऊ' होता है। दीर्घोपध होने से गुण नहीं होता है। आत्मनेपद पक्ष में-गूहते। लुट् में-गूहिता, गोढा। ऊदित् होने से 'स्वरतिसूति०' द्वारा विकल्पेन 'इट्'। लुङ् में-अगूहीत्, अधुक्षत्। 'शल इगुपधा०' से 'क्स'।

अगूढ,—'गुहू' (ऊदित्) धातु से लुङ्, त, अडागम, च्लि, क्स (इडभाव पक्ष में) आदि कार्य होनेपर 'लुग्वा दुहदिहलिहगुहामात्मनेपदे दन्त्ये' से 'क्स' का वैकल्पित लुक् होता है। लुक् पक्ष में 'ह् को 'ढ्' ('होढः' से) 'त्' को 'ध्' ('झषस्तथोः' से) ध् को 'ढ्' ('ष्टुना ष्टुः' से) ढ् लोप ('ढोढे लोपः' से) और दीर्घ ('ढ्रलोपे०' से) होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। लोपाभाव पक्ष में-अघुक्षत। आताम् परे अघुक्षाताम् ('क्सस्याचि' से आलोप) अघुक्षन्त-आदि

भरिष्यति—भरणार्थक 'भृञ्' (ञिदित्) धातु से लृट्, तिप्, स्य होनेपर 'ऋद्धनोः स्ये' से इट् होता है। गुण (अर्), षत्वादिकार्य होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

भ्रियात्—'भृ' धातु से आशीर्लिङ्, तिप्, यासुट्, होनेपर 'रिङ् शय ग्लिङ्क्षु' से 'ऋ' के स्थान में रिङादेश होता है। ह्रस्व इकारघटित आदेश विधानसामर्थ्य से 'अकृत्सार्वधातुकयोः०' से दीर्घ नहीं होता है।

भृषीष्ट—'भृ' धातु आशीर्लिङ्, आत्मनेपद में त, सीयुट्, सुट्

आदि होने पर 'उश्च' से झलादि लिङ् , के कित् किए जाने से गुण नहीं होता है।

अभृत—'भृ' (ञिदित्) धातु से लुङ् , त, अडागम, च्लि, सिच् आदि होनेपर 'ह्रस्वादङ्गात्' से सिच् का लुक् होता है। 'क्ङिति च' से गुण-निषेध। अभृषाताम्। लृङ् में—अभरिष्यत्।

दधौ—पान-(पीना) अर्थक 'धेट्' (टित्) धातु से लिट् , तिप् , णल् होनेपर 'आदेच उपदेशेऽशिति' (वस्तुतः उपदेशावस्था में ही) से आत्व (धातु के एकार को) किए जानेपर द्वित्व (धा-धा) अभ्यासकार्य ह्रस्व, जश्त्व आदि) आदि कार्य होते हैं। 'आत औ णलः' से 'णल्' के अकार के स्थान में 'औ' आदेश होता है। 'आ-औ' के स्थान में वृद्धिरूप-एकादेश औ) होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। 'धेट्' धातु का लट् में अयादेशादि होने से 'धयति' होता है।

दधतुः—कृतात्व ('आदेच उपदेशे०' से) पानार्थक 'धेट्' (टित्) धातु से लिट् , तस् , अतुस् , द्वित्वाभ्यासदि कार्य होने पर 'आतो लोप इटि च' से आलोप होता है। द्विर्वचनेऽचि' से निषिद्ध किए जाने के कारण द्वि व से पूर्व, परत्व के बलपर भी आलोप नहीं होता है। दधुः, दधिथ, (इट् परकत्वेन आलोप) दधाथ, दधिव, धाता—आदि।

धेयात्—कृतात्व 'धेट्' (टित्) धातु से आशीर्लिङ, तिप्. यासुट् आदि होनेपर 'एर्लिङि' से 'धा' के आकार को (घुसंज्ञानिमित्तक) एत्व होता है। 'दाधा घ्वदाप्' से 'धा' ('धेट्' के स्थानापन्न) धातु की उपदेशावस्था में ही घुसंज्ञा होती है। धेयास्ताम् , धेयासुः।

अदधत्—'धा' ('धेट्' के स्थानापन्न) धातु से लुङ्, अडागम, तिप् , च्लि आदि होनेपर 'विभाषा धेट्श्व्योः' से 'च्लि' के स्थान में 'चङ्' होता है। 'चङि' से धातु को द्वित्व किए जानेपर अभ्यासकार्य (ह्रस्व, जश्त्वादि) होता है। 'अतो लोप इटि च' से आलोप होने के कारण उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। अदधताम्—आदि।

अधात्—'धा' ('धेट्' के स्थानापन्न) धातु से लुङ , अडागम, तिप्

च्लि, सिच् आदि होनेपर 'विभाषा घ्राधेट्शाच्छासः' से वै० 'सिच्' का लुक् होता है। अधाताम्, अधुः ('आतः' से जुस्, 'उस्यपदान्तात्, से पर-रूप)—आदि।

अधासीत्—'धा' ('धेट्' स्थानिक) धातु से लुङ्, तिप्, अडागम च्लि, सिच् होनेपर 'यमरमनमातां सक् च' से धातु को सगागम और 'सिच्' के 'स्' को इडागम होता है। 'अस्ति सिचोऽपृक्ते' से 'त्' को 'इट्' किए जाने पर 'इट ईटि' से सलोप, 'सिज्लोप एकादेशे०' (वा०) के सहयोग से दीर्घ होने पर उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। अधासिष्टाम्, अधासिषुः।

ग्लेयात्—हर्षक्षयार्थक 'ग्लै' ('आदेच उपदेशे०' से कृतात्व 'ग्ला') धातु से आशीर्लिङ्, तिप्, यासुट्—आदि होनेपर 'वाऽन्यस्य संयोगादेः' से वै० एत्व होता है। पक्ष में—ग्लायात्। लुङ् में—अग्लासीत्।

सायात्, - क्षयार्थक 'षै' धातु से (जिसे उपदेशावस्था में 'धात्वादेः षः सः' से सत्व और 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व होता है) आशीर्लिङ्, तिप्, यासुट् आनेपर 'एर्लिङि' में अनुवृत्त 'घुमास्थागापाजहातिसां०' पदान्तर्गत 'सा' (स्) से 'षोऽन्तकर्मणि' दैवादिक का ही, व्याख्यान से या तन्त्रान्तर में 'जहाति-स्यतीनां' पाठानुसार ग्रहण होने से एत्व नहीं होता है। इसी प्रकार 'विभाषा घ्राधेट्' में श्यन्विकरण 'शा' और 'छा' के साहचर्य से श्यन्विकरण (दैवादिक) 'सा' के ग्रहीत होने से 'असासीत्' में सिज्लुक् नहीं होता है।

पिबति—पानार्थक 'पा' धातु से लट्, तिप्, शबादि होनेपर 'पाघ्राध्मां०' से पिबादेश होता है पिबादेश के व्याख्यानानुसार अदन्त स्वीकार किए जाने से गुण नहीं होता है। कुछ विद्वानों के मत में पिबादेश तो हलन्त है, पर 'अङ्गकार्ये कृते पुनर्नाङ्गकार्यम्' (प०) से गुण का निषेध होता है।

जह्वार—कौटिल्यार्थक 'ह्वृ' धातु से लिट्, तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यास कार्य ('उरत्०' 'हलादिः शेषः' आदि) होनेपर 'ज-ह्वृ-अ' की स्थिति में 'ऋतश्च संयोगादेर्गुणः' से गुण (रपर) होता है। उपधावृद्धि (अत उपधायाः) से होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। प्रकृत सूत्र का निर्माण यद्यपि कित् लिट्

के लिये है। तथापि परत्वात् णल् में भी प्रवृत्त होता है। जह्वरतुः--आदि। लृट् में--ह्वरिष्यति (ऋद्धनोः स्ये)।

ह्वर्यात्--कौटिल्यार्थक 'ह्वृ' धातु से आशीर्लिङ्, तिप्, यासुट्–आदि होनेपर 'गुणोर्तिसंयोगाद्योः' से गुण (रपर) होने से निर्दिष्ट प्रयोग सिद्ध होता है। लुङ् में 'अह्वार्षीत्, अह्वार्ष्टाम्–'–आदि।

सस्वरिव--शब्द और उपतापार्थक 'स्वृ' धातु से लिट्, वस्, व, द्वित्व, अभ्यासकार्य ('उरत्' 'हलादि, शेषः' 'आदि' होनेपर) 'असुकः किति' से वलादिलक्षण 'इट्' को बाधकर परत्वात् प्राप्त वैकल्पिक 'इट्' ('स्वरतिसूति०' से) को पुरस्तात् प्रतिषेधकाण्ड (इण्निषेधकशास्त्र) विधानसामर्थ्य से निषेध (इट् का) प्राप्त होता है, जो क्रादि नियम (लिट परे प्रकृत्याश्रय 'एकाच्' और प्रत्ययाश्रय 'श्युकः' इण्निषेध यदि हो तो 'कृ, सृ, भृ, वृ' इन ४ को ही हो) से अवरुद्ध होने से नित्य (वलादिलक्षण) 'इट्' होता है। इसी प्रकार 'सस्वरिम'। लृट् में 'स्वरिष्यति' 'ऋद्धनोः स्ये' से परत्वात् 'स्वरतिसूति०' को बाधकर नित्य 'इट्'। आशिर्लिङ् में 'स्वर्यात् 'गुणोऽर्तिः' से गुण। लुङ् में—अस्वारीत्, अस्वार्षीत् (स्वरति सूति' से वै० इट्)।

असार्षीत्--गत्यर्थक 'सृ' धातु से लुङ्, तिप्, अडागम, च्लि, सिच्, ईट्, (अस्ति सिचः०' से) वृद्धि (आर्) आदि होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। 'सर्तिशास्यर्तिभ्यश्च' से 'च्लि' को 'अङ्' इसलिए नहीं होता है कि, सूत्र में 'शास्ति' (आदादिक शब्लोपी) के साहचर्य से 'सर्ति' (सृ) और 'अर्ति' (ऋ) भी शब्लोपी (जौहोत्यादिक) ही गृहीत होते हैं। शीघ्रगत्यर्थक 'सृ' के स्थान में 'पाघ्राध्मा०' से 'धौ' आदेश होने के कारण 'धावति' (लट् में) होता है।

आर—गति और प्रापणार्थक 'ऋ' धातु से लिट्, तिप्, णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य ('उरत्' 'हलादि शेषः' आदि) होनेपर 'ऋच्छत्यृताम्' से 'ऋ' को गुण (रपर), 'अत उपधायाः' से वृद्धि, दोनों अकारों को दीर्घ आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। 'ऋ' धातु का लट् में—ऋच्छति ('पघ्मा०' से ऋच्छादेश) होता है।

आरिथ—गत्याद्यर्थक 'ऋ' धातु से लिट्, सिप्, थल्, द्वित्व, अभ्यास-कार्य, गुण, वृद्धि आदि होनेपर 'इडत्यर्तिव्ययतीनाम्' से 'थल् को नित्य इट्' ('अचस्तास्व०' और 'ऋतो भारद्वाजस्य' के नियम को बाधकर) होता है अन्य लकारों में—अर्ता, अरिष्यति (ऋद्धनोः स्ये) अर्यात्, आर्षात्, आर्ष्टाम् आदि।

असावीत्—प्रसव, (अभ्यनुज्ञान) और ऐश्वर्यार्थक 'षु' धातु ('धात्वादेः षः सः' से 'स') से लुङ् अडागम, तिप्, च्लि, सिच्, ईट् ('अस्तिसिचः०' से) आदि कार्य होनेपर 'स्तुसुधूञ्भ्यः परस्मैपदेषु' से 'सिच्' के 'स्' को इडागम होता है। 'इट ईटि' से सलोप, दीर्घ, वृद्धि आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। कतिपय विद्वानों के मत में प्रस्तुत सूत्र में पूर्व (स्तु) उत्तर (धूञ्) के साहचर्य से 'सु' भी 'श्नु' विकरणक (स्वादि) ही लिया जाता है, अतः यहाँ 'इट्' न होकर 'असौषीत्' ही प्रयोग होता है।

शृणोति,—श्रवणा-(सुनना) र्थक 'श्रु' धातु से लट्, तिप् किए जानेपर 'श्रुवः शृ च' से 'शप्' को बाधकर 'श्नु' (तिप् परे) प्रत्यय और धातु के स्थान में 'शृ' आदेश होता है। 'श्नु' (शित्) के ङित् (सार्वधातुकमपित्) होने के कारण तन्निमित्तक धातु को गुण नहीं होता है। स्वयं 'श्नु' के 'नु' को तिप् (पित्) निमित्तक गुण, णत्वादि कार्य होने से उक्त प्रयोग साधुत्व को प्राप्त होता है। तस् में—शृणुतः (तस् के ङित् होने से गुणाभाव)।

शृण्वन्ति—श्रवणार्थक 'श्रु' धातु से लट्, झि, अन्तादेश, धातु के स्थान में 'शृ' आदेश और 'श्नु' प्रत्यय होनेपर 'हुश्नुवोः सार्वधातुके' से 'उवङ्' को बाधकर 'यण्' होता है। शृणोमि, शृण्वः-शृणुवः, शृण्मः-शृणुमः, ('लोपश्चास्यान्यतरस्याम्' वै० उलोप)। अन्य लकारों में—शुश्राव, शुश्रोथ, शुश्रुव, शृणु, शृणवानि, शृणुयात्, श्रूयात्, और अश्रौषीत्।

दिग्ये—रक्षणार्थक 'देङ्' (ङित्) धातु से लिट् आनेपर 'दयतेर्दिगि लिटि' से निरवकाशत्वात् द्वित्व को बाधकर (विशेषविहितत्वेन, लिट् पर निमित्तकत्वेन च) 'दिगि' आदेश होता है। त, एशादि होनेपर 'यण्' होने

से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। उक्त धातु का लट् में—दयते। अन्य लकारों में दाता, दास्यते, दयताम्, अदयत--आदि।

अदित—रक्षणार्थक 'देङ्' (ङित्) धातु से लुङ्, अडागम, च्लि, सिजादि होनेपर 'स्थाघ्वोरिच्च' से 'दा' के आकार के स्थान में इकारादेश और सिच् को कित् किए जाने से गुणाभाव होता है।

तरति—प्लवन और तरणार्थक 'तॄ' धातु से लट्, तिप्, शबादि होने पर 'ऋत इद्धातोः' से प्राप्त इत्व को 'इत्वोत्वाभ्यां गुणवृद्धी विप्रतिषेधेन' (वा०) के सहयोग से पूर्वविप्रतिषेध के बलपर गुण ('सार्वधातुका०' से) होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। लिट् में--ततार, तेरतुः, तेरुः ('ऋच्छत्यॄ०' से गुण, 'तॄफल०' से एत्व)।

तरीता—'तॄ' धातु से लुट्, तिप्, तास्, डा, इट्, गुण--आदि कार्य होनेपर 'वॄतो वा' से 'इट्' को दीर्घ होता है। दीर्घ के वै० होने से पक्ष में तरिता। उक्त सूत्र में 'ग्रहोऽलिटि' से 'अलिटि' की अनुवृत्ति आने से 'तेरिथ' में दीर्घ नहीं होता है। आशीर्लिङ् में--तीर्यात् ('हलि च' से दीर्घ)।

अतारिष्टाम्—'तॄ' धातु से लुङ्, अडागम, तस्, ताम्, च्लि, सिच्, इट्, वृद्धि (रपर) आदि कार्य यथावसर होनेपर 'वृतोवा' से प्राप्त वै० इट्-दीर्घ का 'सिचि च परस्मैपदेषु' (वृङ्, वृञ् और ऋदन्त से सिजागम 'इट्' को दीर्घ नहीं होता है।) से निषेध होता है। एकवचन (अतारीत्) में दीर्घ विधान का या निषेध का प्रयोगाकार में अन्तर न होने से द्विवचन में उदाहरण दिया गया है।

जुगुप्सते—गोपन,-(रक्षण) अर्थक (वृत्तिकारानुसार निन्दार्थक) 'गुप' (अनुदात्तेत्) से 'गुपेर्निन्दायाम्' (वा०) से नियन्त्रित 'गुप्तिज्किद्भ्यः सन्' से 'सन्' प्रत्यय होता है। यहाँ 'सन् विधायकशास्त्र में 'धातोः' का अधिकार न होने से 'सन्' की अर्धधातुकसंज्ञा नहीं होती है अतः उसे 'इट्' और तन्निमित्तक गुण आदि नहीं होते हैं। 'सन्यङोः' से द्वित्व, (अभ्यासकार्य) होनेपर 'सनाद्यन्ता धातवः' से धातु-संज्ञा होने के कारण लट्, 'गुप्' का अनुदात्तेत्व 'गुप्' से लडादि न होने से अचरितार्थ होने से 'जुगुप्स से आगत लट्

के स्थान में त, शबादि होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। उक्त 'गुप्' धातु के समान 'सन्' भागी निशानार्थक 'तिज' (वृ० म० क्षमा), पूजार्थक 'मान' (वृ० म० जिज्ञासा) और बन्धनार्थक 'बन्ध' (वृ० म० चित्त-विकार) आदि धातु भी हैं, जिनसे 'गुप्तिज्किद्भ्यः०' द्वारा क्रमश 'तिजेः क्षमायाम्,' 'कितेर्व्याधिप्रतीकारे निग्रहे अपनयने नाशने संशये च', 'मानेर्जिज्ञासायाम्' 'वधेश्चित्तविकारे', 'दानेरार्जवे' और 'शानेर्निशाने' वार्त्तिकों के द्वारा निर्धारित अर्थों में 'सन्' होता है, 'मान्बधदान्शान्भ्यो दीर्घश्चाभ्यासस्य' से सूत्र पठित धातुओं को दीर्घ होता है। उदाहरण :—तितिक्षते (क्षमते), मीमांसते (जिज्ञासते), बीभत्सते—आदि हैं। अर्थान्तर में वे अननुबन्धक चुरादि हैं।

परिष्वजते—परिष्वङ्गार्थक (परिपूर्वक) 'स्वञ्ज' (अनुदात्तेत्) से लट्, त, शप्, एत्व, 'दंशसञ्जस्वञ्जां शपि', 'रञ्जेश्च' से नलोप होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

परिषस्वजे—परिपूर्वक 'स्वञ्ज' (अनुदात्तेत् से लिट्, त, एश्, द्वित्व, अभ्यासकार्य आदि होनेपर 'श्रन्थिग्रन्थिदम्भिस्वञ्जीनां लिटः, कित्वं वा' (व्याकरणान्तरानुसारि वचन) से लिट् के कित् किए जाने के कारण 'अनिदिताम्०' से नलोप और 'परिनिविभ्यः०' से प्रथम सकार को षत्व होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। 'स्थादिष्वभ्यासेन०' से द्वितीय सकार को प्राप्त षत्व का 'सदेः परस्य लिटि' सूत्रपर पठित 'स्वञ्जेरुपसंख्यानम्' वार्तिक से निषेध होता है। 'अत एकहल्मध्ये०' के भाष्य में 'देभतुः' और 'सदेः परस्य लिटि' के भाष्य में 'सस्वजे' प्रयोग का उपलब्धि के बल पर (एकदेशानुमति पक्ष से) तन्त्रान्तरोक्त लिट् को कित्वविधायक उक्त वचन, इस शास्त्र में भी प्रामाणिक माना जाता है। कित्व के वै० होने से पक्ष में—परिषस्वञ्जे। लुट् में 'स्वङ्क्ता' आदि। लुङ् में—'अस्वङ्क्त। 'प्रति' के योग में—प्रत्यष्वङ्क्त 'प्राक्सितात्' से षत्व। 'परि' के योग में—पर्य्यष्वङ्क्त, और पर्यस्वङ्क्त 'सिवादिनां वा' से वै० षत्व। 'अट्' के व्यवधान में वै० षत्वार्थ ही

'उपसर्गात्०' से षत्व सिद्ध होनेपर भी 'परिनिविभ्यः०' में पुनः 'स्वञ्ज का पाठ किया गया है।

अस्कदत्—गति और शोषणार्थक 'स्कन्दिर्' (इरित्) से लुङ्, अडागम, तिप्, च्लि आदि होनेपर 'इरितो वा' से 'च्लि' के स्थान में वै० 'अङ्' 'अनिदिताम्०' से न्लोप होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। पक्ष में—अस्कान्त्सीत्। उक्त धातु का लुट् में—स्कन्ता।

विष्कन्ता—'वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्' से वै० षत्व होता है। उक्त प्रयोग विपूर्वक 'स्कन्द्' (इरित्) से 'तृच्' करने पर निष्पन्न होता है। आचार्य माधव, षत्वविधायकशास्त्र में पठित 'अनिष्ठायाम्' पदान्तर्गत 'नञ्' के पर्युदासार्थक (सदृशग्राही) होने से उक्त शास्त्र की निष्ठासंज्ञक प्रत्ययों के परे ही प्रवृत्ति स्वीकार करते हैं। अन्य (प्राचीन) आचार्य 'निष्ठा' भिन्न सभी प्रत्ययों के परे (प्रत्ययत्वेन सादृश्यग्रहण के तर्क से) षत्व स्वीकार करते हैं। उनके अनुसार 'विष्कन्दति' प्रयोग साधु स्वीकार किया जाता है।

विस्कन्नः,—षत्वविधायकशास्त्र 'वेः स्कन्देरनिष्ठायाम्' में 'अनिष्ठायाम्' पद से 'निष्ठा' (क्त, क्तवतु) के वर्जित होने से उक्त स्थल में—जहाँ 'वि' पूर्वक 'स्कन्द् से' 'क्त' प्रत्यय हुआ है, और 'रदाभ्याम्०' से 'त' को और धातु के दकार को 'न' हुआ है, वहाँ 'वेः स्कन्देः' से षत्व नहीं होता है।

परिष्कण्णः-परिस्कन्नः,—परिपूर्वक 'स्कन्द्' से 'क्त' करनेपर 'परेश्च' से धातु के सकार को षकार होता है। 'अनिदिताम्०' से न्लोप, 'रदाभ्याम्' से धातु के दकार और प्रत्यय के तकार को न, मूर्धन्य षकार को निमित्त मानकर 'रषाभ्याम्०' से पूर्व नकार को ण, और ष्टुत्व द्वारा पर नकार को णत्व किए जाने से प्रथम प्रयोग सिद्ध होता है। 'असिद्धं वहिरङ्गमन्तरङ्गे' (प०) से पदद्वयापेक्ष षत्व, समानपदापेक्ष णत्व की दृष्टि में असिद्ध इसलिए नहीं होता है कि, 'पूर्वं धातूपसर्गेण युज्यते ततः साधनेन' 'सम्प्रसारणाच्च' सूत्रस्थभाष्य के सिद्धान्तानुसार 'धातु, और उपसर्ग का कार्य अन्तरङ्ग होता है', ऐसा स्वीकार कर लिया गया है। 'पूर्वं साधनेन पश्चात् उपसर्गेण' सिद्धान्त के अनुसार उक्त प्रयोग में षत्व के असिद्ध हो जाने से णत्व नहीं होता है, अतः नकारद्वय-घटित द्वितीय प्रयोग

भी साधु स्वीकार किया जाता है। किन्तु 'अभिषिषेणयिषति' और 'अभिगुणु' प्रयोगों के भाष्य में देखे जाने से त्रैपादिक अन्तरङ्गशास्त्र के 'षाष्ठ' ('वाह-ऊठ्' से ज्ञापित) 'बहिरङ्ग' परिभाषा की दृष्टि में असिद्ध होने से उक्त स्थल में 'बहिरङ्ग' परिभाषा प्रवृत्त ही नहीं होती है, अतः प्रथम (षत्वघटित) प्रयोग ही अधिक शास्त्र सम्मत है। षत्वविधायक 'परेश्च' का पृथक् योग किए जाने से 'अनिष्ठायाम्' का 'परेश्च' में सम्बन्ध नहीं होता है।

गच्छति,—गत्यर्थक प्रसिद्ध 'गम्लृ' (लृदित्) धातु से लट्, तिप्, शप्—आदि होनेपर 'इषुगमियमां छः' से 'म्' के स्थान में 'छ' होता है। 'छे च' से 'तुक्' किए जाने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। लिट् में जगाम, जग्मतुः, जग्मुः ('गमहन०' से उपधालोप), जगमिथ, जगन्थ—आदि। लुट् में—गन्ता।

गमिष्यति—गत्यर्थक 'गम्' धातु से लृट्, तिप्, स्य होनेपर 'गमेरिट्-परस्मैपदेषु' से 'इट्' होता है। 'आदेशप्रत्यययोः' से 'स्' को 'ष्'। लुङ् में—अगमत् (लृदित्वादङ्, 'अनङि' के पर्युदास के कारण, 'गमहन०' से उपधालोपाभाव)।

स्रप्ता-सर्प्ता—गत्यर्थक 'सृप्लृ (लृदित्) धातु से लुट्, तिप्, तास्, डा ('अनिट्त्वात्–इडभाव) आदि कार्य होनेपर 'अनुदात्तस्य चर्दुपधस्यान्यतरस्याम्' से अमागम, ('सृ' से परे) और 'यण्' (इकोयणचि) होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। अमागम के वै० होने से पक्ष में गुण होने से उक्त २ तीय प्रयोग सम्पन्न होता है। लृट् में-स्रप्स्यति-सर्प्स्यति लुङ् में—असृपत् (लृदित्वादङ्)।

निष्टपति,—सन्तापार्थक 'निस्' पूर्वक 'तप्' धातु से लट्, तिप्, शबादि होनेपर 'निसस्तपतावनासेवने' से 'स्' को 'ष्' होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। 'ष्टुना ष्टुः' से ष्टुत्व।

दद्रष्ठ,—प्रेक्षणार्थक 'दृशिर्' (इरित्) धातु से लिट्, सिप्, थल्, द्वित्व अभ्यासकार्य ('उरत्' 'हलादिशेषः आदि) होने पर 'सृजिदृशोर्झल्यमकिति' से अमागम होता है। 'इको यणचि' से 'यण्' 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'श्' को 'ष्' और ष्टुत्व होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। 'विभाषा' सृजिदृशोः' से

वै० 'इट्' का विधान होता है, अतः 'इट्' पक्ष में—ददर्शिथ (लघुपध-गुण)। लुट् में—द्रष्टा। लृट् में—द्रक्ष्यति। लिङ् में—दृश्यात्।

अदर्शत्,—प्रेक्षणार्थक 'दृश्' (इरित्) धातु से लुङ्, अडागम, तिप्, च्लि होनेपर 'इरितो वा' से 'च्लि' के स्थान में वै० 'अङ्' होता है। 'अङ्' परे ऋदृशोऽङि गुणः' से गुण (रपर) होता है। अङभाव पक्ष में—

अद्राक्षीत्—'दृश्' धातु से लुङ्, अडागम, तिप्, च्लि होनेपर 'सिच्' को बाधकर 'शल इगुपधा०' से 'च्लि' को 'क्सादेश प्राप्त होता है, जिसे 'न दृशः' निषिद्ध कर देता है। 'पुनः प्रसङ्ग' के बलपर 'च्लि' को सिजादेश, 'सृजि-दृशोः' से अमागम और 'वदव्रज०' से वृद्धि तथा 'व्रश्चभ्रस्ज०' से 'श्' को ष्, 'षढोः कः सि' से 'ष्' को 'क्', 'आदेशप्रत्यययोः' से 'सिच्' के 'स्' को ष्, 'तिप्' के 'त्' को 'अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईडादि कार्य होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

अक्राक्षीत्,—विलेखन (आकर्षण) अर्थक 'कृष्' धातु से लुङ् अडागम, तिप्, च्लि, आदि होने पर 'स्पृशमृशकृशतृपदृपां च्लेः सिज्वा वाच्यः, से क्सादेश को बाधकर वै० सिजादेश च्लि के स्थान में होता है। 'अनुदात्तस्य'० से वै० अमागम, यण्, 'श' को ष, 'ष्' को 'क्' सिच्के 'स्' को 'ष्; तिप् के 'त्' को अडागमादिकार्य यथाविधि होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। अमागमाभाव पक्षमें वृद्धि होकर 'अकार्क्षीत्; सिजादेशाभव पक्षमें 'क्स' होकर अकृक्षत् प्रयोग होता है।

इयाज'—देवपूजा, सङ्गतिकरण, और दानार्थक 'यज्' धातुसे लिट्' तिप्' णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य आदि होनेपर 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' (वच्यादि, और ग्रह्यादि के अभ्यास को लिट् परे सम्प्रसारण होता है।) से पूर्व यकार को सम्प्रसारण होता है। 'अत उपधायाः' वृद्धिहोने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

ईजतुः,—देवपूजाद्यर्थक 'यज' (उभयपदी) धातु से लिट्, तस्, अतुस् होने पर 'सम्प्रसारणं तदाश्रयं चकार्यंबलवत्' (द्वित्वात्परत्वात्') नियमके अनुसार द्वित्व को परत्वात् बाधकर 'वचिस्वपियजादीनां किति' से (कित् संज्ञा लिट् की 'असंयोगाल्लिट्कित्' से होती है') सम्प्रसारण एवं 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्व

रूप होता है। 'इज् अतुस्' स्थिति में 'पुनः प्रसंग विज्ञानात्सिद्धम्' नियम के अनुसार बाधित द्वित्व के पुनः प्रवृत्त होने से 'इज्-इज्-अतुस्' स्थिति होती है। अभ्यासकार्य, सवर्णदीर्घ, प्रत्यय के सकार को रुत्व विसर्गादि होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। इसी प्रकार 'ईजुः', (झि को 'उस्'।) थल् में, इयजिथ, इयष्ठ (भारद्वाज नियम से थल् में वै० इट्)। आत्मनेपद पक्ष में 'ईजे'। अन्य लकारों में यष्टा, यक्ष्यति, इज्यात्, यक्षीष्ट, अयाक्षीत्, अयष्ट आदि।

ऊषतुः,—निवासार्थक 'वस्' (परस्मैपदी) धातुसे लिट्, तस्, अतुस् होने पर द्वित्वको परत्वात् बाधकर 'वचिस्वपियजादिनांकिति', से सम्प्रसारण, एवं 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप होता है। पुनः प्रसंग०' से द्वित्व, अभ्यास कार्य, दीर्घादि होने पर 'शासिवसिघासीनां च' से धातुके सकारको षत्व होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

वत्स्यति,—निवासार्थक 'वस्' धातु से लृट्, तिप्, स्य, आदि होने पर 'सः स्यार्धधातुके' से धातुके 'स्' को 'त्' होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। अन्य लकारों में;-उष्यात्, अवात्सीत् आदि।

उवाय,—तुन्तुसन्तान-(कपड़ाबुनना) अर्थक 'वेञ्' (उभयपदी) से लिट् आनेपर, 'वेञो वयिः' से 'वे' के स्थान में 'वय्' आदेश होता है। द्वित्व, अभ्यसकार्य आदि होनेपर 'लिट्यभ्यसस्योभयेषाम्' से 'व्' को सम्प्रसारण, 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। अभ्यासघटक यकारको सम्प्रसारण इसलिए नहीं होता है कि, 'लिटिवयो यः' निषेधक शास्त्र विद्यमान है।

ऊयतुः,—'वय्' (वेञ् स्थानापन्न) लिट् स्थिति में द्वित्व को बाधकर 'वचिस्वपियजादीनां किति' से 'व' को 'उ' होता है। 'सम्प्रसारणाच्च' से पूर्वरूप 'ग्रहिज्यावयिव्यधिवष्टिविचतिवृश्चतिपृच्छतिभृज्जतीनां ङितिच' से अभ्यास घटक यकार को सम्प्रसारण प्राप्त होता है पर, 'लिटि वयो यः' से निषिद्ध हो जाता है। 'उय्-उय' द्वित्व, अभ्यासकार्य, दीर्घादि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। इसी प्रकार ऊयुः।

ऊवतुः—'वय्' (वेञ् स्थानापन्न) लिट् स्थिति में पूर्ववत् सम्प्रसारण पूर्वरूप द्वित्व, अभ्यासकार्य, दीर्घादि होनेपर 'वश्चास्यान्यतरस्यां किति' से 'य्' को 'व्' होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। 'वय्' को सम्प्रसारण करते समय 'नसम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' नियम के बलपर 'य्' को सम्प्रसारण प्राप्त होता है जिसे 'लिटिवयोयः' अवरुद्ध कर देता है। परिशेषात् प्रथम यण् वकार को सम्प्रसरण होता है। इसी प्रकार ऊवुः। 'वय्' से तास् आता नहीं अतः थल् में नित्य इट् उवयिथ। आत्मनेपद में ऊये, ऊवे ('वेञ्' के ञ् के आधार पर स्थानिवद्भाव के बल से तङ्)।

वयादेश के वै० होने से वयादेशाभाव पक्ष में—

ववौ,—'वे' लिट् स्थिति में 'लिट्यभ्यासस्योभयेषाम्' से प्राप्त सम्प्रसारण का 'वेञः' से निषेध होता है। 'आदेच उपदेशेऽशिति' से आत्व, द्वित्व, 'आत औ णलः' आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। आत्मनेपद में ववे आदि। अन्य लकारों में वाता, ऊयात्, वासीष्ट, अवासीत आदि।

विव्याय,—संवरणार्थक 'व्येञ्' धातु से लिट्, तिप्, णल् परे (वस्तुतः (उपदेशावस्था में ही) 'आदेच उपदेशेऽशिति' से प्राप्त आत्व का 'नव्यो लिटि' से निषेध होता है। 'अचोञ्णिति' से वृद्धि, (व्ये को व्यै) होने पर द्वित्व, 'लिट्यभ्यासस्य०' से 'य्' को सम्प्रसारण, पूर्वरूप, आयादेश आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। 'हलादिशेषः' से परत्वात् य् लोप होने से उव्याय प्रयोग होना चाहिये? आशंका का उत्तर यह है कि, 'लिट्यभ्यासस्य' में अनुवृत्ति से ही वच्यादि और ग्रह्यादि का संग्रह हो जाता पुनः कृत 'उभयेषाम्' पद इस बात का प्रमाण है कि, सम्प्रसारण, पर 'हलादि-शेषः' को भी बाधता है। अतुस् में विव्यतुः ('वचिस्वपि०' से सम्प्र०) अन्य लकारों में व्याता, वीयात्, व्यासीष्ट, अव्यासीत्, अव्यास्त आदि।

जुहाव,—स्पर्धा और शब्दार्थक 'ह्वेञ्' (उभयपदी) धातु से लिट् आने पर द्वित्व से पूर्व 'अभ्यस्तस्य च' से सम्प्रसारण, (पूर्वरूप) होनेपर द्वित्व, (हु-हु) वृद्धि, आवादेश आदि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

अहृत,—स्पर्धाद्यर्थक ह्वेञ् (उभयपदी) धातु से लुङ् विवक्षा में 'आदेच

उपदेशेऽशिति' से आत्व होनेपर लुङ् के स्थान में तिप् , च्लि,(ति और धातु के मध्य में) होते हैं। सिजादेश को बाधकर 'लिपिसिचि ह्वश्च' से च्लि को अङ् होता है। 'आत्मनेपदेष्वन्यतरस्याम्' से आत्मनेपद में वै० अङ् होता है। आलोप आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। आत्मने पद में 'आतोलोप' अह्वत, अह्वास्त आदि।

शुशाव,—गति और वृद्धयर्थक 'टुओश्वि (ओदित् एवं ट्वित्) धातु से लिट् आनेपर विशेष विहितत्वेन द्वित्व से पूर्व 'विभाषा श्वेः' से वै० सम्प्रसारण (पूर्वरूप) होनेपर द्वित्व, वृद्धि, आवादेश आदि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। सम्प्रसारणाभाव पक्ष में :—

शिश्वाय,—'श्वि श्वि अ' स्थिति में 'लिट्यभ्यासस्य०' से प्राप्त सम्प्रसारण का 'श्वयतेर्लिट्यभ्यासलक्षणप्रतिषेधः' (वा०) से निषेध होता है। 'हलादि-शेषः' से वृद्धि, आयादेश आदि होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। अन्य लकारों में श्वयिता, श्वयेत् , शूयात् आदि। लुङ् में :—

अश्वत्—'श्वि' धातु से लुङ्, अडागम, तिप्, च्लि, होनेपर 'जृस्तम्भु०' से च्लि के स्थान में वै. अङ् होता है। श्वयतेरः' से अङ् परे श्वि के इकार को अकार होता है। 'अतोगुणे' से पररूप होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। अङभाव पक्ष में:—

अशिश्वियत्—'अश्वि च्लि त्' स्थिति में 'विभाषा धेट्श्व्योः' से च्लि के स्थान में वै. चङादेश होता है। 'चङि' से द्वित्व, अभ्यास कार्य, 'अशि श्वि अत्' स्थिति में 'अचिश्नु०' से इयङ् होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। चङभाव पक्ष में:—

अश्वयीत्—'अश्वि इ-स-ईत्' स्थिति में 'इट ईटि' से सलोप, 'सिचिवृद्धिः'० से प्राप्त वृद्धि का 'ह्मयन्त०' से निषेध होने के कारण 'सार्वधातु०' से गुण, अयादेश, दोनों ईटों को दीर्घ आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। भ्वादिगण इसी धातु पर समाप्त होता है, ऐसा यहाँ पठित 'वृत्' का अर्थ है यह भी १ मत है। दूसरे मत से 'वृत्' द्वारा केवल यजादिकों की पूर्णता की

सूचना है। भ्वादि तो आकृतिगण है, अतः चुलुम्पति (शब्निकरण) आदि सिद्ध होते हैं।

ऋतीयते- कृपा, अथवा जुगुप्सार्थक 'ऋत्' (सौत्र) धातु से उपदेशावस्था में ही 'ऋतेरीयङ्' से 'ईयङ्' होता है (स्वार्थ में)। 'सनाद्यन्ताः' से धातु संज्ञा होनेपर लट्, त, शप् त को एत्वादि होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। 'वञ्चि लुञ्च्यृतश्च' निर्देश के बलपर उक्त धातु तान्त है, इकारान्त नहीं। सूत्र मे 'ऋतेः' निर्देश 'इकस्तिपौ धातु निर्देशे' के आधार पर है। लिट् में ऋतीयांचक्रे। 'आयादय आर्धधातुके वा' से 'ईयङ' की लिडादि में विकल्पता बोधित किए जाने से ईयङभाव पक्ष में 'शेषात्कर्तरि परस्मैपदम्' से परस्मैपद की आज्ञा प्रदान की जाती है, अतः लिट् के स्थान में 'तिप्' (ऋत्-तिप्) 'णल्' द्वित्व, अभ्यासकार्य ('उरत्' 'हलादि शेषः') 'अत आदेः' से दीर्घ, 'तस्मान्नुड्०' से 'नुट्' गुण आदि होने से 'आनर्त' सिद्ध होता है। अन्य लकारों में- अर्तिष्यति, आर्तीत् आदि। 'ऋतेरीयङ्' के स्थान में 'ऋतेश्छङ्' लघु सूत्र विधान न करना सूचित करता है कि, धातुविहित फकारादि के स्थान में 'आयनेयी०' से आयन्नादि नहीं होते हैं।

इतिभ्वादिगणप्रकरणम्।

अथादादिप्रकरणम्

अत्ति—भक्षणार्थक 'अद्' धातु से लट् 'तिप्' शबादि होने पर 'अदिप्रभृतिभ्यः शपः' से शप् का लुक् होता है। इस गण के धातुओं से आगत शप् का 'अदिप्रभृति०' से सर्वत्र लुक् होता रहेगा। अत्तः, अदन्ति। लिट् में—

जघास—भक्षणार्थक 'अद्' धातु से लिट् आने पर, 'लिट्यन्यतरस्याम्' से 'अद्' के स्थान में वै० 'घस्लृ' (लृदित्) आदेश होता है। लिट् के स्थान में 'तिप्' तिप् के स्थान में 'णल्' धातु को द्वित्व, अभ्यास कार्य, ('हलादि शेषः' 'कुहोश्चुः' आदि) और 'अत उपधायाः' से वृद्धि होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। अतुस् में-जक्षतुः। 'गमहन०' से उपधालोप, 'नपदान्त०' से चविधि कर्त्तव्यता में स्थानि वद्भाव के निषिद्ध किए जाने से 'खरिच' द्वारा 'घ्' को 'क्' और 'शासिवसि०' से 'स्' को 'ष्' तथा 'क्-ष् संयोगे क्षः' आदि कार्य किए जाते हैं। इसी प्रकार जक्षुः। जघसिथ, 'वस्' से तास् की सम्भावना न होने से थल् में नित्य ही इट् होता है। 'घस्लृ' आदेश के वै० होने से पक्ष में आद, आदतुः आदि।

अद्धि—'अद्' धातु से लोट्, सिप्, शब्लुक् आदि होने पर 'हुझल्भ्यो-हेर्धिः' से 'हि' के स्थान में 'धि' आदेश होता है।

आदत्,—'अद्' धातु से लङ्, तिप्, आडागम, शब्लुक्, और 'इतश्च' से तिके इकार का लोप होनेपर, 'अदः सर्वेषाम्' से तिप् के त् को अडागम होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

अघसत्—'अद्' धातु से 'लुङ्' किए जाने पर 'लुङ्सनोर्घस्लृ' से अद् के स्थान में 'घस्लृ' (लृदित्) आदेश होता है। अडागम, तिबादेश,

और मध्य में च्लि होने पर 'पुषादि द्युतादि०' से च्लि के स्थान में 'अङ्' होता है।

हतः--हिंसा, (प्राणवियोगानुकूल व्यापार) और गत्यर्थक 'हन्' धातु से लट्, तस्, शब्लुक् होनेपर 'अनुदात्तोपदेश वनतितनोत्यादीनामनुनासिक-लोपो झलि क्ङिति' से 'न्' लोप होता है। तिप् में प्रणिहन्ति। 'नेर्गद०' से णत्व। 'झि' में घ्नन्ति। 'गमहन०' से उपधालोप।

प्रहण्मि--प्र पूर्वक 'हन्' धातु से लट्, मिप्, शब्लुक् आदि होनेपर 'वमोर्वा' से 'हन्' के 'न्' को 'ण्' थि० से होता है। पक्षमें प्रहन्मि। लिट् में-जघान, ('हो हन्तेः' से कुत्व) जघ्नतुः, ('गमहन्०' से उपधालोप) जघ्नुः आदि। थल् में -

जघनिथ--'ज हन् इ-थ' स्थिति में 'अभ्यासाच्च' से अभ्यासोत्तर ह् को 'घ्' होता है। इडभाव पक्षमें जघन्थ। अन्यलकारों में हन्ता, हनिष्यति, ('ऋद्धनोः०' से इट्) हन्तु, हतात्, घ्नन्तु

जहि--हन् धातु से लोट्, सिप्, हि, शब्लुक् आदि कार्य होने पर 'हन्तेर्जः' से हन् के स्थान् में 'ज' आदेश होता है। जादेश के आभीय ('भस्य' से पूर्व) होने से 'असिद्धवदत्राभात्' से असिद्ध होने के कारण 'अतो हेः' से हि लुक् नहीं होता है।

वध्यात्--'हन्' धातु से आशीर्लिङ्, तिप् यासुट् आदि से पूर्व ही 'आर्धधातुके' के अधिकार में स्थित 'हनो वध लिङि' से हन् के स्थान में वधादेश होता है। वधादेशके औपदेशिक अदन्त होने से तथा 'अतो लोपः' से यासुट् परे अल्लोप होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। वध्यास्ताम्। विधिलिङ् में सार्वधातुककी सम्भावना होने से 'आर्धधातुके' (विषयसप्तमी) ग्रहण फलस्वरूप 'हन्यात्' में वधादेश नहीं होता है। प्रहण्यात् ('हन्तेः' से णत्व)। लुङ् में अवधीत्, 'लुङि च' से विहित वधादेश के औपदेशिक अदन्त होने से 'एकाचः०' से इण्निषेध नहीं होता हैं। 'अतो हलादेः' से प्राप्त वृद्धि, अल्लोप के स्थानिवद्भाव किए जाने से अकार के अभाव के कारण नहीं

होती है। हन् धातु का हिंसा अर्थ में प्रयोग तो सर्वत्र ही हैं पर, 'पद्धतिः' (पद्भ्यां हन्यते गम्यते यत्र) और—

"तीर्थान्तरेषु स्नानेन समुपार्जित सत्कृतिः
सुरस्रोतस्विनीमेष हन्ति सम्प्रतिसादरम्'

आदि स्थलों में गति अर्थ में भी प्रयोग उपलब्ध होता है।

अद्विषुः—अप्रीत्यर्थक 'द्विष्' (स्वरितेत्) धातु से लङ्, अडागम, झि, आदि कार्य होने पर, 'द्विषश्च' से झि को जुस् होता है।

चष्टे—व्यक्तवागर्थक (किसी के मत में दर्शनार्थक भी) चक्षिङ (इदित् और ङित्) धातु से लट्, शब्लुक्, होनेपर, 'स्कोः संयोगाद्योः' से क् लोप, और 'ष्टुनाष्टुः' से ष्टुत्व, तथा 'त्' को एत्व होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। चक्षिङ् धातु का इकार जो अनुदात्त है, 'उपदेशे०' से इत्संज्ञक होता है। इदित् होने से 'विचक्षणः प्रथयन्' आदि स्थलों में 'अनुदात्तेतश्च हलादेः' से युच् होता है। 'इकारोऽन्तिम इत्-यस्य' व्याख्यान के आधार पर 'इदितो नुम् धातोः' की प्रवृत्ति अन्तिम इकार के इत् जानेपर ही स्वीकार किए जाने से प्रकृत धातु को नुम् नहीं होता है। अनुदात्त इकार के इत् होने से अनुदात्तेत् लक्षण ही आत्मनेपद सिद्ध था पुनः कृत ङकारानुबन्ध 'अनुदात्तेत्प्रयुक्तमात्मनेपदमनित्यम्' (प०) ज्ञापन के लिए है। उक्त ज्ञापन के फल स्वरूप 'स्फायन्निर्मौकसन्धी'त्यादि सिद्ध होते हैं। अन्यथा स्फायी (वृद्धौ) के अनुदात्तेत् होने से शत्रादेश दुर्लभ हो जाता। चक्षाते।

चख्यौ—स्पष्टभाषणार्थक 'चक्षिङ्' धातु से लिट्-विवक्षा में 'आर्धधातुके' के अधिकार में स्थित 'चक्षिङः ख्याञ्' से चक्षिङ् के स्थान में ख्याञादेश होता है। लिट् के स्थान में तिप् णल्, द्वित्व, अभ्यासकार्य, (च-ख्या-अ) 'आत औ णलः' से औ-आदेश, और वृद्धि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। 'वा लिटि' के आदेश से लिट् में ख्याञादेश के वै० होने से पक्ष में चचक्षे। ख्याञादेश पक्ष में 'ख्याञ्' के ञित् होने से (उभय पद) चख्ये। भाष्यकार के मत में चक्षिङ् के स्थान में ख्शाञादेश स्वीकार किए जाने से, और असिद्धकाण्ड में 'शस्य यो वा' वचन से 'य' विधान

[...]ल्प से किए जाने से यादेशाभाव पक्ष में चक्शौ, चक्शे भी होते हैं। [...]लकारों में ख्याता, क्शाता, ख्यास्यति, ख्यास्यते, क्शास्यति, क्शा स्यते, [...]ष्ट, चक्षीत, ख्यायात्, ख्येयात् ('वाऽन्यस्य') क्शायात्, क्शेयात् आदि। [...] में—

अख्यत्—'अ-ख्या-(चक्षिङ् के स्थानापन्न) च्लि-त्' स्थिति में [...]स्यतिवक्तिख्यातिभ्योऽङ्' से च्लि के स्थान में अङादेश होता है। आत्म-[...]पदमें अख्यत। 'आतोलोप इटि च' से आलोप। यादेशाभावपक्षमें अक्शा-[...]त् ('यमरमनमातां सक् च') अक्शास्त। 'वर्जने क्शाञ् नेष्टः' वार्तिक [...] अनुसार वर्जन-अर्थद्योतकता में क्शाञादेशाभाव होने से समचक्षिष्ट [...]दि।

ईडिषे—स्तुत्यर्थक 'ईड' (अनुदात्तेत्) धातु से लट्, थास् से, आदि [...]ने पर 'ईडजनोर्ध्वेच' से (ईशः से') 'से' को इडागम, षत्व होने से उक्त प्रयोग [...]द्ध होता है। प्रथमपुरुष एकवचन में ईट्टे। मध्यमपुरुष बहुवचन में [...]ड्ध्वे (प्रकृत सूत्र से इडागम)। लिट् में ईडांचक्रे। अन्य लकारों में-- [...]डिता, इडिष्यते, ईड्ढाम् आदि। लोट् के म० पु० एकवचन में--ईडिष्व, [...]एकदेशविकृत न्याय से 'स्व' परे भी इडागम) मध्यमपुरुष बहुवचन में-[...]डिध्वम्, ('सवाभ्यां वा मौ' से ए के स्थान में अमादेश होने से 'ध्वे' का [...]म्' रूप होने पर भी 'एकदेशविकृत न्याय के बलपर इडागम)। लङ् में [...], ऐडाताम्, ऐडत, ऐट्टाः, ऐडाथाम्, ऐड्ढवम् आदि। अन्तिमप्रयोग [...]'एकदेशविकृत' न्याय के बलपर इडागम की आशंका इसलिए नहीं करनी [...]हिये कि, उक्त न्याय से प्रकृति से विकृति का ग्रहण होता है, नकि विकृति [...]प्रकृति का। 'ध्वे' स्वयं विकृति (ध्वम् की) है, उसके ग्रहण से उसकी [...]कृति ध्वम् का ग्रहण नहीं हो सकता। लोट् लकार में 'सवाभ्याम्' से अम् [...]ने के कारण विकृति की विकृति है, प्रकृति नहीं। ईड धातु के समान ही [...]श्म ऐश्वर्यार्थक 'ईश' धातु के भी प्रयोग जानने चाहिएँ।

आसांचक्रे, उपवेशनार्थक 'आस' धातु से लिट् आनेपर 'दयायासश्च'

से आम्, 'कृञ्च०' से लिट्परक कृ का अनुप्रयोग, द्वित्वादिकार्य होने से प्रयोग सिद्ध होता है।

आशास्ते—इच्छार्थक, आङ्पूर्वक शास् ('आङः शासु इच्छायाम्') धातु से लट्, त, शब्लुक्, एत्वादि होने से प्र० सिद्ध होता है। उक्त धातु का आङ्पूर्वत्व व्याख्यान के बलपर प्रायिक (क्वाचित्क) है, अतः 'नमोवाकं प्रशास्महे' की 'धातूनामनेकार्थत्वात्' के आधारपर साधुता स्वीकार की जाती है। 'वाक' शब्द की साधुता परिभाषणार्थक 'वच्' से घञ् करके होती है। 'वाच्' शब्दका तो 'वाचम्' होगा।

शेते—स्वप्ना-(शयन) र्थकक 'शीङ्' (ङित्) धातु से लट्, त, शब्लुक्, एत्व आदि होनेपर 'शीङः सार्वधातुके गुणः' से 'क्ङिति च' को अपवादत्वात् बाधकर गुण (धातु को) होने से उक्तप्रयोग सम्पन्न होता है। शयाते।

शेरते—स्वप्नार्थक शीङ् धातु से लट्, झ, शब्लुक्, अदादेश ('आत्मनेपदेष्वनतः' से) होने पर 'शीङोरुट्' से झस्थानिक अदादेश को रुडागम, एत्व ('टित आत्मनेपदानाम्' से) होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। अन्य लकारों में—शिश्ये, शयिता, अशयिष्ट आदि।

यौति—मिश्रण, (मिलाना) और अमिश्रण (अलग २ करना) अर्थक 'यु' धातु से लट् तिप् शब्लुक् आदि होनेपर 'उतो वृद्धिर्लुकि हलि' से 'यु' को वृद्धि (यौ) होने से तथोक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। युतः, युवन्ति। अन्य लकारों में—युयाव, यविता, युयात्, ('उतोवृद्धि' से वृद्धि इसलिए नहीं होती है कि, 'यासुट्परस्मैपदेषु०' से यासुट् को ङित् किया जाता है। 'यदागम०' परिभाषा से 'यासुट्' पित् इसलिए नहीं कहलाता कि, भाष्यकार ने 'ङिच्च पिन्न, पिच्च ङिन्न' सिद्धान्त स्थापित किया है।) आशीर्लिङ् में-यूयात्। लुङ् में, अयावीत्।

रवीति—शब्दार्थक रु धातु से लट्, तिप्, शब्लुक् आदि होनेपर, 'तुरुस्तुशम्यमः सार्वधातुके' से 'ति' को ईडागम होता है। गुण, अवादेशादि होने से प्रयोग सिद्ध होता है। ईडादेश के वै० होने से पक्ष में रौति ('उतो वृद्धि

वृद्धि) प्रकृत सूत्र में 'नाभ्यस्तस्य०' से 'सार्वधातुके' की अनुवृत्ति सम्भव होनेपर पुनः कृत 'सार्वधातुके' फलस्वरूप अपित् (तसादि) स्थल में भी ईट् होता। रुवीतः। रुवन्ति, (हलादित्वाभावादिडभाव) प्रकृतसूत्र में 'भुसुवोः०' से तिङि' की अनुवृत्ति न आती तो, 'शाम्यति' में भी ईट् हो जाता। 'सार्वधातुके' द न होता तो, आशीर्लिङ् में (रूयात्) भी ईट् हो जाता। विधिलिङ् में, यात्, रुवीयात् (वै० ईट्) लुङ् में-अरावीत् लृङ् में, अरविष्यत्।

ऊर्णौति—आच्छादनार्थक 'ऊर्णुञ्' (ञिदित्) धातु से लट्, तिप्, शप्लुक् होनेपर 'ऊर्णोतेर्विभाषा' से वै० वृद्धि होती है। वृद्ध्यभावपक्ष में गुण ऊर्णोति। ऊर्णुवन्ति। आत्मनेपद में,— ऊर्णुते, ऊर्णुवाते, ऊर्णुवते-आदि। लिट् में—

ऊर्णुनाव— आच्छादनार्थक 'ऊर्णु' धातु से लिट्, आनेपर 'इजादेश्च गुरुमतोऽनृच्छः' से प्राप्त 'आम्' का 'ऊर्णोतेराम् नेति वाच्यम्' से निषेध होता है। लिट् के स्थान में तिप्, तिप् के स्थान पर णल् होने पर 'अजादेर्द्वितीयस्य' के अनुसार रेफ सहित 'नु' शब्द को प्राप्त द्वित्व का 'नन्द्राः संयोगादयः' से निषेध होने के कारण केवल 'नु' शब्द को द्वित्व होता है। णत्व असिद्ध है, अतः 'नु' ही द्वित्व भागी होता है। यद्यपि 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' (प०) के अनुसार द्वित्वकर्त्तव्यता में णत्व असिद्ध नहीं होना चाहिये, तथापि 'प्राणिणत्' आदि प्रयोग 'अनितेः' से णत्व किए जाने पर द्वित्व किए जाने से ('पूर्वत्रासिद्धीयम्०' के बलपर) सिद्ध हो ही जाता, पुनः कृत 'उभौ साभ्यासस्य' सूत्र यह बतलाता है कि, पूर्वत्रासिद्धीयम्' (प.) अनित्य है। वृद्धि आवादेशादि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। ऊर्णुनुवतुः, ऊर्णुनुवुः।

ऊर्णुनुविथ—आच्छादनार्थक 'ऊर्णुञ्' (उभयपदी) धातु से लिट्, सिप्, थल्, द्वित्व, (नु शब्द को) अभ्यासकार्य आदि होने पर 'आर्धधातुकस्येड्वलादेः' से विहित इट् को 'विभाषोर्णोः' से विकल्पेन ङित् किये जाने से ङित् पक्ष में उवङ् ('अचिश्नु०' से) होता है। ङिदभावपक्षमें गुण होकर ऊर्णुनविथ। लुट् में ऊर्णविता, ऊर्णुविता। लृट् में ऊर्णुविष्यति, ऊर्ण-

विष्यति, ऊर्णुविष्यते, ऊर्णविष्यते आदि। (इट् को ङिद्विकल्प)। लोट् में,- ऊर्णोतु, ऊर्णौतु, ऊर्णुताम् आदि। लङ् में—

और्णोत्—'आ-ऊर्णु-त्' स्थितिमें 'ऊर्णोतेर्विभाषा' को बाधकर 'गुणोऽपृक्ते' से 'णु' को गुण (णो) होने से, तथा 'आटश्च' से आ ऊ को वृद्धि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। विधिलिङ् में—

ऊर्णुयात्—'हलः श्नः शानज्झौ' के भाष्य में कथित 'ङिच्च पिन्न, पिच्च ङिन्न' के अनुसार यासुट् के पित् न होने से वृद्धि (ऊर्णोतेः से०') नहीं होती है। आशीर्लिङ् में ऊर्णूयात् (अकृत्सार्वधातुकयोः से दीर्घ) ऊर्णविषीष्ट ऊर्णुविषीष्ट (ङिद्विकल्प)। लुङ् में—

और्णावीत्—'आ-ऊर्णु-इ-स्-ई-त्' स्थिति में सिज्लोप, दीर्घादि होनेपर 'विभाषोर्णोः' से इट् को (इडादि प्रत्यय को) वै० ङित्व होने से ङित्व पक्ष में उवङ् होकर और्णुवीत्, ङिदभाव पक्ष में 'ऊर्णोतेर्विभाषा' ७।२।६। से इडादि सिच् परस्मैपद परे वै० वृद्धि होने से और्णावीत्, वृद्ध्यभाव पक्ष में गुण और्णवीत्, ये ३ प्रयोग परस्मैपद के (सभीवचनों में) होते हैं। आत्मनेपद में और्णवीत्, और्णविष्ट आदि। लृङ् में और्णविष्यत्, और्णुविष्यत् (प.) और्णुविष्यत, और्णविष्यत आदि।

आह—व्यक्तवाणी-अर्थक 'ब्रूञ्' धातु से लट्, तिप्, शब्लुक् होनेपर 'ब्रुवः पञ्चानामादित आहो ब्रुवः' (ब्रू से परे लट्स्थानिक तिबादि पञ्चक के स्थान में क्रमशः णलादि होते हैं, और धातु के स्थान में आहादेश होता है।) से तिप् के स्थान में णल्, धातु के स्थान में 'आह्' आदेश होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। आहतुः, आहुः।

आत्थ—'आह्-थ' स्थिति में 'आहस्थः' से 'ह्' के स्थान में 'थ्' होता है। 'थ्' को 'खरिच' से चर्त्व होता है। आर्धधातुक न होने से इट् नहीं होता है। आहथुः। आहादेश के वै० होने से पक्ष में—

ब्रवीति—'ब्रू-ति' स्थिति में 'ब्रुवईट्' से 'ति' को ईडागम होता है। गुणावादेश होने से प्रयोग सिद्ध होता है। 'आत्थ' में भी स्थानिवद्भाव से 'आह्' को 'ब्रू' मानकर प्रकृतसूत्र से ईट् प्राप्त होता है पर 'आहस्थः' झल्-

परे थत्व विधान करता है, और ईड्विधान से झलादित्व नष्ट हो जायगा तो सूत्र ही व्यर्थ जायगा, अतः' 'आत्थ' में ईट् नहीं होता है। ब्रूतः, ब्रुवन्ति। आत्मनेपद में, ब्रूते। लिट् में—

उवाच—लिडादि परे 'ब्रुवोवचिः' से 'ब्रू' के स्थान में 'वच्' आदेश होता है। 'द्वित्व, अभ्यासकार्य होनेपर 'लिट्यभ्यासस्य०' से प्रथमवकार को सम्प्रसारण, 'अत उपधायाः' से वृद्धि आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। ऊचतुः, ऊचुः, उवचिथ, उवक्थ,। ऊचे। दक्ता। वक्ष्नति। लोट् में,-ब्रवीतु, ब्रूतात् ('ङिच्चपिन्न' के अनुसार अपित् होने से 'ईट्' नहीं होता है।) लुङ् में—

अवोचत्—'अ-वच् च्लि त्' स्थिति में 'अस्यतिवक्ति०' से 'च्लि' के स्थान में अङ् करने पर 'वच उम्' से उमागम, आद्गुणः' से गुण करने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है। आत्मनेपद में, अवोचत।

यन्ति—गत्यर्थक-'इण्' (परस्मैपदी) धातु से लट्, झि शब्लु क अन्तादेश आदि कार्य करने पर 'अचिश्नु०' से प्राप्त इयङ् को बाधकर 'इणोयण्' से यण् होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। लिट् में–इयाय।

ईयतुः— इ इ-अतुस् स्थितिमें 'वर्णादाङ्गं वलीयः' के आधार से द्वितीय इकार को 'इणो यण्' से यण् करने पर 'दीर्घ इणः किति' से प्रथम इकार को दीर्घ होता है। प्रकृतसूत्र में 'किति' ग्रहण 'इयाय' में दीर्घ निवृत्यर्थ है। दीर्घानन्तर-इयङ् करनेपर रूपसिद्धि स्वीकार की जाय तो 'किति' व्यर्थ है। दीर्घ विधान के 'ईयतुः' में चरितार्थ होने से दीर्घविधान सामर्थ्यात् इयङभाव नहीं स्वीकार किया जा सकता। ईयुः।

निरियात्—आशीर्लिङ् में 'अकृत्सार्वधातुकयोः' से दीर्घ होकर ईयात् होता है। निर् उपसर्ग के सन्नियोग में 'एतेर्लिङि' से आर्धधातुक कित् लिङ् निमित्तक ह्रस्व होने से उक्त पयोग सिद्ध होता है। 'अभीयात्' में 'अभि' उपसर्ग का इकार 'ईयात्' के इकार में दीर्घ विधि से मिल गया है, अतः उपसर्ग से परे 'इण्' न होने से ह्रस्व नहीं होता है। अन्तादिवद्भाव ('अन्तादिवच्च') से 'अभी' को अभि, और भीयात् को 'इयात्'

मानने में अन्तादिवद्भाव का उभयतः आश्रयण करना होगा जो 'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्' (अन्तादिवत्सूत्र भाष्य) के अनुसार अप्रामाणिक है। 'अभि ईयात्' स्थिति में 'वार्णादाङ्गं बलीयः' के बलपर सवर्णदीर्घ को बाधकर ह्रस्व हो जाता है। तदन्तर सवर्ण दीर्घ करने पर पुनः प्राप्त ह्रस्व का यदि 'लक्ष्ये लक्षणं सकृदेव 'प्रवर्तते' के अनुसार निवारण किया जाय तो, 'उभयत आश्रयणे' वाले समाधान की आवश्यकता ही नहीं होगी। 'अभ्' को एकदेशविकृत न्याय से 'अभि' मानकर प्राप्त ह्रस्व का निवारण, एकदेशविकृत न्याय के व्याख्यानानुसार क्वचिदनाश्रयण के आधार पर करना चाहिये। 'एतेर्लिङि' में 'अणः' (पूर्व णकार से) की अनुवृत्ति के फलस्वरूप 'समेयात्' में ह्रस्व नहीं होता है। 'समीयात्' आदि उपलब्ध प्रयोगों की साधुता 'इट किट, कटी गतौ' में प्रश्लिष्ट 'इ' धातु से आशीर्लिङ् में जाननी चाहिये। दीर्घ ईकार के भी प्रश्लेष स्वीकार किए जाने के पक्ष में विधिलिङ् में भी। लुङ् में—

अगात्—'इणो गा लुङि' से गा आदेश, और 'गातिस्था०' से सिज्लुक् होता है।

अधिजगे—अध्यायनार्थक 'इङ्' (नित्य-अधिपूर्वक, आत्मनेपदी) धातु से लिट् आने पर 'गाङ् लिटि' से इङ् (इ) के स्थान में गाङ् (गा) आदेश होता है। लिट् (ल्) के स्थान में त, एशादि होनेपर द्वित्व, अभ्यासकार्य, और आलोप आदि कार्य होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। लिट् के विवक्षित होने पर ही गाङादेश होता है, (भाष्य मत) पक्ष में 'द्विर्वचनेऽचि' की प्राप्ति ही नहीं, लिट् परे (वा०मत) पक्ष में एशादेश से पूर्व गाङादेश होने के कारण द्वित्व निमित्त अच्परत्वाभाव के कारण 'द्विर्वचनेऽचि' की प्राप्ति नहीं होती है। 'गा' को स्थानिवद्भाव से ङित्व प्राप्त हो ही जाता, पुनः ङित्करण, 'गाङ् कुटादि०' में इण् स्थानिक गा के अग्रहणार्थ है। अन्यलकारों में, अध्येता, अध्येष्यते, लोट् में अधीताम्, अधीयाताम् आदि। उत्तम पुरुष एकवचन में–अध्ययै–(अधि-इ-ए' स्थिति में इकारको गुण अयादेशादि करने पर, उपसर्ग को यण्–'पूर्वं साधनेन युज्यते, पश्चादुपसर्गेण' मतानुसार। 'पूर्वमुप-

वर्णेण पश्चात्साधनेन' पक्ष में–अन्तरङ्गत्वात् गुण से पूर्व सवर्णदीर्घ प्राप्त होता है पर, 'शेरध्ययने वृत्तम्' निर्देश के बलपर गुण से बाधित हो जाता है)। लङ् में–अध्यैत । लुङ् में–

अध्यगीष्ट--'विभाषा लुङ्लृङोः' से इङ् के स्थान में गाङ् होता है। 'अधि-अ-गा-स्-त' स्थिति में 'गाङ्कुटादिभ्योऽञ्णिन्ङित्' से सिच् के स् को ङित्व होता है। 'घुमास्थागापाजहातिसां हलि' से गा के आकार को ईकार होता है। यण्, षत्व, ष्टुत्वादि होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। गाङा-देशाभाव पक्ष में अध्यैष्ट। 'आटश्च' से वृद्धि।

अधियन्ति--स्मरणार्थक 'इक्' धातु से 'इण्वदिक इति वक्तव्यम्' (वा०) के प्रमाण से लट्, झि, अन्तादेश होनेपर 'इणो यण्' से यण् होता है। 'इक्' धातु भी अधिपूर्वक ही व्यवहृत होता है। उक्त व्यवस्था में प्रमाण 'अधीगर्थ-दयेशाम्' वचन में 'इगर्थदयेशाम्' लघुन्यास न करके गुरुन्यासकरणप्रयास ही है। लुङ् में अध्यगात्। कुछ विद्वानों के मत में 'इण्वदिकः०' से इण्वदति-देश आर्धधातुकप्रत्ययविवक्षा में ही होता है। इनके अनुसार लट् के प्र० पु० बहुव०–में यण् न होकर इयङ् होने से अधीयन्ति प्रयोग होता है। अतएव 'ससीतयो राघवयोरधीयन्' ('भट्टि') आदि प्रयोग साधु स्वीकार किए जाते हैं।

अयुः--प्रापण-(गति) अर्थक 'या' (परस्मै-प०) धातु से लङ्, झि, शब्लुक् अडागमादि यथावसर होनेपर 'लङः शाकटायनस्यैव' से 'झि' को जुस् होता है। 'उस्यपदान्तात्' से पररूप, रुत्व विसर्गादि कार्य होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। जुसादेश के वै० होने से तदभावपक्ष में–अयान्।

ख्याति--प्रकथनार्थक 'ख्या' धातु से लट्, तिप्, शब्लुक् होने से प्रयोग सिद्ध होता है। भाष्यकार द्वारा 'संस्थानत्वं (जिह्वामूलीयत्वम्) नमः ख्यात्रे' वार्तिक व्याख्यानावसर में 'चक्षिङ्' के स्थानापन्न 'ख्याञ्' को 'क्शाञ्' स्वीकार किए जाने से, और असिद्धकाण्ड में श् को य् विधान किए जाने से 'नमः ख्यात्रे' में चक्षिङ् स्थानिक क्शाञ् का ही प्रयोग स्वीकार करके यत्व के असिद्ध होने से 'शर्परे विसर्जनीयः' से विसर्ग की साधुता बतलायी है। जिह्वामूलीय की नहीं। अतः 'प्रकृत ख्या धातु का आर्धधातुक स्थल में प्रयोग नहीं होता' ऐसा

स्वीकार करना पड़ता है, अन्यथा प्रकृत 'ख्या' से निष्पन्न 'ख्यात्रे' परता में शर्परत्वाभाव से विसर्ग अनुपपन्न हो जाता। वास्तविक में तो 'संयोगादे र्धातोर्यण्वतः' से प्राप्त नत्व का 'ख्यातः' में निषेधार्थ 'न ध्याख्या०' में कृत ख्या ग्रहणादि की सफलता के लिए प्रकृत 'ख्या' का आर्धधातुक में भी प्रयोग स्वीकार किया जाना चाहिये। विभिन्नस्थलीय अनुपत्तियों के निवारणार्थ, पूज्यपितृचरण, गौड़वंशमाणिक्य, महावैयाकरण, श्रीरामदत्तजी मिश्र विरचित 'सिद्धान्तेन्दु' देखना चाहिये।

वेद्—ज्ञानार्थक 'विद' धातु से लट्, तिप्, शब्लुक् आदि होने पर, 'विदोलटोवा' से तिप् (आदि) के स्थान में णल् (आदि) वै० होता है। गुण होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। पक्ष में वेत्ति। अन्यवचनों में विदतुः, विदुः, वित्तः, विदन्ति आदि। लिट् में–विदाञ्चकार, ('उषविद०' से आम्, (अकारान्त निपातनात् गुणाभाव) विवेद आदि। लोट् में—

विदाङ्करोतु—विद् धातु से लोट् आने पर 'विदाङ्कुर्वन्त्वित्यन्यतरस्याम्' से आम्, गुणाभाव, लोट् का लुक्, और लोट्परक 'कृ' का अनुप्रयोग निपा-'तनात् होते है। सूत्र में' इतिपरक 'विदाङ्कुर्वन्तु' प्रयोग से ज्ञात होता है कि, पुरुष और वचन (१ म० पु० बहुव०) को सूत्रकार अविवक्षित मानते हैं। 'विदाम् कृ ति' स्थिति में—'तनादिकृञ्भ्य उः' से शप् को बाधकर 'उ' होता है। 'उ' निमित्तक 'कृ' को गुण (रपर) और ति निमित्तक 'उ' प्रत्यय को गुण, तथा 'ति' को 'एरुः' से उत्व होने से प्रयोग सिद्ध होता है। 'तनादि-कृञ ०' सूत्र में तनादि शब्द से ही 'कृ' का संग्रह सम्भव होने पर भी, कृत 'कृ' ग्रहण बतलाता है कि, गणकार्य अनित्य होता है, अतः 'नविश्वसेदविश्वजस्तम्' आदि प्रयोग साधु स्वीकार किए जाते हैं, अन्यथा शब्लुक् होने से विश्वस्यात् हो जाता।

विदाङ्करुतात्—आशीर्वादार्थ में 'तु' को तातङ् होने पर तातङ् के ङित् होने से तन्निमित्तक उकार को गुण नहीं होता है। उकार निमित्तक 'कृ' को गुण (र पर) होनेपर 'अत उत्सार्वधातुके' से क के अकार को उकार होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। 'उ' प्रत्यय को निमित्त मानकर

'कुर्' को लघुपध गुण इसलिए नहीं होता है कि, 'उत्' ('अत उत्') तपर निर्देश से उकार का अविकृत होना ज्ञात होता है। विदाङ्कुरुताम्, विदाकुर्वन्तु ('नभकुर्छुराम्' से 'हलिच' द्वारा प्राप्त दीर्घ का निषेध होता है)। विदांकुरु, ('उतश्च' से हि लुक्, जिसके आभीयत्वेन असिद्ध होने से 'अत' उत् से उत्व।) लङ् में—अवेत्, अवित्ताम्, अविदुः ('सिजभ्यस्त०' से झि को जुस्) सिप् में—

अवेः—'दश्च' से सिप् परे धातु के 'द्' को वै० रु होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। पक्ष में अवेत् (सिप् के स् का हल्ङ्यादित्वात् लोप।)

स्तः—सत्तार्थक 'अस्' धातु से लट्, तस्, शप्लुक् आदि होने पर 'श्नसोरल्लोपः' से अस् के अकार का लोप होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। सन्ति, असि, ('तासस्त्योः' से स् लोप) 'स्थ' आदि।

लिट् में—(आर्धधातुकमात्र में)।

बभूव—'अस्तेर्भूः' से 'अस्' के स्थान में 'भू' का अतिदेश होने से भू धातु की तरह प्रयोग सम्पन्न होता है। इसीप्रकार लुडादि में भविता, भविष्यति। लोट्, में अस्तु, स्तात्, स्ताम्, सन्तु। सिप् में—

एधि—'अस्-हि' अवस्था में 'ध्वसोरेद्धावभ्यासलोपश्च' से अस् के 'स्' के स्थान में एत्व होता है। 'असिद्धवदत्राभात्' से एत्व के असिद्ध बोधित किए जाने से 'हुझल्भ्योः'० से हि' को 'धि' होता है। 'श्नसोः' से अ-लोप। तातङ् पक्ष में 'तुह्योस्तातङ्' से 'ध्वसो:०' परत्व बल पर बाधित हो जाता है। 'सकृद्गतौ' के आधार पर पुनः एत्व के प्रवृत्त न होने से 'स्तात्' होता है। स्तम्, असानि, असाव, असाम। लङ् में—आसीत् (अस्तिसिचोऽपृक्ते' से ईट्) आस्ताम् ('श्नसोः' के आभीयत्वेन असिद्ध होने से आट्) आसन् आदि।

निष्यात्—विधिलिङ् में सम्पन्न स्यात् के साथ 'नि' उपसर्ग का योग करने पर 'उपसर्गप्रादुर्भ्यामस्तिर्यच्परः' से 'स्' को 'ष्' होता है। इसी प्रकार प्रादुःष्यात्, निषन्ति आदि। 'अभिस्तः' में यकार अथवा अच्परकत्व न होने से षत्व नहीं होता है।

मार्ष्टि—शुद्ध्यर्थक 'मृज्' धातु से लट्, तिप्, शब्लुक् होनेपर 'मृजेर्वृद्धिः' से वृद्धि (आर्) होती है। 'व्रश्चभ्रस्ज०' से ष। ष्टुत्वादि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

रोदिति—अश्रुविमोचन-(रोना) अर्थक 'रुदिर्' (इरित्) धातु से लट्, तिप्, शब्लुक् होने पर—'रुदादिभ्यः सार्वधातुके' से 'ति' को इट् होता है। लघुपध गुण होने से तथोक्त प्रयोग सम्पन्न होता है।

अरोदीत्—'अ-रुद्-त्' स्थिति में 'रुदश्च पञ्चभ्यः' से 'त्' को 'ईट्' होता है। गार्ग्य, और गालव के मत में 'अड्गार्ग्यगालवयोः' से 'त्' को अडागम होने से अरोदत्।

सुषुषुषतुः—शयनार्थक 'ञिष्वप्' ('आदिर्ञि०' से ञीदित्) धातु से (सूपसर्गक से) लिट्, तस्, अतुस् होने पर, 'सुस्वप्-अतुस्' स्थिति में परत्वात् 'वचिस्वपि०' से सम्प्रसारण होता है। 'सुविनिर्दुर्भ्यः सुपिसूतिसमाः' से षत्व होने पर 'पूर्वत्रासिद्धीवमद्विर्वचने' से षत्व सिद्ध होने पर 'षुप्' को द्वित्व, अभ्यासकार्यादि होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। उक्त प्रक्रियानुसार दोनों षकार मूर्धन्य श्रुत होते हैं। तिप्, सिप्, मिप् परे 'वचिस्वपि०' की प्राप्ति न होने से सर्वप्रथम द्वित्व किए जाने पर 'लिट्यभ्यासस्य०' से अभ्यास को सम्प्रसारण होने से तथा 'हलादिशेषः' के नित्य, और उसकी दृष्टि में 'सुविनि०' के असिद्ध होने से 'प्' की निवृत्ति होती है, जिससे 'सुप्' रूप न रहने से ('एकदेशवि०' न्याय की लक्ष्यानुरोधात् अप्रवृत्ति) षत्व नहीं होता है, अतः 'सुसुष्वाप' प्रयोग होता है। उत्तरखण्ड में 'आदेशप्रत्यययोः' से षत्व होता है।

प्राणिति—जीवनार्थक 'अन्' (प्रोपसर्गक) धातु से लट् तिप्, शब्लुक् आदि होने पर, को 'रुदादिभ्य०' से ति' को इट् होता है। 'अनितेः' से 'न्' को णत्व होता है।

जक्षति—भक्षण, और हिंसनार्थक जक्ष धातु से लट् झि, शब्लुक् आदि होने पर 'अदभ्यस्तात्' से अन्तादेशको बाधकर झि को अदादेश होता है। 'जक्षित्यादयः षट्' से जक्ष की अभ्यस्त संज्ञा होती है।

जजागरतुः—निद्राक्षय (जागना) अर्थक 'जागृ' धातु से लिट्, तस

अतुस्' द्वित्व; (प्रथम अच् को) अभ्यासकार्य (ह्रस्वादि) होनेपर, 'जाग्रोऽविचिण्णल्ङित्सु' से 'गृ' को गुण (रपर) होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है। लङ्लकार प्र. पु. बहु. व. में—

अजागरुः—'अ-जागृ-उस्' (अभ्यस्तत्वात् 'सिजभ्यस्त' से झि को जुस्) स्थिति में 'जुसि च' से गुण होता है। 'जागृयुः' में हलादिपरत्व होने से गुण नहीं होता है। आशीर्लिङ् में, जागर्यात्, लुङ् में, 'अजागरीत्'। 'अ-जागृ-इ-स्-ई त्' स्थिति में यण को बाधकर 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण ('जागृ' के ऋ को प्राप्त होता है—जिसे बाधकर 'सिचिवृद्धिः' से प्राप्त वृद्धि को बाधकर 'जाग्रोऽविचिण्०' से गुण (रपर) होता है। 'जागर्-इ' स्थिति में 'वदव्रज०' से वृद्धि प्राप्त होती है, जिसे 'नेटि' निषिद्ध कर देता है, तदनन्तर 'अतो हलादेः' को बाधकर 'अतोल्रान्तस्य' प्राप्त होता है, जिसे 'ह्मयन्त०' निषिद्ध कर देता है। इसी आशय का श्लोक भी है।

'गुणोवृद्धिर्गुणोवृद्धिः प्रतिषेधोविकल्पनम्।
पुनर्वृद्धिर्निषेधोऽतो यण्पूर्वाः प्राप्तयोनव ॥'

दरिद्रितः—दुर्गत्यर्थक 'दरिद्रा' धातु से लट्, तस्, शब्लुगादि होने पर 'इद्दरिद्रस्य' से 'द्रा' के आकार को इकार होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। झि परे—

दरिद्रति—'दरिद्रा-अति' स्थिति में 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से द्रा के आकार का लोप होता है। लिट् में—दरिद्राञ्चकार (अनेकाच्त्वात्-आम्) किन्हीं विद्वानों के मत में—'आत औ णलः' में 'ओ' कर देने से भी 'पपौ' आदि प्रयोग वृद्धि होकर सिद्ध हो ही जाते, पुनः कृत 'औ' ग्रहण दरिद्रा के आलोप करने पर भी 'ददरिद्रौ' में औकार श्रवणार्थ है। अब यदि 'दरिद्रा' से आम् की नित्यता मानी जाय तो, 'ददरिद्रौ' प्रयोग होगा ही नहीं, अतः 'औ' ग्रहण की सफलता के लिए 'दरिद्रा' से आमभाव भी स्वीकार करना चाहिये, फलस्वरूप 'ददरिद्रौ' आदि भी प्रयोग होते हैं। णल् परे 'ददरिद्र' प्रयोग अप्रामाणिक है। लुट् में—

दरिद्रिता—इट् परे 'दरिद्रातेरार्धधातुके विवक्षिते 'आलोपोवाच्यः' (वा.) ('लुङि वा,' 'सनि ण्वुलि ल्युटि च न') से आलोप होता है। लङ् में

अदरिद्रात् आदि । विधिलिङ् में, दरिद्रियात् आदि । आशीर्लिङ् में 'दरिद्र्यात्' आदि । लुङ् में अदरिद्रीत् (आलोपपक्ष) 'अदरिद्रासीत्' (आलोपाभाव, इट् और सक्) आदि ।

अचकात्,—दीप्त्यर्थक 'चकास्' (इरित् सेट्) धातु से लङ्, तिप्, अडागम शब्लुक् आदि यथावसर होने पर, 'तिप्यनस्तेः' से धातु के 'स्' को 'द्' होता है । तिप् के 'त्' का 'हल्ङ्याादि' से लोप होने पर 'द्' को 'वावसाने से वै० चर्त्व होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है । पक्ष में अचकाद् । अचकासाताम्, अचकासुः ('सिजभ्यस्त०' से झि को जुस्') सिप् परे,—

अचकाः—'अ-चकास्-स्' स्थिति में हल्ङ्यादित्वात् स् लोप होने पर 'सिपि धातो रुर्वा' से धातु के 'स्' को रु, एवं पक्ष में 'द्' होता है । 'रु' पक्ष में विसर्ग होने से 'अचकाः', 'द्' पक्ष मे वै० चर्त्व होने से अचकात्, चर्त्वाभाव पक्ष में जश्त्व होने से अचकाद् ।

शिष्टः—अनुशिष्टि-(अनुशासन) अर्थक 'शासु' (उदित्-सेट्) धातु से लट्, तस्, शब्लुक् आदि होनेपर 'शास इदङ्हलोः' से शास् के आकार को इकार होता है । 'शासिवसि०' से 'स्' को 'ष्' और 'ष्टुनाष्टुः' से ष्टुत्व होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है ।

शाधि—'शास्' धातु से लोट्, सिप्, हि, शब्लुक् आदि होने पर, 'शाहौ' से शास् के स्थान में 'शा' आदेश होता है । 'असिद्धवदत्राभात्' से 'शा' आदेश के असिद्ध होने से झलन्त बुध्या 'हुझल्भ्यो हेर्धिः' से 'हि' को 'धि' होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है ।

अन्यलकारों में,—अशात्, शिष्यात्, अशिषत्, ('सर्तिशास्ति०' से अङ्) अशासिष्यत् आदि ।

दीध्ये—दीप्ति, और देवनार्थक 'दीधीङ्' (ङित्) धातु (छान्दस) से लट्, इट्, (उ० पु० १ व०) शब्लुक् आदि होनेपर 'यीवर्णयोर्दीधीवेव्योः' से प्राप्त पर अन्त्यलोप को नित्यत्वात् बाधकर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से इ को ए होता है । ए होनेपर इकारपरत्वाभाव के कारण अन्त्यलोप नहीं होता

है। यण् होने से प्रयोग निष्पन्न होता है। अन्य लकारों में, दीध्याञ्चक्रे ('दीधी-वेवीटाम्' से गुणनिषेध) दीधिता, दीधिष्यते आदि।

ह्नुते—अपनयन-(हटाना-छुपाना) अर्थक 'न्हुङ्' धातु से 'लट्, त, शब्लुक् आदि होने पर 'टित आत्मनेपदानां टेरे' से 'त' के अकार को एत्व होने से तथोक्त प्रयोग सिद्ध होता है। 'चर्करीतं च' गण सूत्र से यङ्लुगन्त की अदादि में गणना होने से यङ्लुगन्त (बोभवीति) से श्यनादि न होकर शप् और परस्मैपद (परस्मैपदाधिकार से) ही होता है,-जिसका 'अदिप्रभृति-भ्यः' से लुक् होता है। इस व्यवस्था का फल यङ्लुगन्तस्थल 'बोभवीति' आदि में स्पष्ट रूप से गोचर होगा।

इत्यदादिप्रकरणम्।

अथ जुहोत्यादिप्रकरणम्

जुहोति, जुहुतः—दान, (प्रक्षेप-वैधप्रक्षेप) और आदान (ग्रहण) अर्थक 'हु' धातु से लट्, तिप्, शप् होने पर 'जुहोत्यादिभ्यः श्लुः' से शप् का 'श्लु' (अदर्शन) होता है। 'श्लौ' से धातु को द्वित्व, और द्वित्व प्रयुक्त अभ्यासादिकार्य (तत्तत्सूत्रों से) होनेपर ति निमित्तक 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' से गुण होने से तिबन्त प्रथम प्रयोग, और तस् के ङित् होने से गुणाभाव घटित तसन्त द्वितीय प्रयोग सिद्ध होता है। प्रथम पु० बहुवचन में, जुह्वति, 'हुश्नुवोः' से यण्।

जुहवाञ्चकार—हु धातु से लिट् आने पर 'भीह्रीभृहुवां श्लुवच्च' से वै० आम् प्रत्यय और उसके परे श्लुवत् (द्वित्वादि) कार्य विहित होने से 'जुहवाम्' आमन्त प्रयोग निष्पन्न होता है। 'कृ' के अनुप्रयुक्त होने से जुहवाञ्चकार प्रयोग सम्पन्न होता है। पक्ष में जुहाव आदि।

बिभितः, बिभीतः—भयार्थक 'ञिभी (भीत्) धातु से लट्, तस्, शप्, श्लु, द्वित्वादि होनेपर 'भियोऽन्यतरस्याम्' से वै० इकार विधान के कारण

ह्रस्वेकार घटित, और पक्षमें यथावत् (दीर्घेकारघटित) प्रयोग सिद्ध होते हैं।

पिपर्ति—पालन और पूरणार्थक 'पृ' धातु से लट्, तिप्, शप्, श्लु, और द्वित्वादि होनेपर 'उरत्' 'हलादि शेषः' आदि कार्य होते हैं। 'अर्तिपिपर्त्योश्च' से अभ्यास घटक अकार को इकार और 'पृ' को (उदोष्ठ्यपूर्वस्य' को बाधकर) गुण होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है।

पिपूर्तः – 'पि-पृ-तस्' स्थिति में 'उदोष्ठ्यपूर्वस्य' से ऋ को उ (रपर) होता है। 'हलिच' से दीर्घ होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

पप्रतुः—प-पृ-अतुस् स्थिति में प्राप्त गुण को बाधकर 'शृदृप्रां ह्रस्वो वा' से वै० ह्रस्व, एवं यण् (इको यणचि) होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है। पक्ष में पपरतुः।

बिभर्ति—धारण, और पोषणार्थक 'डुभृञ्' (ड्वित् और ञित्) धातु से लट्, तिप्, शप्, श्लु, द्वित्वादि ('उरत्' 'हलादिशेषः') होने पर 'भृञामित्' से अभ्यासघटक अकार को इकार, एवं उत्तरखण्ड में गुण (रपर) होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

मिमीते, मान, (तोलना) और शब्दार्थक 'माङ्' (ङित्) धातु से लट्, त, शप्, श्लु, द्वित्वादि होनेपर अभ्यासाकार को 'भृञामित्' से इकार और द्वितीयाकार को 'ई हल्यघोः' से ईकार होने से उक्त प्रयोग निष्पन्न होता है।

जहितः जहीतः—त्यागार्थक 'ओहाक्' (ओदित्) धातु से लट्, तस्, शप्, श्लु, द्वित्वादि होनेपर 'जहातेश्च' से विकल्पेन ह्रस्व इकार होता है। पक्ष में ईहल्यघोः' से दीर्घेकार होता है।

जहाहि—हि परे 'आच हौ' से आत्व, चकारात् इत्, और ईत् को भी अवसर दिये जाने से आकार घटित जहाहि, और इकारघटित जहिहि, तथा ईकारघटित जहीहि प्रयोग सम्पन्न होते हैं।

जह्यात्—'जहा-या-त्' (विधिलिङ्) स्थिति में 'लोपो यि' से आकार का लोप होने से उक्त प्रयोग सिद्ध होता है।

धत्तः,– धारण, और पोषणार्थक 'डुधाञ्' (ड्वित्-ञित्) धातु से –– – तस , शप्, श्लु, द्वित्वादि होने पर 'श्नाभ्यस्तयोरातः' से आलोप होता है। द-ध्-तस् स्थिति में 'दधस्तथोश्च' से दकार को धकार होता है। वामन और माधव के मत में उक्तवचनसामर्थ्यात् आलोप को स्थानिवद् भाव (अचः परस्मिन्' से) नहीं होता है। सिद्धान्ततः० 'पूर्वत्रासिद्धीये न स्थानिवत्' (प०) से स्थानिवद्भाव का निषेध होता है। 'ध्' को चर्त्व होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है।

नेनेक्ति—शुद्धि, और पुष्टि-अर्थक 'णिजिर्' (ईरित्) धातु से लट्, तिप्, शप्, श्लु, द्वित्वादि होने पर 'णिजां त्रयाणां गुणः श्लौ' से अभ्यास-घटक इकार को गुण होता है। उत्तरखण्ड में 'पुगन्त०' से गुण होता है। कुत्वादि होने से तथोक्त प्रयोग साधु होता है।

नेनिजानि – लोट लकार उत्तमपुरुष एकवचन में प्राप्त लघूपधगुण का 'नाभ्यस्तस्याचि पिति सार्वधातुके' से निषेध होता है।

जज्ञातः—जनन (उत्पत्ति) अर्थक 'जन' धातु से लट्, तस्, शप्, श्लु, द्वित्वादि होनेपर 'जनसनखनां सञ्झलोः' से 'ज-जन् तस्' स्थिति में आत्व होने से उक्त प्रयोग सम्पन्न होता है।

इति जुहोत्यादिप्रकरणम्

तृतीयखंडं परिपूर्णम्

॥ श्रीः ॥

पङ्क्तिचन्द्रिका

शब्दविद्यास्वकूपारपारदृश्वा, बुधाधिपः ।
पितामेऽभून्महाधीरधिषणाजितगीष्पतिः ॥
श्रीरामदत्तनामाऽसौ 'सिद्धान्तेन्दुं' समादृभत् ।
दृष्ट्वा तमेव छात्रेभ्यस्तन्यते 'पङ्क्तिचन्द्रिका' ॥ १ ॥

'शेष इति लक्षणञ्चाधिकारश्च':—ननु 'तस्येद' मित्यनेन चाक्षुषादीनां, ('चक्षुष इदम्' इत्यर्थे) 'संस्कृतं भक्षाः' इत्यनेन दार्षदादीनां सिद्धेः 'शेष' इति सूत्रं व्यर्थमिति चेन्न । अपत्यादिचतुरर्थपर्यन्तेष्वर्थेषु घादीनां ख्युख्युलन्तानां निवृत्त्यर्थं, जाताद्यर्थसाकल्यार्थञ्चाधिकारसूत्ररूपेण 'शेष' इत्यस्यावश्यकत्वात् । नचार्द्रकशालादीनामुत्करादिपाठेनै 'वैतः प्राचीनेष्वर्थेषु घादयो न प्रवर्त्तन्ते'— इति ज्ञापनेनैव प्रथमप्रयोजनसिद्धिः । ज्ञापनमन्तरा 'वृद्धाच्छ' इत्येवसिद्धे- स्तत्पाठस्य वैयर्थ्यप्रसङ्गः स्यात् । यदि संनिहिते जातार्थ एव घादयः स्युस्तदुत्तरेषु भवाद्यर्थेषु 'प्राग्दीव्यतः'—इति विशिष्टावधिपरिच्छिन्नेष्वर्थेषु—विधीयमाना अणादय एव स्युः, तदा जाताधिकारानन्तरमेव 'प्रावृषष्ठप्' इत्यादिभिः सह 'राष्ट्रावारपारा' इत्यादयोऽपि पठ्येरन्निति विधया जाताधिकारात् प्राक् पाठ- सामर्थ्यादेव जाताद्यर्थसाकल्यस्याऽपि सिद्धिरिति वाच्यम् ! सन्विधौ मतुब्विधौ च भाष्ये पठितस्य 'शैषिकान्मतुबर्थीयात्' इत्यादि श्लोकस्य ज्ञापनाय, 'आर्द्रकादिभ्यो यदि च्छः स्यात्तर्हि चतुरर्थ्यामेवे'ति विशेषापेक्षज्ञापनस्याऽपि सम्भवेनार्द्रकशाला- दीनामुत्करादिपाठेनोक्त-(निवृत्तिफलक) ज्ञापनाभावे घादीनां ख्युख्युलन्तानां चतुरर्थपर्यन्तेषु—अर्थेषु निवृत्त्यर्थञ्चाधिकारसूत्ररूपेण 'शेष' इत्यस्यावश्यकत्वात् । 'चाक्षुष'मित्यादिषु गृह्यमाणत्वादिप्रकारकबोधनाय विधायकरूपेण 'शेष' इत्यस्या- वश्यकत्वात् तदुक्तं मूले 'शेष' इति लक्षणञ्चाधिकारश्चेति दिक् ।

'दलद्वये टाबभाव' इति—ननु 'कर्मव्यतिहारे सर्वनाम्नोद्वेवाच्ये समासवच्च- बहुल' मित्यत्र बहुलग्रहणस्य किं प्रयोजनमिति चेन्न । स्त्रीलिङ्गेषु-अन्य, पर,-इतर

शब्देषु कर्मव्यतिहारे द्वित्वे सति अन्योन्यमित्यादौ पूर्वोत्तरखण्डयोष्टाब्निवृत्तिरूप प्रथमप्रयोजनस्य, क्लीबेचान्योन्यमितरेतरमित्यादौ 'अदड्डतरादिभ्यः' इति स्वमोः प्राप्तस्यादडादेशस्य निवृत्त्यात्मकस्य द्वितीयप्रयोजनस्य, अन्येन आश्रयः- 'अन्याश्रयः' इत्यादौ प्राप्तस्य सुप्रत्ययलुको निवृत्तिरूपस्य च तृतीयप्रयोजनस्य व्याख्यातृभिर्व्याख्यातत्वात्। तथा च प्रतिपादितेयं मूले पूर्वोक्ताशयप्रकाशिका कारिकाः—'दलद्वये टाबभावः क्लीबेचादड्विरहः स्वमोः। समासे सोरलुक् चेति सिद्धं बाहुलकात्त्रयम्' इति संक्षेपः।

'येन नाऽव्यवधानम्'—ननु 'पुगन्तलघुपधस्य चे' त्यत्र सार्वधातुकार्ध- धातुकयोरित्यस्याङ्गविशेषणत्वे, सार्वधातुकार्द्धधातुकाव्यवहितस्याङ्गस्येको गुणोभव- तीत्यर्थकरणे भिनत्तीत्यादौ गुणापत्तिः, तयोरिको विशेषणत्वेतु, भेत्तेत्यत्राऽपि तकाररूपस्यैकवर्णस्य व्यवधानेन सार्वधातुकार्धधातुकाव्यवहितपूर्वत्वाभावाद्गुणो न स्यादतश्च सूत्रोदाहरणदारिद्र्यमितिचेन्न।

'दीधीवेवीटामि' त्यत्रत्येड्ग्रहणबलेन-सूत्रसार्थक्याय च 'यद्वर्णकर्तृकव्यवधान- शून्यत्वं न सम्भवति तद्वर्णव्यवधानेऽपि सूत्रप्रवृत्तिर्भवतीत्याशयक 'येन नाऽव्यव- धानं तेन व्यवहितेऽपि स्यात्' इत्यर्थस्य ज्ञापनेन भेत्ता छेत्तेत्यादीनां सहस्रश उदाहरणस्वीकरणात्। भिनत्तीत्यादौतु नाना वर्णव्यवधानात् सूत्राप्रवृत्ते रितिदिक्।

'यद्यपि ङिच्चेत्ययमपवादः'...ननु भवतादित्यत्र तु, हिस्थानिकादेश- भूतस्य तातङोङित्वेन तस्थानेकालत्वेऽपि आनङादाविव बाधकेन 'ङिच्चे' त्यनेना- न्त्यस्थाने तातङ्प्रवृत्तिबोधनेन भवत्तादितिभाव्यमिति चेन्न। अनन्यफलक- ङित्वे-आनङादौ चरितार्थस्योक्तशास्त्रस्य गुण-(द्विष्टात्) वृद्धि-(स्तुतात्, युतात्)- प्रतिषेध, सम्प्रसारणा-(उष्टात्) दि-(ब्रूतादित्रेण्निषेधः) फलक तातङ् ङित्वे मन्दं प्रवृत्तोऽपि 'अनेकाल' इत्यनेन परत्वाद् बाधनेन सर्वादेशद्वारा भवतादित्यस्यैव सुसाधनात्।

न च सर्वादेशे गुण-वृद्धि-प्रतिषेध-सम्प्रसारणाद्यर्थत्वम्, गुण-वृद्धिप्रतिषेध सम्प्रसारणाद्यर्थत्वेच सर्वादेशत्वमिति द्वयोः परस्परापेक्षणादन्योन्याश्रय इति वाच्यम्। 'एरु' रित्येतदनन्तरं 'तिह्योस्तादा-शिष्यन्यतरस्या' मिति न्यासे इकारस्यानु वृत्त्यैव सिद्धौ ङित्वस्य सर्वादेशत्वविधानार्थकत्वनयोक्तान्योन्याश्रयानपेक्षणादितिदिक्।

सार्वधातुके किम्, चिकीर्ष्यात्, ननु 'अतोयेय' इत्यत्र 'रुधादिभ्यः सार्वधातुक' इत्यतः 'सार्वधातुक' इति सप्तम्यन्तपदानुवृत्तिर्निष्फला। नचार्धधातुके-अप्रवृत्त्यर्थं तदावश्यकमिति वाच्यम्। आर्धधातुके भूयादित्यादौ शबाद्यभावेनातः परत्वाभावादेव सूत्राप्रवृत्तेरितिचेन्न। चिकीर्ष्यादित्यादावियादेशाप्रवृत्त्यर्थमनुवर्त्तनस्यावश्यकत्वात्। न च तत्राऽपि 'अतो लोप' इत्यनेनाकारलोपे कृतेऽतः परत्वाभावादेवाप्रवृत्तिरिति वाच्यम्। 'अतोलोपः' 'अतो दीर्घो यञि'—इति पूर्वापराभ्यां सूत्राभ्यां निरवकाशः प्रकृत—'अतोयेयः'—इति विधिः 'मध्येऽपवादाः पूर्वान्विधीन्बाधन्ते नोत्तरा' निति न्यायेन लोपविधिं प्रबाध्य चिकीर्ष्यादित्यादा वार्धधातुके प्रवृत्तो भविष्यतीत्यतिव्याप्तेः, भवेदित्यादौ सार्वधातुके चेय् विधिं (चिकीर्ष्यादित्यादौ चरितार्थम्) परत्वात् प्रबाध्य दीर्घविधेः प्रवर्तनादव्याप्तेश्च 'सार्वधातुके' पदानुवर्त्तनस्यावश्यकत्वादित्यलं प्रेक्षावताम्।

प्रत्यये किं, वव्रश्च—ननु 'उरदि' त्यत्राङ्गाधिकारत्वेनाङ्गसंज्ञायाश्च 'यस्मात्प्रत्ययविधिस्तदादिप्रत्ययेऽङ्ग' मित्यनेन प्रत्ययपरतायामेव विहितत्वा-'द्येन विना यदनुपपन्नं तत्तेनाक्षिप्यत' इति न्यायेन प्रत्ययपरत्वमन्तराऽनुपपन्नयाऽङ्गसंज्ञया प्रत्ययाक्षेप स्वीकरणादि प्रयासो निष्फल एवेति चेन्न।

वव्रश्चेत्यादि प्रयोग साधनार्थं तदावश्यकत्वात्। तथाहि—छेदनार्थक 'ओव्रश्चू' (ओकार-उकारेत्) धातोर्लिटि, तिपि, णलि, द्वित्वे, सम्प्रसारणे, 'उरत्' 'हलादिशेषा'दि कार्ये वव्रश्चेति सिद्धं भवति। तत्र सम्प्रसारणस्थानिकाकारे स्थानिवद्भावेन (अचः परस्मिन्नित्यनेन) सम्प्रसारण (ऋ) बुद्धिमाश्रित्यैव 'न सम्प्रसारणे सम्प्रसारणम्' इति वकारस्थानिक सम्प्रसारण निषेधो भवति, स च स्थानिवद्भावोपजीव्यः, स्थानिवद्भावश्च उरदत्वस्य परनिमित्तकत्व एव सम्भवतीति कृत्स्नं प्रकृतसूत्रे समाक्षिप्तप्रत्ययनिमित्ततायामेव सम्भवति। एतद्वैपरीत्ये च परनिमित्तत्वाभावात् स्थानिवद्भावस्य दुर्लभत्वेन 'न सम्प्रसारणे'ति निषेधाप्रवृत्त्या वकारस्य सम्प्रसारणे कृते वव्रश्चेति प्रयोगस्यानिष्टरूपापत्तेरिति दिक्।

'संज्ञायः कार्यकालत्वात्'—ननु 'सन्वल्लघुनि०' 'दीर्घो लघो' रित्यङ्गसंज्ञाऽभ्याससंज्ञासापेक्षयोः सूत्रयोः स्थल एव 'कार्यकालं संज्ञापरिभाष' मितिपरि-

भाषाबलेन 'पूर्वोऽभ्यास' इत्यस्योपस्थितौ, कृत्स्नांगद्विरुक्तिस्थितावेव सन्वद्भावादि प्रवृत्तिस्वीकर्त्तव्यतया, चकास्रादि धातुषु चानेकाच्त्वादाद्याच एव द्विरुक्तत्वेन सूत्रार्थसंगतेरभावादचीचकासदित्यादि प्रयोगा असाधव एवेति चेन्न। माधव-मतेन तेषामसाधुत्वेऽपि सिद्धान्ततः साधुत्वस्वीकारात्।

तथाहि:—'यथोद्देशं संज्ञापरिभाषमि' त्यस्यैव सिद्धान्तसम्मतत्वेन अङ्गाव-यवस्य द्विरुक्तावपि—अभ्याससंज्ञा स्वीक्रियत एव। तथा च सन्वद्भावसिधायक-शास्त्रस्यानेकाद्स्वपि प्रवृत्तिस्वीकारेणाचीचकासदित्यादिप्रयोगाणां साधुत्वस्य सिद्धान्तसम्मतत्वात्। चङ्परकणिजन्यत्रहितपूर्वे। यो लघुरित्याद्यर्थस्य सन्वद्-भावविधायकशास्त्रस्य स्वीकृतिपक्षेऽचचकासदित्यस्याऽपि साधुत्वान्वाख्यानात्। तथाचोक्तं मूले, 'संज्ञायाः कार्यकालत्वा'दित्यादि पञ्चकारिकाभिः। कैयटप्रमाणेनो भयव्याख्यानस्य सम्मतत्वादित्यलं विस्तरेण।

अथ कथम्—'उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा' विति ननु गत्यर्थक–'अय' धातोरनुदात्ताकारघटितत्वेन तस्यचेत्त्वेन 'अनुदात्तङित आत्मनेपदमि' त्यनेनात्मने-पदस्यानुशासितत्वादयत इति विग्रहे लटः स्थाने शानचि कृते'ऽयमान'इत्येव भाव्यन्नत्वयन्निति, तथा च 'उदयति विततोर्ध्वरश्मिरज्जा' वित्यादि माघीय पद्ये 'उदयती' त्यस्य स्थान उदयमान इति भाव्यमिति चेन्न। 'इट् किटकटी गता'-वित्यत्र प्रश्लेषद्वारा लब्धस्य 'इ' धातोः प्रयोगस्वीकारेण सर्वेष्टसिद्धेः। प्रश्लेषास्वीकारपक्षेऽपि 'चन्दिङ्' धातौ ङित्करणेनैवात्मनेपदत्वे सिद्धे पुनः कृते-नानुदात्तेनेकारेण ज्ञापितयाऽ'नुदात्तेत्त्वलक्षणमात्मनेपदमनित्य'मिति परिभाषयाऽ-त्मनेपदस्यानित्यतया प्रकृतायधातोरपि' शतृसम्भवात्। नच 'चन्दिङ्' धातौ-इकारो नाऽनुदात्त इति वाच्यम्। आख्यानमित्यत्र 'अनुदात्तेतश्च हलादेः'–इति युच् न स्यादतश्चश्चिङ् धातौ-इकारोऽनुदात्तसंज्ञकोऽस्त्येवेति स्वीकारात्। न च ङकाराभावे 'इदितो नुम् धातो' रिति नुम्स्यात्कृते त्वन्त्येकारस्यानित्त्वेन नुम् न भवतीतिवाच्यम्। इकारस्य स्थानेऽकारघटितपाठेनाऽपि नुमभावस्य सिद्धेरित्यलं तर्कवितर्कप्रपञ्चेनेति दिक्।

कथं तर्हि 'कमलवनोद्घाटनं कुर्वतेय' इति—ननु घटादिगणे येऽन्य विकरणा, अनूद्यन्ते तेषां तत्तत्प्रयुक्ता एव विकरणाः। येतु भ्वादिस्था

एवानूद्यन्ते स्वतन्त्रा वा पठ्यन्ते तेभ्यः शवेव। तेषु च येऽन्यत्राऽधीता इह पठ्यन्ते तेषामर्थनियमः। येत्विहैव पठ्यन्ते तेषामुपसर्गादिनाऽर्थान्तरपरत्वेऽपि मित्त्वमस्त्यैव। मित्त्वफलञ्च घटयतीत्यादौ ह्रस्वत्वं ('मितां ह्रस्वः')। 'घाटं, घाटं, घटं, घटं,' शामिता, शमितेत्यादौ वै. दीर्घत्वञ्च सर्वस्वीकृतमस्ति। एवं स्थिते 'कमलवनोद्घाटनं कुर्वते ये' 'प्रविघाटयिता समुत्पतन् हरिदश्वः कमलाकरानिव' इति (भारविः) पद्यान्तर्गतयोः 'उद्घाटनं,' 'प्रविघाटयिता' इति पदयोः कथमुपपत्तिरिति चेन्न। चौरादिकस्यामितो 'घट संघात' इति धातो रुक्तरूपाभ्युपगमेनोपपत्तेः। न च भ्वादिस्थस्यैवोक्तधातोरत्रार्थान्तरे मित्त्वार्थमनुवादाद्दोषस्तदवस्थ एवेति वाच्यम्। अहेतौ स्वार्थे णिचि ज्ञपादिपञ्चातिरिक्ताश्चुरादयो मितो नेत्यर्थकेन 'नाऽन्ये मितोऽहेता'विति निषेधात् अनुवादसामर्थ्येन मित्त्वबाधकल्पनापेक्षया स्वतन्त्रकल्पनस्यैव न्याय्यत्वात्। न च चुरादिपठितस्यैव घटधातोर्मित्त्वार्थमिहानुवाद इति वाच्यम्। तथासतितत्रैव 'घटिषिति' पठितुं युक्तत्वात्। 'ण्यासश्रन्थो'ति युचा-एत्र प्राप्त्या षित्वे फले विशेषाभावाच्चेति दिक्

'कथं विज्ञापना भर्तृषु सिद्धिमेति'—

ननु 'ज्ञा' धातोर्घटाद्यन्तर्गतत्वेन णिजन्तज्ञपयतेर्ल्युटि निष्पन्नेविज्ञापना' शब्दे ह्रस्व (ज्ञ) श्रवणमावश्यकमितिचेन्न। धातुपाठनिर्दिष्ट 'मारणतोषणनिशामनेषु 'ज्ञा' धातोरर्थबोधकशब्देष्वन्यतमस्य 'निशामन' शब्दस्यार्थमीमांसावसरे माधवाचार्यैश्चाक्षुषज्ञानस्यैव निशामनार्थस्वीकारेण, तन्मते चाक्षुषज्ञानार्थकस्यैव ज्ञाधातोर्मित्व स्वीकारेणोक्तस्थले 'तज्ज्ञापयत्याचार्य इत्यादौ च ज्ञाधातोश्चाक्षुषज्ञानेतर (बोधन) ज्ञानार्थकत्वेनामित्त्वाध्रस्वस्याप्राप्ते 'विज्ञापने' त्यादिशब्दानां साधुत्वे विप्रतिपत्तेरभावात्। न च 'निशामनं ज्ञापनमात्रमिति 'श्लाघ्ह्नुङ्स्थाशपां ज्ञीप्स्यमान'इति सूत्रस्थ'ज्ञीप्स्यमान' शब्दार्थ निर्देश 'बोधयितुमभिप्रेत' इति वृत्तिग्रन्थं व्याख्यानेन लापयतां मते प्रकृते ह्रस्वस्य सम्भवेन दोषस्तदवस्थ एवेति वाच्यम्। 'धातूनामनेकार्थत्व' मिति सिद्धान्तमनुसृत्य नियोगार्थकस्य चौरादिकस्य ज्ञाधातोर्बोधनादिष्वर्थेषु प्रयोगस्वीकारेणोक्तस्थलीय प्रयोगाणां साधुत्वस्वीकारेऽनुपपत्तेरभावात्। 'निशामनेषु'-इत्यस्य स्थाने निशानेष्विति पठतां हरदत्तादीनां मते सर्वथाऽनुपपत्तेरभादित्यलं विस्तरेण।

'पर्यवसितं नियमयन्निति'... ननु घटाद्यन्तर्गत 'यच्छति भोजनतोऽन्यत्र-मिन्नस्या' दित्यर्थकेन'यमोऽपरिवेषण' इति सूत्रेण 'यम' धातोर्मित्त्वस्य भोजनातिरिक्तेऽर्थे शास्त्रासम्मत्वात् 'पर्यवसितं नियमय' न्नित्यादौ भोजनातिरिक्त-(नियन्त्रण) अर्थक 'यम्' धातुनिष्पन्न 'नियमन' प्रयोगे मित्त्वप्रयुक्तोह्रस्वोऽसाधुरेवेति चेन्न। नियमवच्छब्दात् (मतुबन्तात्) 'तत्करोति तदाचष्ट' इति णिचि 'विन्मतोर्लुक्' इति लुकि. शतरि, शप्प्रत्यये, गुणे च सिद्धस्य रूपस्य स्वीकारात्। 'नकम्यमि-चमा' मित्यतो नञमुत्तरत्रिसूत्र्यामनुवर्त्त्य 'शमोः-अदर्शन' इति छेदं ('शमो दर्शन' इत्यस्य) स्वीकृत्य, अपरिवेषणेऽर्थे यम् धातोर्मित्त्वं स्वीकुर्वतां स्वामिनां मतेतु 'नियमयन्नादिपदानामुक्तार्थे साधुत्वस्य निरापदत्वात्। स्वामिमते च 'स्खदिरवपरिभ्यां चे'ति सूत्रम् 'उपसृष्टस्य स्खदेश्चेदवादिपूर्वस्यैवेति नियमार्थं, तेन च सूत्रद्वयोदाहरणप्रत्युदाहरणयोर्विपर्यासः (परिवर्त्तनम्) स्यात्। एतञ्च मतं वृत्तिन्यासादिविरोधादुपेक्ष्यमिति संक्षेपः।

'इह उतोवृद्धिर्न'—ननु मिश्रणामिश्रणार्थक 'यु' धातोर्निष्पन्ने 'युयात्' (विधिलिङ् प्र. पु. १ वचन) इत्यत्र लिङ्स्थानिकादेशस्य तिपः पित्वात्तस्यच 'यदागमास्तद्गुणीभूतास्तद्ग्रहणेन गृह्यन्त' इति परिभाषया यासुड्विशिष्टे सत्वात्, तस्मिन् 'उतोवृद्धिर्लुकि हलि' इत्यनेन वृद्धिर्दुर्वारेति चेन्न। 'सार्वधातुकमपि'-दित्यस्यावृत्त्या लब्धस्य 'पिच्च ङिन्न, ङिच्च पिन्ने'ति भाष्यसम्मतसिद्धान्तस्य जागरूकतयाऽत्र तिप्प्रयुक्त पित्त्वस्यासंभवात्। नच पूर्ववाक्येन ('पिच्च ङिन्न') ङित्त्वमपि दुर्लभमिति वाच्यम्। विशेषविहितेन ङित्त्वेन पित्त्वस्य बाधादितिदिक्।

'नुशब्दस्यद्वित्वम्। णत्वस्यासिद्धत्वात्—ननु 'ऊर्णोतेर्लिटि णुशब्दस्य द्वित्वे उत्तरखण्डे णकारश्रवणं दुर्वारमिति चेन्न। औपदेशिकनकारस्थानिक-णकारस्य ('रषाभ्यामिति विहितस्य) द्वित्वदृष्ट्याऽसिद्धत्वेन नु शब्दस्यैव द्वित्व-भागित्वादुत्तरखण्डे नकारश्रवणेऽनुपपत्तेरभावात्, पूर्वणकारव्यवधानेनोत्तर-खण्डेणत्वस्य दुर्लभत्वात्। न च 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचन' इति परिभाषया णत्वस्यासिद्धत्वाऽभावबोधनाण्णकारस्यैव द्वित्वेनोत्तरखण्डे तच्छ्रवणं दुर्वार-मिति वाच्यम्।

'प्राणिणत्' दित्यादौ—'अनितेः' इति णत्वे कृते 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचन'

इति णत्वस्यासिद्धत्वाभावमाश्रित्य 'णि' इत्यस्य द्वित्वादेव खण्डद्वये णकारश्रवण सिद्धावपि कृतेन 'उभौसाभ्यासस्य' इत्युभयत्रणत्वविधायकशास्त्रेण 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचन' इत्यस्यानित्यत्वज्ञापनादित्यलं विस्तरभिया

'उभयत आश्रयणे नान्तादिवत्'''ननु 'एतेर्लिङि' इत्यनेनोपसर्गात्परस्येणोऽणो ह्रस्वविधानात्–अन्तादिवद्भावेन अभीयादित्यत्र ह्रस्वो दुर्वार इति चेन्न । यथाद्वयोरेकः प्रेष्यस्ताभ्यां युगपद्भिन्नदेशकार्ये प्रेरितोऽविरोधार्थी न कस्याऽपि कार्यं करोति, तद्वत्-पूर्वपरशब्दाभ्यामन्तादिशब्दाभ्याञ्च विरोधस्य स्फुटत्वाद्विरुद्धातिदेशस्य 'अन्तादिवच्चे' त्यनेन युगपदसम्भवात् । नच स्थानिवद्भावेनोपसर्गत्वं धात्वण्त्वञ्चाश्रित्य ह्रस्वोदुरुद्धर इति वाच्यम् । आनुमानिक स्थान्यादेशभावे विशिष्टस्यस्थानित्वेऽपि प्रत्येकं तयोः स्थानित्वे मानाभावात्, वर्णयोरेव श्रौतस्थान्यादेशावधानाच्च–(अभि घटक इकारे-उपसर्गत्वाभावात्) प्रकृतप्रयोगे स्थानिवद्भावमूलकह्रस्वाप्राप्तेः । न च भान्तस्य-'एकदेशविकृत०' न्यायेनोपसर्गत्वात् परादिवद्भावनेकारस्येण्त्वात्–ह्रस्वापत्तिः स्थिरैवेति वाच्यम् । परिच्छिन्नपरिमाणार्थवाचक द्व्यादि द्रोणादिशब्दानां न्यूनाधिकयोरप्रवृत्तिवत्, सर्वाद्युपादानेन क्रियमाणसंज्ञायाः शास्त्रव्यापारं विना न्यूनाधिकयोरप्रवृत्तिवच्च, परिच्छिन्नपरिमाण-प्रादिगताया उपसर्गसंज्ञाया दीर्घविशिष्टे, भान्तेचोपसर्गसंज्ञाया अप्रवृत्तेरित्यलं प्रेक्षावताम् ।

इति पङ्क्तिचन्द्रिका

———

प्रश्नपत्रावली

१६५४

१ त्रातुषम्, जम्बूः, आनुलोमिकः, दैष्टिकः, गार्हपत्योऽग्निः, शून्यम्, ब्रह्मण्यम्, वारत्रं चर्म, पारिखेयी भूमिः, एषु पञ्चानां साधनं लिखत १०

२ द्विकंसम्, अर्धिकः, दक्षिण्यः, द्विवर्षो दारकः विधिवत्पूज्यते, यौवनम्, पारावारीणः, कौपीनं पापम्, अश्वषड्गवम्, एषु पञ्च प्रयोगाः साध्याः १०

३ एकादशम्, दैवासुरः, पूर्वो, सिध्मलः, शंयः, अत्रः, पूर्वेण ग्रामम्, पचतितराम्, मलिनः, एषु पञ्चानां साधुत्वं सविग्रहं स्पष्टं ब्रूत । १०

४ 'पङ्क्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम्' इति सूत्रोदाहरणानि स्पष्टं लिखत । १०

अथवा—चतुर्थ्यादनजादौ च लोपः पूर्वपदस्य च ।
अप्रत्यये तथैवेष्टः उवर्णाल्ल इलस्य च ॥

इतिश्लोकवार्तिकोदाहरणानि स्पष्टं लिखत ।

५ स्रजिष्ठः, कतमः, मुख्यः, अवाक्, मणिकः, मृत्स्ना, ब्रह्मीभवति, गतगतः, द्वन्द्वम्, अत्र पञ्चानां सूत्रोपन्यासपुरःसरं साधनं निर्दिशत । १०

१६५४

१ अतो येय इति सूत्रे सार्वधातुकपदानुवृत्तेः, कृ, सृ, भृ, वृ, इति सूत्रे क्रादिग्रहणस्य वा फलमभिधीयताम् । १०

२ ऐधिढ्वम्, जम्भते, पिप्ये, ऊयतुः, ऊर्णुनाव, अवेः, जजातः, एषु पञ्चानां सिद्धिप्रकारो लेख्यः ।

३ दिदीये, आस्थत्, जिघाय, वव्रष्ठ, ममङ्क्थ, सञ्चस्करतुः, विष्कभ्नोति एषु पञ्चैव प्रयोगास्साधनीयाः । १०

४ ऐयरुः, खौनीहि, व्यष्टभत्, अशिलक्षत् कन्यां देवदत्तः, शशरतुः, रुन्धः, अचीकृतत्, एषु पञ्चानां सिद्धिं लिखत।

५ दशगणा नामतो निर्देश्याः, कथञ्च तेषां तत्तन्नामेति प्रदर्श्य औननत्, अपीपटत्, कंसमजोघतत्, एषु द्वयोस्सिद्धिप्रकारस्साधु लेख्यः। १०

१९५५

१ निष्टयः, कान्यकुब्जः, दाक्षिनगरीयम्, हैमनम्, आमावास्यः, ग्रैवेयम्, आक्षोदाः, एषु चतुर्णां प्रयोगाणां सविग्रहं साधुत्वं विलिख्य निवासाभिजनयोस्तारतम्यं विस्पष्टं लिखत। १०

२ ऐन्द्रायुधम्, मुद्गाः वीवधिकी, वैशस्त्रम्, सांस्थानिकः, ह्यः पौरुषेयः, वारत्रम्—एषां पञ्चसु प्रत्ययतदर्थनिर्देशपुरःसरं लिखत। १०

३ त्रिंशत्कः, लौकिकः, सप्तदशः, षाण्मास्यः, सान्तापिकः, शुक्लिमा, सर्वचर्मीणः, अध्वनीनः, पञ्चमः, छान्दसः—एषु पञ्चानां सिद्धिं कुरु। १०

४ मतुबादिप्रत्ययाः केषु केषु अर्थेषु भवन्तीति प्रदर्श्य तेषामेकैकमुदाहरणं प्रदर्शयत। १०

५ वृक्षकः, आङ्गुलिकः, लोहितकः, मृत्स्ना—एषु प्रयोगेषु प्रत्ययैः कश्चिदर्थविशेषो गम्यते न वा ? गम्यते चेत् कतमोऽर्थः कुत्रेति प्रतिपाद्य तेषां स्वार्थिकत्वं समर्थयत। १०

१९५५

१ बभूव, एधाञ्चक्रे ददे, जजम्भ, शिश्वाय, एते साधनीयाः। १०

२ भवतात्, अचीकमत, धिनु, अघृक्षत, जुगुप्सते, इमानि साधनीयानि। १०

३ यासु परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्चेतिसूत्रे ङित्ग्रहणप्रयोजनं लिखत। १०

अथवा—कृसृभृवृस्तुद्रुस्रुश्रुवो लिटि इति सूत्रं सम्यग्व्याख्याय क्रादिनियमाकारं फलञ्च सविस्तरमुपपाद्यताम्।

४ माभवानतीत्, प्रनर्दति, अप्यायि, उवोढ, जहि, एते साधनीयाः। १०

अथवा—भवेयुः, और्णावीत्, अजागरुः, नेनिजानि, इमान् प्रयोगान् संसाध्य, 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' इति व्याख्यायताम्।

५ विदाङ्कुरु, ऊर्णुनाव, सुसुष्वाप, जजतः, इमानि रूपाणि संसाध्य, 'ओहाक्' धातोः लोटि मध्यमपुरुषे रूपाणि लिखत। १०

१९५६

१ शेषार्थाः के? कथञ्च तेषां शैषिकत्वमिति प्रदर्श्य शेषे इति लक्षणञ्चाधिकारश्चेत्यस्याभिप्रायः प्रदर्शनीयः। १०

अथवा—राङ्कवकः, श्रविष्ठः, शांशपः, वैदूर्यः, अङ्गाः, शौवस्तिकम्, वैदिकी, पैलुवहकः, अग्रिमम्, एषु पञ्चानां सिद्धिप्रकारो लेख्यः।

२ व्रीहयः, जम्बु, व्याडिः, कृत्रिमम्, वार्धुषिकः, वैमाजित्रम्, सर्वजनीनः, शतिकम्, खारीकम्—एषु चतुर्णां सिद्धिं लिख। १०

३ शतिकः, अष्टकम्, वारिपथिकम्, आर्हन्ती, स्थाविरम्, समांसमीना, वटकिनी, इन्द्रियम्—एषु चतुर्णां सिद्धिः कार्या। १०

४ वाचाटः, भूयान्, सत्या, आनुमादिकः, कृष्णीकरोति, अग्नीभवति, वीजाकरोति, राजसात् सम्पद्यते—एषु पञ्चानां सिद्धिं लिख। १०

५ एकैकमक्षरम्, एकैकयाहुत्या, गतगतः अन्योन्यं विप्रा नमन्ति—एषां सिद्धिप्रकारो लेख्यः। १०

अथवा—द्वन्द्वं रहस्येतिसूत्रस्योदाहरणप्रदर्शनपूर्वकमर्थो लेख्यः।

१९५६

१ भविता, एधिताहे, गोपायाञ्चकार, पिप्ये, आरिथ—एते साधनीयाः। १०

२ अभूत्, वत्स्यति, अपयति, सस्वरिव, अहृत्—इमानि साधनीयानि। १०

३ लेट्लकारं विहाय सर्वेषां लकाराणामर्थाः प्रतिपादनीयाः। १०

अथवा—'सन्वल्लघुनि चङ्परेऽनग्लोपे' इति सूत्रं व्याख्याय संज्ञायाः कार्यकालत्वादित्याद्यः पंचकारिकाः सम्यग् व्याख्येयाः।

४ एधेरन्, त्रेपिरे, धेयात्, ईजतुः—इमानि रूपाणि संसाध्य एधधातोर्लुङि-मध्यमपुरुषबहुवचने कथं कति च रूपाणीति प्रतिपादनीयम्। १०

अथवा—परिषस्वजे, सिषेद्ध, अयिषीढ्वम् इमानि रूपाणि संसाध्य, श्तिमाशपानुबन्धेनेत्यादि कारिका सम्यग् व्याख्येया।

५. अघसत्, चख्यौ, अजागरीत्, पिपूर्यात् बन्धः, इमे साधूपपादनीयाः। १०

१९५७

१ ओर्देशेठञ् इत्यत्र काश्यादिभ्यष्ठञ्ञिठाविति ठञोऽनुवृत्त्यैव सिद्धे तद्ग्रहणस्य शाकजम्बुक इत्यत्र ओर्देशे ठञ् इति ठञः सिद्धौ वृद्धात्प्राचामिति सूत्रस्य च सार्थक्यं विलिख्य ऋतुयञ्भ्यश्च इति सूत्रस्थसमानार्थकऋतुयञयोरुभयोः शब्दयोरुपादानस्य बहुवचनग्रहणस्य च साफल्यं व्याहृत्य च तत्फलं स्फुटं भणत । १०

अथवा—पैतामहकः । किरातार्जुनीयम् । हृद्गोलीयाः । पायसिकः । कालापाः । वारुडकम् । काकोलूकिकाः । नाव्यम् । त्रैजवापीयम् । एषु आथर्वणाः । यथेच्छं पञ्चैव साधु संसाधयत ।

२ आश्मनः । मल्लिका । वीवधिकः । मैनिकः । धानुष्कः । सांस्थानिकः । जन्या । सांयुगीनः । विश्वजनीयम् । वासनम् । एषु पञ्चैव लिखत । १०

३ पान्था । यौगिकः । प्रथिमा । राज्यम् । सर्वाङ्गीणः । निबिरीसम् । विंशम् । तुरीयः । अंशकः । अभीकः । एषु पञ्चानां सिद्धिं रचयत । १०

४ विषुणः । अजगवम् । ज्योत्स्ना । मरुतः । बंहिष्ठः । षडिकः । एषु चतुरः प्रयोगान् संसाध्य काकतालीय इत्यत्र प्रत्ययार्थसमासार्थौ व्याहरत । १०

५ ईश्वराधीनः । औपयिकः । इत्युदाहरणद्वयसिद्धिप्रकारं प्रदर्श्य परस्परमित्यत्र टापः प्रवृत्तिः तदभावश्च कथमिति विविच्य च यथायथं ज्ञाता, प्रियप्रियेण ददाति इति प्रयोगद्वयस्य सिद्धिं शास्त्रनिर्देशपुरःसरं सम्पादयत । १०

१९५७

१ बभूव, एधांचकृषे, अच्युतत्, अवैषीत्, भ्रियात्—एते साधनीयाः । १०

२ अन्तर्भवाणि, एधस्व, पेठतुः, अक्रमीत्, अभृत, इमानि साधनीयानि । १०

३ यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्चेति सूत्रं व्याख्याय ङिद्ग्रहणप्रयोजनं लिख । १०

अथवा—अजन्तोऽकारवान्वा, यस्तास्यनिट् थलि वेडयम् ।

ऋदन्तईदङ् नित्यानिट् क्राद्यन्यो लिटि सेड् भवेत् ॥

कारिकामिमां व्याख्याय क्रादिनियमाकारो विलेखनीयः ।

४ धिनु, अक्ष्णोति, तरीता, इमानि रूपाणि संसाध्य 'मारणतोषणनिशामनेषु ज्ञा' इति गणसूत्रं सम्यग्व्याख्येयम् । १०

अथवा—अस्तावीत्, अगमत्, अदर्शत्—इमानि रूपाणि संसाध्य नेर्गदनदेति सूत्रं पाघ्राध्मेतिसूत्रं च मूलोक्तं संपूर्णं सुस्पष्टं लेखनीयम्।

५ जक्षतुः, ईडिषे, आत्य, विभितः, नेनेक्ति इमे प्रयोगाः साधूपपादनीयाः। १०

१९५८

१ 'शेषे' इति सूत्रस्य लक्षणत्वाधिकारत्वयोः साफल्यं प्रदर्श्य 'गोत्रादङ्कवत' 'जनपदिनां जनपदवत्सर्वं जनपदेन समानशब्दानां बहुवचने' 'क्रीतवत् परिमाणात्' एषु द्वे सूत्रे सोदाहरणं व्याख्येये। १०

अथवा—आरातीयः। मामकीनः। श्रविष्ठः। आधिदैविकम्। पित्र्यम्। आलम्बिनः। आग्नीध्रः। दैवासुरम्। काठकम्। कौपिञ्जलः। एषु यथेच्छं पञ्चैव साधु संसाधयत।

२ कापित्थम्। कांस्यम्। स्वगणिकी। कृत्रिमम्। दशैकादशिकी। वैभाजित्रम्। सतीर्थ्यः। आचार्यभोगीनः। शङ्कव्यम्। प्रासादीयम्। एषु सूत्रनिर्देशपुरस्सरं पञ्चैव प्रयोगाः साधनीयाः। १०

३ प्रतिकः। पैत्तिकम्। यज्ञियो देशः। आग्निष्टोमिकी। आकालिकः। चातुर्वैद्यः। आधिराज्यम्। साहाय्यम्। सर्वाङ्गीणः। हैयङ्गवीनम्। एषु यथेच्छं पञ्चानां सिद्धिं रचयत। १०

४ चिक्किनम्। कियान्। तृतीयः। वटकिनी। वातूलः। अर्णवः। आमयावी। धान्यार्थी। उभयद्युः। एषु पञ्च साधु साधनीयाः। १०

५ दोग्धीयसी। द्विमोदकिकाम्। नूत्नम्। दिवाभूता रात्रिः। पटपटाकरोति। एषु त्रीन् प्रयोगान् संसाध्य, 'एकं बहुव्रीहिवत्' सूत्रमिदं सम्यग् व्याख्याय च 'एकैकस्मै देहि' इत्यत्र 'न बहुव्रीहौ' इति सर्वनामसंज्ञा निषेधः कस्मान्नेति साधु लिखत। १०

१९५८

१ भविता, एधेरन्, ऊर्दाञ्चक्रे, निषिषेध, त्रेपे। एते प्रयोगा विशेषः सूत्राणि प्रदर्श्य साधनीयाः। १०

२ अभूत, ऐधिध्वम्, तिप्सीष्ट, पिप्ये, फेणतुः। इमानि रूपाणि विशेष-कार्यप्रदर्शनपूर्वकं साधयत। १०

३ 'सन्ल्लघुनिचङ्परेऽन ग्लोपे' इति सूत्रं व्याख्याय, संज्ञाया कार्यकालत्वादित्यादि कारिकाः सविस्तरं व्याख्येयाः । १०

अथवा-- एकाच उपदेशेऽनुदात्तात्' इति सूत्रं पदकृत्यप्रदर्शनपूर्वकं व्याख्याय श्तिपा शपाऽनुबन्धेनेति कारिका सप्रमाणं व्याख्यायताम् ।

४ ओषाञ्चकार, क्लप्तासि, निषसाद, तरति, ऊषतुः । इमानि रूपाणि सूत्रनिर्देशपुरःसरं साध्यानि । १०

अथवा—उवोष, काम्यति, वर्त्स्यति, अदधत्, अह्वत् । इमे प्रयोगाः साधूपपादनीयाः ।

५ जहि, ऊर्णुनाव, विदाङ्करोतु, पप्रतु, नेनिजानि, इमानि रूपाणि सविस्तरं साधनीयानि । १०

१९५९

१ 'ऋतुयज्ञेभ्यश्च' 'ञितश्च तत्प्रत्ययात्' 'कर्माध्ययने वृत्तम्' तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ' 'तद्धरति वहत्यावहति भाराद्वंशादिभ्यः'-एषु चत्वारि सूत्राणि सोदाहरणं व्याख्येयानि । १०

अथवा—पूर्वैषुकामशमः । मुखतोयम् । पूर्ववार्षिकः । फल्गुनी । शौवस्तिकम् । आयसम् । किरातार्जुनीयम् । तैत्तिरीयाः । सांवहित्रम् । छान्दोग्यम् । एषु यथेच्छं पञ्चैव साधु संसाधयत ।

२ वैल्वम् । जम्बूः । पाकिमम् । आक्रन्दिकः । चौरी । एषु त्रयाणां सिद्धि विधाय । आकर्षात् पर्पादेर्भस्त्रादिभ्यः-कुसीदसूत्राच्च । आवसथात् किसरादेः षितः षडेते ठगधिकारे । श्लोकोऽयं सोदाहरणं व्याख्येयः । १०

३ आतिथेयम् । औपधेयम् । द्विशौपिकम् । खारीकम् । द्व्याचिता । द्विमास्यः । याथाकथाचम् । ऐकागारिकः । प्रथिमा । औज्ञम् । एषु यथेच्छं पञ्चानां सिद्धिं रचयत । १०

४ अध्वनीनः । अवटीटम् । तुर्यः । विद्रुष्मान् । विषुणः । वाचालः । अहंयुः । इत्थम् । आढ्यचरः । वर्षिष्ठः । एषु पञ्च साधु साधनीयाः । १०

५ षडिकः । देवपथः । चञ्चत्कः । गार्गीभवति । सुखाकरोति । एषु त्रयाणां सिद्धिं विधाय—

दलद्वये यवभावः क्लीवे चाद्ह्रूविरहः स्वमोः।
समासे सोरलुक्चेति सिद्धं बाहुलकात् त्रयम्॥
सोदाहरणं व्याख्येया फक्किकेयम्। १०

१९५९

१ भवतात्, एधाञ्चक्रे, ऐधिढम्, ऊखतुः, विवयिथ, अगोपायीत्, अचीकमत। एषु पञ्च प्रयोगाः शङ्कासमाधानप्रदर्शनपूर्वकं साधनीयाः १५

२ जिगाय, अद्युतत्, चक्लृपे, एतान् संसाध्य कथं तर्हि प्रज्वालयति। कथं संक्रामयतीति सन्देहद्वयं सम्यगुपवर्ण्य समाधानप्रकारौ लेक्यौ। १०

३ अगूढ, जुगुप्सते, शुशुवतुः, ऊवतुः, ऋतीयाञ्चक्रे—एते साधनीयाः। १०

४ आदत्, चकृशौ, और्णावीत् अध्यगीष्ट। एतान् साधयित्वा ख्याधातोः सार्वधातुकमात्रविषयत्वे प्रमाणमुपन्यसनीयम्। १०

अथवा—ऋतेरीयङ् सूत्रनिदिष्टधातोः अजन्तत्वं हलन्तत्वं वेति विविच्य अद्विषन्, ईडिषे, विदाङ्कुरु, मृड्ढि। एते साधनीयाः।

५ बिभितः, जहाहि, प्रयोगद्वयं संसाध्य छान्यस्य ऋधातोर्भाषाविषयत्वं समर्थ्यताम्। ५

१९६०

सर्वे प्रश्ना समानाङ्काः।

१ 'ओर्देशे ठञ्' 'असमासे निष्कादिभ्यः' संख्यायाः संवत्सरसंख्यस्य च' एषु सूत्रेषु रेखाङ्कितपदानां साफल्यं ग्रन्थोक्तदिशा प्रदर्श्य 'आचत्वात्' अवक्षेपणे कन् अनयोरेकस्य प्रयोजनं ग्रन्थोक्तं लिखत। १०

अथवा

औपरिष्टः, पार्श्वतीयः, त्वदीय, सुपाञ्चलकः, पौण्ड्रनागरः, आनैपुणम्, हृद्गोलीयाः, कालापः दैवासुरम्, वैजवापीयः एषु पञ्च साधयत। १०

२ आम्रमयम्, हरीतक्यः, प्रातिविकः वैभाजित्रम्, ऐकान्यिकः, सोदर्यः, अङ्गारीयाणि, द्विकार्षापणम्, सार्वलौकिकः, आर्त्विजीनः, ऋत्विकः, एषु पञ्च प्रयोगाः साध्याः। १०

३ महानाम्निकः, याथातथ्यम्, गर्गिकया, श्लाघते, हैयङ्गवीनम्, चिकि-

नम् , तुरीयः, आयः, शूलिकः, विद्युत्वात् , तपस्वी, ककुदावर्ती, एषु पञ्च साधयत ।

४ एतर्हि, द्वैधम् , चेपिष्टः, अश्वतरः, एषु त्रीणि संसाध्य चतुर्थादनजादौ च लोपः पूर्वपदस्य च इति कारिका सोदाहरणं व्याख्येया । १०

५ काकतालीयः, अषठ्क्षीणः, औपयिकः, दिवाभूतारात्रिः, मद्राकरोति, गतगता, एषु त्रयाणां सिद्धिं विधाय 'प्रकारे गुणवचनस्य' इति सूत्रं सोदाहरणं व्याख्यायताम् ।

१९६१

१ 'शेषे' इति सूत्रस्य लक्षणत्वाधिकारत्वयोः साफल्यं प्रदर्श्य—'पुराण-प्रोक्तेषु ब्राह्मणकल्पेषु' 'कार्मस्ताच्छील्ये' 'तदर्थं विकृतेः प्रकृतौ एषु सूत्रे सोदाहरणं व्याख्येये । १०

अथवा

पूर्वैषुकामशमः । साङ्काश्यकः । ब्राह्मणकीयः । पूर्वपाञ्चालकः । आय-सम् । भ्रातृकम् । ताक्षशिलः । शौनकिनः । कुत्सकुशिकिका । हास्ति-पदः । एषु यथेच्छं पञ्चैव प्रयोगा साधनीयाः ।

२ पैप्लम् । जम्बूः । पक्त्रिमम् । दशैकादशिकी । कर्मण्यः । पाथेयम् । औषधेयम् । द्वैपारायणिकः । ब्रह्मवर्चस्यम् । दक्षिण्यः । एषु यथेच्छ पञ्चैव साधु संसाध्यत । १०

३ औत्तरपथिकम् । द्विवार्षिको मनुष्यः । दूष्यम् । पुत्रपौत्रीणः । निविडम् । कियान् । इषेत्वकः । वटकिनी । वातूलः । कृषीवलः । एषु एथेच्छं पञ्चानाम् सिद्धिं रचयत । १०

४ तदानीम् । भिषक्पाशः । ज्यायान् । वर्षिष्ठः । रासभकः । व्या-करणकः । एषु त्रयाणां सिद्धिं विधाय—'पादशतस्य संख्यादेर्वीप्सायां वुन् लोपश्च' इति सूत्रस्थलोपग्रहणफलं, न सामिवचने' इत्यस्य ज्ञापक-त्वञ्च ग्रन्थोक्तरीत्योपवर्णयत । १०

५ लोहितध्वजाः । पितृदैवत्यन् । प्रवाहिकातः । खरटखरटाकरोति । शूला-करोति । एकैकयाहुत्या । एषु त्रयाणां सिद्धिं विधाय—

दलद्वये टाबभावः क्लीवे चादड्विरहः स्वमोः ।
समासे सोरलुक्चेति सिद्धं बाहुलकात् त्रयन् ।।
सोदाहरणं व्याख्येया फक्किकेयम् । १०

१६६१

१ भवन्ति, बभूविथ, भवेत्, प्रभवाणि, एधे, एधाञ्चकृढ्वे, एधिषीय, एषु पञ्चानां साधुत्वप्रकारः प्रदर्शनीयः । १०

२ 'युष्मद्युपपदे समानाधिकरणे स्थानिन्यपि मध्यमः' इति सूत्रस्यार्थं सम्यगुपपाद्य 'कृञ्चानुप्रयुज्यते लिटि' इत्यत्र कथं कृभ्वस्तिलाभः ? कथञ्च तदर्थप्रकृत्यर्थयोरन्वयः ? १०

३ देधे आतीत्, अवादीत्, वव्रके, आनृजे, विवयिथ, तिप्सीष्ट, गोपायाञ्चकार, कामयाञ्चक्रे, एषु पञ्चानां साधुत्वं लेख्यम् । १०

४ अप्यायि, घिनु, ओषाञ्चकार, अबुधत्, गृहति, सस्वरिव, अश्रौषीत्, बीभत्सते एषु पञ्च प्रयोगाः साधनीयाः । १०

५ दद्रष्ट, इयाज, जघास, प्रहण्मि, ईडिषे, ऊर्णुनाव, प्रणियाति, एषु पञ्चानां साधुत्वप्रकारो वर्णनीयः । १०

६ आसन्, अजागरुः, अचकाः सधि, जुहाव, विभितः, नेनेक्ति, बजायात् एषु पञ्च प्रयोगाः साधनीयाः । १०

७ 'यासुट् परस्मैपदेषूदात्तो ङिच्च' इत्यस्मिन् ङिद्ग्रहणफलं विवेचनीयम् । १०

१६६२

१ राङ्कवायणः । यौष्म कोणः । शौवस्तिकम् । पूर्ववार्षिकः । शातभिषः । आग्निष्टोमिकः ! कालापाः । सांवहित्रम् । सामिधेनी । आथर्वणः । एषु यथेच्छं पञ्च साधु साधयत । ...१०

२ आश्मनम् । हरीतक्यः । पारशवः । वैवधिकः । बाधुंषिकः । कार्मः । सतीर्थ्यः । आत्मनीनम् । पौरुषेयः । परमनैष्किकः । एषु पञ्चानां सूत्रविग्रहादिनिर्देशपूर्वकं साधुत्वं निर्दिशत । ...१०

३ प्रतिकः । द्वैशाणम् । द्व्याढकी । आर्त्विजीनः । द्विवर्षोदारकः । माहानामिकः । अकालिकः । आर्हन्ती । गार्गिकया श्लाघते । परम्परीणः । एषु यथेच्छं पञ्चानां साधुत्वं प्रतिपादयत । ...१०

४ समांसमीना । कौपीनम् । चिल्लः । तुर्यः । अभीकः । श्रोत्रियः ।

वाचालः । ततोभवान् । अधुना । ऐषमः । एषु प्रयोगेषु पञ्चानां सिद्धिं शास्त्रोक्तदिशा दर्शयत । ...१०

५ अवः । द्वैधम् । दोहोयसीधेनुः । चेयिमा । भूमा । षड्किः । काकतालीयः । द्विपदिकाम् । ऐतिह्यम् । विप्रत्राकरोति । एषु यथेच्छं पञ्च साधु व्युत्पादयत । ...१०

६ देवत्रावन्दे । बीजाकरोति । एकैकमक्षरम् । एकैकस्मै देहि । अन्योन्यं विप्रा नमन्ति । एषु त्रीन् संसाध्य पक्तिविंशतित्रिंशच्चत्वारिंशत्पञ्चाशत्षष्टिसप्तत्यशीतिनवतिशतम् । इति सूत्रं आसन्दीवदष्ठीवच्चक्रीवत्कक्षीवद् द्रुमण्वच्चर्मण्वती इति सूत्रं वा सोदाहरणं साधु व्याख्यायताम् । १०

७ (क) भूमनिन्दाप्रशंसासु नित्ययोगेऽतिशायने ।
संसर्गेऽस्ति विवक्षायां भवन्ति मतुबादयः ॥

(ख) चतुर्थ्यादनजादौ च लोपः पूर्वपदस्य च ।
अप्रत्यये तथैवेष्ट उवर्णाल्ल इलस्य च ॥

अनयोरन्यतरा कारिका सोदाहरणा व्याख्येया । ... ५

(ग) कं-शं-केश-तुन्द-हृदय-सिकता-शब्दाना तद्धिते ।
प्रथमैकवचने रूपाणि लिखत । तेषां साधनमनपेक्षितम् ॥ ... ५

१९६२

१ भवामि, भविता, अभवत्, अभूत, एधसे, एधिताहे, एधेय, ऐधिषि, सेहे, अच्युतत्, एषु पञ्चानां सूत्रविशेषप्रदर्शनपुरस्सरं साधनप्रकारः प्रदर्शनीयः । ...१०

२ निषेधति, अवादीत्, चेके, ऋ[illegible]ञ्चक्रे, विवाय, अवैषीत्, अकटीत्, अस्फुटत्, तितिपिषे, जम्भते, एषु पञ्च प्रयोगाः सुस्पष्टं साधनीयाः । ...१०

३ पेणे चक्रमे, आचामति, पिप्ये, अहयीत्, माभवानश्रीत्, इन्वाञ्चकार, धिन्मः, जगाढ्वे, घत्स्यति, एषु पञ्चानां साधुत्वं लेख्यम् । ...१०

४ अपचहीत्, अमिदत्, अनुष्यदन्ते. अक्रथि, आमयति, फेणतुः, भमतुः, परिसोढा, अगूढ, धेयात्, एषु पञ्चानां साधुत्वप्रकारः सुस्पष्टं लेखनीयः । १०

५ सस्रंसिव, असौषीत्, अगास्त, अहृत, जघनिथ, चख्यौ, आत्थ, विदाङ्कुरुतात्, जुहुति, बिभर्ति. एषु पञ्चानां साधनप्रकारः साधु प्रदर्शनीयः । १०

६ "अस्तिसिचोऽपृक्ते" अस्य सूत्रस्य विशदं सूत्रार्थो विवेचनीयः । ...१०

७ ऊखतुरित्यत्र[illegible]प्रकारः सुविशदं विवेचनीयः । ...१०

सिद्धान्तकौमुदी प्रयोग-सूची

द्वितीयखण्डम्

(कारकादिचातुरर्थिकान्तोभागः)

मध्यमा के छात्रों से परीक्षा में कौमुदी के प्रयोग पूछे जाते हैं। छात्रवृन्द दुरूह सिद्धान्त कौमुदी को अर्थ के साथ कण्ठस्थ क में सफल नहीं हो पाते। इसी कठिनाई को दूर करने के लिये प्र सम्बन्धी सभी सूत्र वार्तिक परिभाषा और वृत्तियों को संक्षेप प स्पष्टता के साथ सरल हिन्दी में समझा दिया गया है। अब छात्रों प्रयोग लिखना अत्यन्त सरल हो गया है। सफेद कागज बढ़िया छ मू० १) रु० ५० नया पैसा मात्र।

सोत्तर।

सिद्धान्त कौमुदी प्रश्नावली

(लेखक - रामगोविन्द शुक्ल न्यायव्याकरणाचार्य)

इस पुस्तक में सम्पूर्ण सिद्धान्त कौमुदी के सभी प्रष्टव्य स्थलों प्रश्न और उत्तर के रूप में सिद्ध किया गया है, इससे व्याकरण छात्रों की एक बहुत बड़ी समस्या हल हो गई है। परीक्षा में उत्त होने के साथ ही इस पुस्तक को पढ़नेवाले सिद्धान्त कौमुदी में पर्या व्युत्पन्नता प्राप्त कर सकेंगे। क्योंकि विद्वान् लेखकने कोई स्थल छ नहीं है। सरल और सुबोध भाषा में उत्तम छपाई के साथ दो तैयार हैं जिनमें १९६० तक के प्रश्नपत्र भी दे दिये गये हैं। मूल्य प्र भाग १-२०, द्वितीय भाग १-५० रु०। शेष भाग शीघ्र छप रहे हैं।